मिथक और भाषा

प्रधान संपादक
प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
अध्यक्ष :
हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
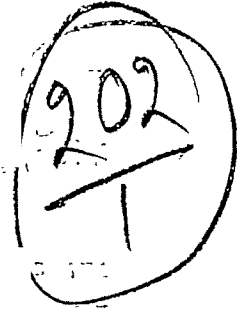
संपादक
डा० शंभुनाथ

हिंदी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

अध्यक्ष, संपादन मंडल
प्रो० दीप्ति भूषण दत्त
उपकुलपति (एकेडेमिक)
कलकत्ता विश्वविद्यालय

सचिव, संपादन मंडल
डा० सुभाष बनर्जी
सेक्रेटरी, यू० सी० ए० सी०

प्रकाशक :
दिलीप कुमार मुखर्जी
आशुतोष बिल्डिंग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता - ७०००७३

मुद्रक :
दुर्गेश प्रिंटर्स
३४/१ नन्दलाल मित्रा लेन,
सलकिया, हावड़ा-६

आवरण : मदन सरकार

मुख्य वितरक :
हिन्दी पुस्तक एजेंसी
२०३, महात्मा गांधी रोड,
कलकत्ता-७

प्रकाशन काल : १९८१
मूल्य : २०. ००

रघुनंदन मिश्र की स्मृति में

पुरोकथन

साहित्यिक अध्ययन के क्षेत्र में मिथक एक बिल्कुल नया विषय है। इसकी वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा भाषातात्विक आलोचना ने संस्कृति के बारे में नयी अवधारणाएँ उपस्थित की हैं और सामाजिक जीवन के अछूते पहलुओं को उजागर किया है। पिछले थोड़े-से दशकों में मिथक की समाज-वैज्ञानिक आलोचना ने साहित्यिक रूप एवं भाषा की संरचना के विश्लेषण में जो योगदान किया, उसे देख कर कहा जा सकता है कि कला और संस्कृति के संदर्भ में मिथक मनुष्य के इतिहास को जानने का एक सबल माध्यम है। मान-वीय सृजनशीलता की अनवरत प्रक्रिया को व्याख्यायित करते भारतीय मिथक सामाजिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक इतिहास तथा साहित्यिक संस्कृति—इन तीनों दृष्टियों से परखे जाने की अपेक्षा रखते हैं। साहित्य और संस्कृति के आंगिक सम्बन्धों की विकासशीलता को पहचानना इसलिए भी आवश्यक है कि इससे कला और मनुष्य के अन्तर्संम्बन्धों का ज्ञान होता है। विश्व की किसी भी संस्कृति के इतिहास में मिथक मानवीय जीवन को प्रेरणा, ऊर्जा और अवधारणात्मक स्वरूप ही प्रदान नहीं करते रहे हैं, बल्कि समग्र सामाजिक संरचना का निर्धारण करना भी इनका काम रहा है। ये मनुष्यों की सामूहिक आस्था के प्रतीक भी हैं।

भारतीय संस्कृति मिथकों का विशाल भंडार है। यह ग्रीक अथवा किसी भी माइथोलार्जी से जरा भी कम समृद्ध नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक विन्यास की दृष्टि से संसार के किसी भी मिथकशास्त्र से श्रेष्ठ है। इसकी प्रतीकात्मकता उच्च कोटि की है। हमारी जाति ने अपने जीवन में कई ऐतिहासिक चुनौतियों का सामना किया, संकटों को पार किया और एक अपूर्व समन्वयकारी स्वरूप में अपने को इतनी गहरी जड़ों के साथ स्थापित किया कि इसकी बहुआयामी संरचनात्मक एकता को परिभाषित करना एक जटिलतर कार्य बन गया है। भारतीय मिथकों का अभी तक कोई वैज्ञानिक शास्त्र नहीं बना है, न साहित्यिक संस्कृति की व्यापक दृष्टि से पहचान ही

हो पायी है। भारतीय जीवन और संस्कृति में मिथकों का स्वरूप-परिवर्त्तन होता रहता है और इनकी पुनर्रचना का प्रभाव हर काल की साहित्यिक संस्कृति पर पड़ा है। इनके माध्यम से सामाजिक-सांस्कृतिक, सामाजिकैतिहासिक, सामाजिक-राजनैतिक और सामाजिकार्थिक जीवन-यथार्थों की अभिव्यक्ति हुई है। अतः इनका गहरा विश्लेषणपरक अध्ययन आवश्यक है।

संस्कृति को मस्तिष्क के सामान्य व्यापार अथवा आदतों के रूप में परिभाषित किया गया है, साथ ही समग्र समाज के नैतिक विकास के रूप में भी। इस प्रकार इसे 'इंस्ट्रूमेंटल रियलिटी' कहा गया है, जिसका काम है अपने वातावरण में स्थान बनाते मनुष्य की जरूरतों को सन्तुष्ट करना। मालिनोवस्की का प्रसिद्ध मत है—'संस्कृति एक सामाजिक विरासत यानी व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समाज के सामूहिक व्यक्तित्व के बीच का सम्पर्क सूत्र है।' इस परिप्रेक्ष्य में समाज के सांस्कृतिक सन्दर्भों से उत्पन्न और विकसित होकर मिथक अपने आद्यरूपीय 'पैटर्न' के साथ साहित्य के दर्पण में प्रतिबिंबित होते हैं। यहां संस्कृति अपने अन्तर्द्वन्द्वों को मिथक और भाषा में व्यक्त करती है। बहुत जटिल होने पर भी, इनके विश्लेषण से ज्ञान के नये क्षितिजों का अन्वेषण होता है।

हिन्दी साहित्य और मिथक के बीच दीर्घकाल से आंगिक सम्बन्ध रहा है। बहुत प्रारम्भ से हमारी साहित्यिक संस्कृति मिथकों के जातीय स्वरूप से अनुप्राणित होती रही है। भक्तिकाल और छायावाद में इसका उत्कर्ष देखने को मिलता है। आधुनिक साहित्य का एक बड़ा हिस्सा भी मिथकों अथवा मिथकीय प्रतीकों पर आधारित है। यह कहना गलत है कि मिथक साहित्य का बाहरी और थोपा हुआ तत्त्व है अथवा साहित्य की अन्तरात्मा की बुनावट से इसका कोई वैध सम्बन्ध नहीं है। हमारे क्लासिक ग्रन्थों में मिथक की सत्ता स्वतःप्रमाणित है। सामाजिक चेतना पर आधारित आधुनिक साहित्य में मिथक अपने नये अर्थ के साथ मिलते हैं और मानवीय मूल्यों को गहराई से व्यक्त करते हैं। साहित्य में आकर मिथक धार्मिक नहीं रह जाते, बल्कि साहित्यिक हो जाते हैं और अपनी नयी वस्तु चेतना का विकास करने के आधुनिक जीवनानुभवों को व्यक्त करते हैं। वे अतीत को नहीं, वर्त्तमान को मुखर करते हैं। इसलिए उनकी आधुनिक प्रासंगिकता मानवीय जिजीविषा के नये कलात्मक रूपाकारों में दिनोंदिन उजागर हो रही है।

बहुत दिनों से इच्छा थी कि मिथक पर विदेशों में हो रहे व्यापक कार्यों के समानान्तर एक ऐसा पुस्तकाकार संकलन प्रस्तुत किया जाय, जिसमें हिन्दी में मिथकों पर विभिन्न दृष्टियों से काम करने वाले विद्वानों तथा अनुसंधान-

कर्ताओं के लेख रहें। हिन्दी विभाग की ओर से इसका दायित्व मैंने डॉ० शंभुनाथ को दिया और उन्होंने इसे परिश्रमपूर्वक निभाया। इस संकलन को देखते हुए कहा जा सकता है कि पहली बार उन हिन्दी पाठकों के एक बड़े अभाव की काफी हद तक पूर्ति हो गई, जो मिथक के बारे में जानकारी चाहते थे अथवा मिथक और भाषा के अन्तर्सम्बन्धों की पहचान करना चाहते थे। निश्चय ही यह संकलन सिर्फ एक शुरुआत है और इस विषय पर आगे भी काम करने की सम्भावनाएँ बनती हैं। 'मिथक और भाषा' की एक विशिष्ट योजना के अन्तर्गत संकल्प-२ का प्रकाशन करने के पीछे यही दृष्टि रही कि एक अंक में किसी एक ही विषय पर गंभीर अनुसंधानपरक निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हो। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक समादृत होगी और लोगों को मिथक पर नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य करेगी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग इस अंक के विद्वान लेखकों तथा अपने सहयोगियों का अत्यन्त आभारी है। इस संकलन का सम्पादन शंभुनाथ ने किया है। अपने दायित्व को सफलतापूर्वक निभाने के लिए वह सहज ही बधाई के पात्र हैं।

अध्यक्ष
हिंन्दी विभाग
कलकत्ता विश्व विद्यालय

कल्याणमल लोढ़ा

अनुक्रम

संपादक की बात

साहित्यिक आलोचना और विचार के क्षेत्र में इधर मिथक की काफी चर्चा हो रही है। जातीय संस्कृति के इतिहास और सौंदर्य-दर्शन की सामाजिकार्थिक समझ के लिए मिथक का अध्ययन जरूरी हो गया है। किन्तु मिथक का अध्ययन सिर्फ अतीत का ज्ञान नहीं है, यह वर्त्तमान का भी अन्वेषण है। कहीं-कहीं सोचा जाता है कि यह दायित्व विज्ञान का है और मिथक की संरचना का विश्लेषण आधुनिक जनता के जीवन को समझने में मददगार नहीं हो सकता, क्योंकि यह शब्द में निहित झूठ अथवा गप्प के अतिरिक्त और क्या है। यह तर्क भी दिया जाता है कि भाषा का काम जहाँ चीजों को स्पष्ट करना है, मिथक का कार्य है इन्हें धुंधलाना अथवा विरूपित करना। झूठ दो तरह का हो सकता है—एक, भाषा में निहित झूठ; दूसरा, कथ्य में निहित झूठ। मिथक भाषा में निहित झूठ का कलात्मक ढांचा है। यह एक कलारूप है। अतः इसका कार्य चीजों को अस्पष्ट करना नहीं, बल्कि उन्हें एक विशिष्ट संरचना में पुनर्प्रस्तुत करना है।

कथ्य में निहित झूठ कोरा गप्प या आत्मछल होता है, किंतु भाषा में निहित झूठ एक समूह अथवा जाति के कथ्य-संप्रेषण का कुशल माध्यम बन जाता है। इसी कारण विश्व की विविध संस्कृतियां मिथकों के ही माध्यम से अपने आत्मदर्शन को व्यक्त करती हैं। इसके साथ कथाओं या उपकल्पनाओं का निरन्तर विकास होता रहा है। विज्ञान ने जीवन के सारे प्रश्नों को हल करने का दावा कभी नहीं किया। वह ऐसा कर भी नहीं सकता। परन्तु मिथकों के माध्यम से हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के द्वन्द्वात्मक विकास को पहचानने की अपनी दृष्टि को अधिकाधिक वैज्ञानिक बना सकते हैं। इस अर्थ में विज्ञान अगर मिथकों को समझने में मदद देता है, तो मिथक भी विज्ञान का दर्शन तय करने में एक निर्णायक भूमिका निभाता है।

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाविज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, प्राच्यविद्या तथा और भी अनेक अध्ययन-शाखाओं द्वारा मिथक के विश्लेषण का जो क्रम शुरू हुआ था, वह अब इन दो दशकों में नया मोड़

ले रहा है। मिथक को किसी विशेष अध्ययन-शाखा के अनुशासन से निकाल कर उसे अन्तर्अनुशासनात्मक पद्धति से जोड़ने और अंततः उसे कला-साहित्य के रूप में देखने-समझने की ज़रूरत का अनुभव किया जा रहा है। तमाम अध्ययन शाखाएँ सतह पर बरगद की शाखाओं की तरह अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं, किन्तु गहराई में वे इस पेड़ की जड़ों की तरह ही परस्पर गुँथी रहती हैं और बिना राजनीति के समाजशास्त्र को ठीक से समझना, बिना अर्थनीति के इतिहास की जानकारी ढूँढ़ना, बिना मनोविज्ञान के प्राच्यविद्या को जानना—इस तरह मनुष्य के बारे में समग्रता से विचार करना कतई असंभव हो जाता है। इससे मिथक की एक समग्र मानविकीय दृष्टि से अध्ययन की प्रासंगिकता बढ़ जाती है। हम अपने बारे में-अपने समय, संस्कृति और भाषा के बारे में-कितना कम जानते हैं, इस बात का पता तब चलता है, जब हम सभी तरफ से किसी भी एक अध्ययन की अधिक गहराई में जाते हैं।

भारतीय मिथकों का गहरा विश्लेषण अथवा भाषा और कला-साहित्य के सन्दर्भ में कोई आधुनिक काम हमारे यहाँ अभी तक नहीं हुआ, जबकि हम जानते हैं कि हमारे जीवन और साहित्य में मिथकों, आद्यबिंबों, शास्त्रोक्त विधियों इत्यादि का कितना जबर्दस्त स्थान है—इतिहास के निर्माण में इनका कितना बड़ा योग है। निश्चय ही मिथकों के बहुत-से कथ्य पुराने पड़ चुके हैं। बहुत-से आद्यबिंब हमारे मस्तिष्क से मिट गये हैं। अनेक परम्पराएँ जड़ हो चुकी हैं। फिर भी यह मानने में क्या आपत्ति है कि हमारी मानसिक और सामाजिक सम्पत्ति जितनी अतीत में थी, अब उससे काफ़ी अधिक है। इस तरह मिथक और भाषा के सर्जनात्मक विकास के वस्तुगत विश्लेषण का दायित्व भी हम पर अधिक है। आदिम समाज से औद्योगिक समाज तक की ऐतिहासिक स्थितियों के विकास को समझने में मिथक और भाषा की संरचना का अध्ययन सहायक हो सकता है, अभी कम से कम हिन्दी में इसे प्रमाणित करना शेष है। हमारी भाषा में मिथक शब्द अब बहुत नया नहीं रहा, फिर भी इससे संबन्धित बढ़िया काम अब तक प्रकाश में नहीं आया है। 'मिथक और भाषा' विभिन्न दृष्टियों से लिखे गये लेखों का एक संकलन है। इसमें मिथक, भाषा और साहित्य को विभिन्न पहलुओं से देखा गया है और पहचाना गया है कि मिथक की सीमाएँ और संभावनाएँ क्या हैं। हिन्दी जगत में संभवतः यह अपने ढंग का पहला संकलन भी है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की योजना के तहत इसके वार्षिक अनुसन्धान संकलन 'संकल्प' का प्रकाशन इस बार 'मिथक और भाषा'

के रूप में किया गया। इस योजना का समूचा श्रेय हमारे विभाग के माननीय अध्यक्ष प्रो० कल्याणमल लोढ़ा को है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अगर हिन्दी संसार को मिथक शब्द से परिचित कराया, तो इसे चिंतन का एक नया अर्थ देने और अनुसंधान जगत में लोकप्रिय बनाने का काम प्रो० कल्याण-मल लोढ़ा ने किया। विभाग के वरिष्ठ रीडर श्री विष्णुकांत शास्त्री ने इस कार्य के लिए मुझे निरंतर प्रेरित नहीं किया होता और इसके लिए आवश्यक साधन जुटाने में मदद न की होती, तो शायद इतने विलम्ब के बाद भी यह संकलन छप कर नहीं आ पाता। अपनी अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद उन्होंने हर स्तर पर इस कार्य में सहयोग दिया। मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

हिंदी विभाग के अन्य सभी प्राध्यापकों ने इस संकलन के पुस्तकाकार प्रकाशन में विविध प्रकार से प्रोत्साहन दिया, इसके लिए सबके प्रति हृदय से आभार। जिन विद्वान लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेज कर मेरे आग्रह की रक्षा की और हमारे विभाग के प्रति आत्मीय सम्मान व्यक्त किया, उन सभी के प्रति हमलोग कृतज्ञ हैं। राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार पी० वी० जानकीराम के भी हम आभारी हैं, जिनकी धातुमूर्तियों की अनुकृति की सहायता से मदन सरकार ने इस पुस्तकाकार संकलन का आवरण तैयार किया है।

बहुत सारी सीमाओं के बीच इस संकलन का प्रकाशन हुआ है। फिर भी हिंदी में अपने ढंग का यह पहला संकलन है, जिसके केन्द्र में मिथक और भाषा है। मेरी नजर में इसकी सार्थकता इसी में है कि पाठकों में इस विषय के प्रति यह कितनी अधिक रुचि विकसित कर पाता है।

हिन्दी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

शंभुनाथ

भगवतशरण उपाध्याय

मिथक

'मिथक' काव्यवस्तु का कौन-सा अंग है और कौन-सा अंग हो सकता है, प्रथमतः यह विचारणीय है। इधर शब्दों की, कुछ ऐसे शब्दों की संयोजना जो पाश्चात्य भाषाओं में आज प्रचलित हैं, संस्कृत के उपसर्गों के संयोग से जो उन्हें मूलतः संस्कृत बनाने के उपक्रम हुए हैं और हो रहे हैं, जानकारों को इस प्रक्रिया से स्वाभाविक ही वितृष्णा हुई है। यद्यपि उनमे ऐसे शब्द है जिनका निरूपण अथवा संस्कार द्वारा नयी अर्थ-शक्ति से उन्हें बीजान्वित करना न केवल अशोभन नहीं हुआ है, बल्कि उससे हिन्दी की अर्थवत्ता का विस्तार भी हुआ है—'संस्कृति', 'संस्करण' आदि इसी दिशा को प्रगट करते हैं जो हिन्दी को समृद्ध करती है।

पर निश्चय कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनको पाश्चात्य अथवा अंग्रेजी माध्यम से उठाकर हिन्दी में डालने पर उनके अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हिन्दी में प्रचलित आज 'मिथक' वस्तुतः अंग्रेजी 'मिथ' (Myth) का पर्याय अथवा स्थानापन्न माना गया है—मिथक भी उन्हीं में से एक है। 'मिथक' शब्द संस्कृत 'मिथ' से बनता है। मिथ का संस्कृत में अर्थ है 'रहसि' (जिससे रहस्य बनता है), अर्थात् एकान्त, निर्जनता। उसी एकाकी निर्जनता में अर्थात् 'मिथ' के विन्यस्त संयोग में 'मिथुन' (जोड़ा) का प्रादुर्भाव होता है। एकान्त में मिथुन के परस्परावलंबित नैकट्य में एक प्रकर का मधुर और रोमांटिक रहस्य उसे प्रभावित करता है और परिणाम होता है उस मिथुन का मैथुन। समूचा संस्कृत ललित साहित्य ससागरा पृथ्वी तक फैले भारतीय मन्दिरों का वास्तुविन्यास इसका प्रमाण है।

फिर 'मिथ' का उपयोग उचित है या नहीं ? यदि उचित नहीं है तो मिथक के स्थान पर किस लाक्षणिक शब्द का उपयोग करें ? और वह प्रयोग ऐसा होना चाहिए जो अंग्रेजी 'मिथ' के भाव-विज्ञान से वंचित भी न रहे, क्योंकि वंचित होने से वह पश्चिमी संसार की भाषाओं की महासैद्धान्तिक प्राविधिक संज्ञा की शक्ति से विरहित हो जाएगा। इसके विपरीत, यदि वह उससे संयुक्त हुई तो उसकी अर्थशक्ति अन्य भाषाओं की प्रक्रिया-शक्ति से सामर्थ्य पाकर अपने आप उन्हीं की भावभूमि को अभिव्यक्त कर उनसे एकाकार हो जायेगी। आखिर शब्द-शक्ति का आधार क्या है ? उसका प्रयोग और उत्तरोत्तर विन्यास। अतः 'मिथक' का 'मिथ' से संपर्क उस स्थिति को उत्पन्न करता है और अपनी अर्थवत्ता को शक्तिमान बनाता है। फिर यदि हम इस शब्द को ग्रहण न करें तो किस शब्द का इस अर्थ में उपयोग करें? संभवतः एक ही शब्द उस स्थिति में सामने आता है—'पुराण'। पिछले अनेक वर्षों में मैंने केवल स्वयं इसी पुराण शब्द का 'मिथक' के अर्थ में, और उसके स्थान में, उपयोग किया है। 'मिथक' 'पुराण' है भी और सम्भवतः वह अर्थ की दृष्टि से 'मिथक' से कहीं अधिक मुखर भी है। परन्तु निःसन्देह पश्चिम की 'माइथालोजी' से उसकी एकाकारिता स्थापित हो जाती है—इसी कारण 'पुराण' नहीं, 'मिथक'।

'मिथक' शब्द उस ग्रीक मूल से निकला है जिसका अर्थ अंग्रेजी में अवतरित 'माउथ' आज शेष है। बोलना और बोला जाना उसका मूल है। संस्कृत में एक कहावत है कि जो बहुत बोलता है वह बहुत झूठ भी बोलता है। यह उद्धरण यहाँ सार्थक इसलिए भी हो जाता है कि 'मिथक' अथवा 'पुराण' का अधिकांश, अनेक लोगों के मत से, झूठ अथवा मिथ्या भी है। मजे की बात तो यह है कि शब्द 'मिथ' और 'मिथ्या' में अर्थ की दृष्टि से बहुत दूर का नहीं, पर्याप्त निकट का नाता है, जो रहस्यमय है।

'मिथक' का सम्बन्ध एक ओर लोकोत्तर अथवा देवकृत्यों से है, दूसरी ओर क्रिया-अनुष्ठानों से। क्रिया-अनुष्ठान यजमान को देवताओं और देवोत्तर-लोकोत्तर कृत्यों से जोड़ता है, और जोड़ने की यह क्रिया उसके पितृवर्ग करते हैं, जिनकी अटूट परम्परा पहले मृत मानव से जोड़ती है, जो यम है। चूंकि यम विधान का विधाता दण्डधर भी है, इससे उसकी एक संज्ञा अनायास 'धर्मराज' भी हो गई है। इसी 'मिथक' का यह परिणाम हुआ कि रामायण में यज्ञाहूत हविष् से दशरथ की तीन रानियों के चार अलौकिक पुत्र हुए और महाभारत में सूर्य, धर्मराज, पवन, इन्द्र और अश्विनीकुमारों से कुन्ती और माद्री से उत्पन्न पाण्डु के नामधारी पुत्र पाण्डव। यह लिखने की आव-

ईयकर्ता नहीं कि न तो ऋषि विभांडक के पुत्र ऋष्यशृङ्ग की हविषा से अथवा गगनचारी देवताओं की राजस प्रक्रिया से पार्थिव नारी वीरप्रसूता होती है।

यम के धर्मराज होने का परिणाम यह हुआ कि अपराधों का दण्डकर्त्ता धर्म के आसन पर जा बैठा और दण्ड-विधान अथवा न्याय का आसन राजा के लिए 'धर्मासन' और 'दण्डासन' या 'कार्यासन' आदि लाक्षणिक शब्दों के माध्यम से अभिहित हुआ। राजा का देवोत्तर होना कुछ राजनीतिक सिद्धान्तवर्त्ती (सोशल कंट्राक्ट थ्योरी) दृष्टि से नहीं, बल्कि मिथक के परिणामस्वरूप सिद्ध हुआ। राजा को देवताओं का अंश माना गया, न केवल भारत में, बल्कि सर्वत्र, जहां इतिहास प्रागैतिहासिक कालों से सम्बद्ध था। भारत में तो श्रुति और स्मृतियों दोनों ने राजा को अमानुष माना और भावी राजा की माता के गर्भधारण करते समय स्मृतियों ने देवताओं को उसके गर्भ में अंशतः प्रवेश करने की घोषणा की, जिससे राजा के दैवी अधिकार का स्पष्ट आधार बन गया। मनु ने तो अपने धर्मशास्त्र में यहाँ तक घोषित किया कि राजा बालरूप होने पर भी साधारण जन से भिन्न और उनका आराध्य होता है और देवता होकर धरा पर मनुष्य रूप में विचरण करता है अर्थात् उसका रूपमात्र मानवीय है, शेष सारे उपक्रम दिव्य। यह स्थिति पश्चात् काल में न केवल ग्राह्य रही है, बल्कि राजा के प्रसंग में सदा बरती जाती रही है। बौद्ध साहित्य के मिथक अथवा पुराण में जो श्वेत गज माया के स्वप्न में उनकी कुक्षि में प्रवेश करता हुआ बताया गया है अथवा भित्ति चित्रों में चीता गया है, इसी स्थिति को सूचित करता है। वैसे यह स्थिति प्रमाण द्वारा आच्छन्न होने वाली भी नहीं है, कारण कि पुराणों, महाभारत आदि की कथाओं में प्रकटतः लिखा मिलता है कि संसार की वन्य अथवा अराजक स्थिति में जब 'मात्स्यन्याय' स्वाभाविक रूप से प्रचलित था—जिसे दार्शनिक हॉब्स ने 'वार आफ आल एगेंस्ट आल' कहा है—उसका अन्त करने के लिए जनता ब्रह्मा के पास गई और उनसे व्यवस्थापक मांगा। ब्रह्मा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर व्यवस्थापक नियुक्त किया और उसे 'राजा' कहा। पहला राजा स्वयं मनु को बनाया जिसने उस 'मत्स्यन्याय' का अंत किया, जिसमें बड़ी मछली छोटी को खाती थी और जिसकी लाठी उसकी भैंस थी। कालिदास ने उसी अराजक स्थिति को 'ऊन' (कमजोर, दुर्बल) का 'सत्व' (शक्तिमान जीव) द्वारा वध की बात कही है जिन दोनों को 'सम' रखने के लिए राजा को सामर्थ्यवान् कहा है, वह यही स्थिति है। 'राजन्' शब्द चाहे प्रकाशमान के अर्थ में भी क्यों न होता रहा हो, निःसन्देह सैद्धान्तिक

राजनीति की परिभाषा में उसे प्रजा को प्रसन्न रखनेवाला होना चाहिए—
'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'।

क्या नील नदी, दजला-फरात की घाटी अथवा ह्वांगहो की घाटी में जहाँ सर्वत्र सभ्यता का विकास हुआ है, वहाँ राजा देवी अथवा देवता राजा बना है। अर्थ यह कि 'मिथक' के परिमाण से प्रजा और देव-वर्ग दोनों के बीच राजा ही प्रतिनिधि और प्रमाण रहा है। इसी से प्रत्येक राजावर्ग ने अपने मूल को देव-प्रतीकों से मिला दिया है। वह चाहे भारत का सूर्यवंश हो या चन्द्रवंश, चीन के राजाओं का पूर्वज हो या जापान के सम्राटों का पूर्वज, सर्वत्र यही प्रक्रिया कार्य करती रही है। अनेक बार जहाँ शक्ति-विरहित मेधा से यही कार्य साधा गया है, वहाँ ऐसा पुरोहित राजा बन बैठा है, जिसने जनता में भय का संचार कर अपने को देवताओं का धरा पर प्रतिनिधि बना लिया है। ईसा से प्रायः ३००० वर्ष पूर्व, जल-प्रलय से भी पूर्व के दजला-फरात के सुमेरी राजा वस्तुतः मूलरूप से पुरोहित ही थे जिन्हें 'पतेसी' कहते थे।

इसी प्रकार प्राचीन सुमेरी सभ्यता में जिस 'जग्गुरत' नाम का विशाल और ठोस वास्तु बना था, उसके बिल्कुल ऊपर एक कमरा होता था जिस तक पहुँचने के लिए बाहरी ओर से सोपान मार्ग बना होता था। उस कमरे में एक पलंग बिछा होता था, देवप्रिया पुरोहितिन जिस पर देवता के साथ रमण करती थी और देवता का प्रतिनिधान पुरोहित करता था। घटना पीछे की है, पर सन्दर्भ समान होने के कारण यहीं उसका उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि ग्रीस में डेल्फी नगर में जो पुजारिन भविष्यवाणी करती थी उसे पिछली रात पुरोहित के साथ सोना पड़ता था, जिससे, लोगों के विश्वास के अनुसार, उसमें दैवी चमत्कार उत्पन्न हो जाता था। यह मिथक कम से कम हजार वर्ष तक ग्रीस में चलता रहा था, फिर भी यह कहना कठिन है कि उसका आरभ 'एकियाई' अथवा 'दोरियाई' आर्यों से हुआ था अथवा उनसे भी पहले के अनार्य मिनोइयो के साथ, जिनका विध्वंस आर्य ग्रीकों ने त्रोया (त्रोजन) के युद्ध में किया।

मिस्री मिथक सम्भवतः ऐतिहासिक दृष्टि से संसार का प्राचीनतम मिथक है। ईसा पूर्व ३००० वर्षों के आस-पास बननेवाले पिरामिडो मे देवी-देवताओ, विशेषकर ईसिस, ओसिरिस अथवा 'रॉ' के सम्बन्ध की गाथाएँ उनकी भीतरी दीवारों पर चित्राक्षरो में नक्श हैं। शरीर को मर जाने पर भी अंगांगो में बिना विनष्ट हुए बचा रखने के प्रयत्न पिरामिडों से कहीं अधिक पुराने थे, कारण ऐसे शव (ममी) मिस्र की सूखी रेत में बिना किसी

आश्रय के भी मिले हैं, जिनमें से कम से कम एक पत्थर के ताबूत में सुरक्षित बुढ़िया की ममी कम से कम ८००० वर्ष पुरानी है। अभी तब इतिहास का आरंभ तो क्या प्राग्-ऐतिहासक काल का भी आरंभ नहीं हुआ था। पर मिथक तब तक अपने जीवन के कितने ही मोड़ ले चुका था।

सुमेरी मिथक का सबसे महत्व का दृष्टान्त जल-प्रलय है, जो एक ऐसा संदर्भ है जो मिथक होकर भी ऐतिहासिक सत्य है जैसा सर लियोनार्ड वूली ने दजला-फरात की निचली घाटी के अपने पुरातात्विक उत्खननों द्वारा प्रकट कर दिया है। शिप्पर, ऊर, उरुक, शिपुर्ला आदि प्राचीन नगर जो जल-प्रलय से विनष्ट हो गये थे और जिनकी प्रतिध्वनि शतपथ ब्राह्मण में भी सुन पड़ती है, वह पहले इतिहास था, बाद में काल के अंतराल में खोकर मिथक बन गया। आश्चर्य की बात है कि यह मिथक अनेक सभ्यताओं को एकत्र कर उनका आदि बिन्दु तक बन गया है। वरना सोचिए, कहाँ वेद, कहाँ असुर, कहाँ यहूदी बाइबिल की पुरानी पोथी, कहाँ अक्कादी और कहाँ सुमेरी। पर इन सब की चोटियाँ एक साथ उसी मिथक में गुँथ गई हैं। जल-प्रलय की भूमि को भी नीचे खोदने पर एक अद्भुत स्थिति का पता चला कि वैदिक आलिगी-विलिगी, अरबी-फारसी आदि में प्रायः समूचे मध्य-और पश्चिम-एशिया में प्रयुक्त होनेवाले अलाय-वलाय के जनक वे दो राजा थे, पिता-पुत्र—जिनके नाम जल-प्रलय से पूर्व मिकली पिट्टका पर खुदे हैं—एलूलु-वेलूलू। यह कथा यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। सुमेरी में कीलनुमा अक्षरों में तीस ईंटों पर यह लिखी हुई है जो निनेवे के ग्रंथागार में मिल गई है और उनको दर्ज करने वाली ईंटें लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित हैं। जल-प्रलय की सबसे अंतिम कहानी यहूदियों की पुरानी पोथी (ओल्ड टेस्टामेंट) में हजरत नूह के माध्यम से कही गई है और प्रायः तभी उसका विस्तार—कुछ आश्चर्य नहीं जो और पहले—मनुस्मृति और शतपथ ब्राह्मण में हुआ है, जिसका नायक मनु है। अक्कादी महाकाव्य प्राचीन बाबुलियों का है—संसार की प्राचीनतम गाथा। उसमें जब प्रलय का सबसे पहला नायक उत-निपिश्तिम की खोज में उसका वंशज गिल्गिमेश, जो इस वीर काव्य का नायक भी है—अपने उस पुरखे का पता लगाने चलता है, जिसने वस्तुतः उस जल-प्रलय को झेला था और अपनी बनाई नाव में जीवों के जोड़ों की रक्षा की थी, तब संसार का सबसे पहला मिथक संपन्न होता है। इस जल-प्रलय के मिथक में देवता और मानव प्रायः एक ही मंच पर अवतरित होते हैं। मानवों के पाप से उद्विग्न देव-वर्ग अपनी सभा में मानव सृष्टि का अन्त कर उसे दंड देना चाहता है, पर एक दयालु

देवी वीर काव्य के नायक उत-निपिश्तिम को बड़ी चतुराई से सर्वनाश का भेद तो बता ही देती है, किस प्रकार वह अपने कुनबे और जीवों के जोड़े को बचाये, इसका राज भी वह खोल देती है और परिणामस्वरूप नायक देवताओं के वर्ग में गिन लिया जाता है। उसी को ढूँढ़ने के लिए गिलगमेश समुद्र लाँघता है और अपने पूर्वज से मिलकर जल-प्रलय की समूची कहानी सुनता है।

इसी अक्कादी वीर-काव्य 'गिलगमेश' में अनेक अद्भुत मिथकों का वर्णन हुआ है, जिनमें से यहाँ केवल तीन का हम उल्लेख करेंगे। इनमें से पहला वह है जिसके सम्बन्ध में सारी मनुष्य जाति ने इतिहास के धुंधलके में प्रयत्न किये हैं। वह है अमरबेलि की खोज। ऐसा विश्वास रहा है कि कहीं न कहीं ऐसी कोई पौध है—संजीवनी—जिसमें मरे मनुष्य को फिर से जीवित कर देने की शक्ति है और उसकी रक्षा एक सर्प किया करता है। यह निःसन्देह जीविषा की तृष्णा का ही एक रूप है। मिथकों में अक्सर उस पौध को जलचारी सर्प चुरा लेता है। यही स्थिति गिलगमेश की कहानी में है। जब वह जीवन की पौध पा लेता है तब उसके तनिक असावधान होते ही सर्प उस जीवन-संचारिणी वनस्पति को उड़ा ले जाता है और गिलगमेश तड़प कर रह जाता है। इस वीर काव्य की दूसरी कहानी एक ऐसे अद्भुत जन्तु की है जो गिलगमेश की तानाशाही समाप्त करने के लिए लाया जाता है। वह आधा मनुष्य है आधा वन्य जीव, जो जंगल में रहता है और मृगी आदि मादाओं के साथ रमण करता है। शक्ति उसमें अनन्त है और गिलगमेश डर कर तथा उसे भरमाने के लिए उसके पास एक सुन्दरी भेजता है, जो उसे अपेक्षाकृत सभ्य बनाकर और अपने प्रेम में फँसाकर गिलगमेश के पास लाती है और दोनो मित्र हो जाते हैं। फिर वह जीव जब मरता है तब गिलगमेश को बहुत दुःख होता है और एक स्थिति में उसके संज्ञा लाभ करते ही वह पूछता है—मरने के बाद शरीर की स्थिति क्या होती है? वह जीव प्रकट कर देता है कि तब तन कीड़ों का आहार बन जाता है। इस जीव के मरने के पूर्व दोनों मित्र प्रचण्ड झंझावात के दैत्य हुम्बा से लड़ने जाते हैं और वन पर वन लाँघते अनन्त की ओर चले जाते हैं। निःसन्देह गिलगमेश संसार के मिथकों का आदि भण्डार है। पर पुराविदों का विश्वास है कि साहित्य की दृष्टि से सबसे प्राचीन मिथक उस मिस्री 'सेनुहे' की कहानी है जो समुद्र में अपनी नौका के भटक जाने से एक ऐसे निर्जन द्वीप में पहुँचता है, जहाँ एक विशाल अजगर पड़ा हुआ है। सेनुहे खिंचकर उसके पेट में चला जाता है, पर अन्त में उसकी रक्षा होती है और

मिस्र लौट कर वह अपनी कहानी मिस्री राजा फराउन से कहता है।

ग्रीस का मिथक दो तलों का है। एक अपेक्षाकृत अत्यन्त प्राचीन, प्रायः २५०० ई० पूर्व का, जो पिछले मिस्री और पिछले सुमेरी काल का समवर्ती है और जिसके स्रष्टा मिस्री अथवा स्पेनी माने जाते हैं। माने क्या जाते हैं, विद्वानों के अटकल हैं, जो लगा लिये गये हैं। यह सभ्यता आर्येतर सभ्यता थी, जो ग्रीस की प्रधान भूमि के दक्षिण क्रीत नाम के द्वीप में जन्म लेकर समूचे ग्रीस और लघु-एशिया (एशिया-माइनर) के नगर त्रोय तक फैली हुई थी और जिसका विध्वंस आर्य ग्रीकों ने प्रियम के ईलियम (एशिया माइनर) के उस नगर का नाश करके किया। क्रीत की उस सभ्यता का नाम राजा मिनोस के नाम पर मिनोई भी पड़ गया है। इस 'क्रीती' अथवा 'मिनोई' सभ्यता का प्रधान केन्द्र उसकी राजधानी क्नोसस और अंतिम केन्द्र लघु - एशिया में त्रोय था। क्नोसस का विशाल राज-प्रसाद सर आर्थर ईवान्स ने खोद निकाला है। प्राचीन मिथकों में उस राज-प्रासाद को 'लेबिरिन्थ' अथवा भूल-भुलैया कहा जाता है। वस्तुतः यह नाम 'क्रीती-ग्रीक' सभ्यता के मिथक का है। चूंकि इस प्राचीन सभ्यता का अन्त नई आर्य-ग्रीक सभ्यता ने कर उसके स्थान पर अपनी प्रतिष्ठा की, दोनों सभ्यताओं के मिथक का एक में मिल जाना स्वाभाविक था। अब स्थिति यह है कि दोनों अर्थात् आर्य-ग्रीकों और आर्येतर-ग्रीकों के मिथकों को एक-दूसरे से अलग करना कठिन हो गया है। जो मिथक दोनों को जोड़ता है वह आर्य-ग्रीक राजा एगियस से सबंधित है, यद्यपि वही मिथक अपने उत्तरार्द्ध में क्नोसस के राज-प्रासाद या 'भुल-भूलैया' से संबद्ध हो जाता है। वही मिथक यूरोप के नामकरण से भी संबंधित है। मिथक का आरम्भ 'ओलिम्पस' पर्वत के देवराज 'ज़िउस' (वैदिक-द्यौस्) के कथानक से होता है। ज़िउस अत्यन्त कामुक था और लड़के-लड़कियों को अपनी काम साधना के लिए चुराना उसका स्वाभाविक कार्य था। एक दिन उसकी दृष्टि फिनीशिया के राजा अगेनोर की पुत्री कुमारी यूरोपा पर पड़ी और उसके रूप पर वह रीझ गया। वह वृषभ बनकर राजा के बगीचे में जा बैठा। यूरोपा ने जब उसके सुडौल शरीर को देखा और उसके शरीर से आकृष्ट हुई तो उसके तन पर उतरने-चढ़ने लगी। यह कुतूहल का विषय हो सकता है कि प्राचीन मिथकों में नारी पुंगव के प्रति विशेष आकृष्ट हुई है, आर्य-अनार्य दोनों मिथकों में। वेदों में इन्द्र को वृषभ कहा ही गया है। उसका मित्र 'कपि' भी 'वृषाकपि' कहलाता है, जो इन्द्राणी को बार-बार छेड़ता है और इन्द्राणी इन्द्र से उसकी कुचेष्टाओं के विरुद्ध शिकायत करती है। जब यूरोपा वृषभ रूपधारी ज़िउस

के साथ क्रीड़ा में विभोर हो गई, उसके पीठ पर बैठते ही जिउस सहसा उठा और दक्षिण-पूर्व की ओर समुद्र पार उसे ले उड़ा। यूरोपा से एक महाद्वीप यूरोप का नाम तो पड़ा ही, उससे जिउस द्वारा पुत्र मिनोस और मिनोस की रानी और एक बृषभ से मिनोतौर भी उत्पन्न हुआ, जो अर्धमानव और अर्धवृषभ तथा अत्यन्त क्रूर और कामुक था। ग्रीस की प्रधान भूमि का राजा ईगियस क्रीत के राजा मिनोस का करदाथी था। मिनोतौर की कुचेष्टाओं को रोकने के लिए राजा मिनोस ने ग्रीक के प्रसिद्ध वास्तुकार दीदेलस को बुलया जो इस प्रकार की भूल-भुलैया का निर्माण करे जिसमें वह सदा के लिए बन्द हो जाये। उस भूल-भुलैया के द्वार सब एक-से थे और उसके अन्दर गया हुआ प्राणी बाहर नहीं निकल सकता था और पहले वह बृषभ के काम का शिकार, फिर उसका आहार बनता था। ग्रीस से कर के रूप में प्रति आठवें वर्ष सात किशोर और सात किशोरियाँ क्नोसस में मिनोतौर के लिए भेजी जाती थीं। एक बार ग्रीस के राजपुत्र थीसियस ने भी अपने को सात किशोरों में गिनवा लिया और क्नोसस जा पहुँचा। वहाँ की राजकुमारी उस पर रीझ गई और उसने उसे धागे का एक गोला दिया जिसे वह राह में डालता आये और उसके सहारे लौट सके। वह राजकुमार भूल-भुलैया में प्रविष्ट हुआ, बृषभ का उसने वध कर डाला और धागे के सहारे बाहर निकल आया और इस प्रकार ग्रीस के किशोर-किशोरियों की रक्षा हुई। भूल-भुलैया के निर्माता दीदेलस और उसका पुत्र इकेरस क्रीत में प्रायः कैद हो गये थे और राजा उन्हें स्वदेश लौटने देने को तैयार न था। दीदेलस ने दो जोड़े पंख बनाये, एक जोड़ा उसने इकेरस को दिया और दूसरा एक जोड़ा स्वयं कन्धों में लगाकर भूमध्य सागर पार दोनों उड़ चले। दीदेलस तो पंखों की उड़ान की सीमा जानता था, अतः अधिक महत्वाकांक्षा न कर सिसली नामक द्वीप में इटली के दक्षिण जीवित जा गिरा। इकेरस ने सूर्य तक उड़ जाने का प्रयत्न किया, पर जैसे-जैसे वह ऊपर को उठा उसके पंख, जो मोम के बने थे, वैसे-वैसे गलते गये और वह ईजियाई सागर में गिरकर डूब गया। कथा बहुत कुछ जटायु के भाई संपाति की है, जिसने भी उड़कर सूर्य तक पहुँचना चाहा था, पर पंखों के जल जाने से, पौराणिक मिथक के अनुसार, पृथ्वी पर गिर पड़ा।

ग्रीक मिथक अधिकतर जैसे के तैसे रोमनों ने स्वीकार कर लिये। उच्चारण भेद निश्चय बना रहा। 'जिउस' 'ज्यूपितर' बन गया, 'अफ्रोदीती' 'वीनस' बन गई, आदि-आदि। मौलिकता की कमी के कारण रोमनों को क्या मिथक, क्या देववर्ग, क्या कला सभी में ही ग्रीकों के अनुकार्य से काम चलाना पड़ा। परन्तु ग्रीक और रोमन आर्यों के बीच अनार्य इत्रुस्की (इत्रुस्कन)

निश्चय मिथकों के धनी थे। इसी प्रकार स्केन्डिनेविया अर्थात् नार्वेई आदि जातियों के अपने मिथक थे और वे पर्याप्त ऋद्ध थे। पर उनका विस्तारभय से यहाँ हम उल्लेख नहीं कर पायेंगे। उनके स्थान पर संक्षेप में आर्य और भारतीय आर्य मिथकों का उल्लेख कर देना अधिक सार्थक और समीचीन होगा। यहूदी, ईसाई और इस्लामी मिथकों का उल्लेख कोई अर्थ नही रखता, क्योंकि उन धर्मों में मिथक प्रायः है ही नहीं। यहूदियों की पुरानी पोथी में हसरत मूसा द्वारा देखे और दिये गये 'दस आदेश' (टेन कमाडमेंट्स) निःसंदेह मिथक का रूप ले लेते हैं, जब 'कोह-तूर' की झाड़ियाँ सहसा जल उठती हैं। इसी प्रकार हज़रत ईसा का भी सलीब पर चढ़ाये जाने के बाद जी उठना मिथक का ही एक अंश कहलायेगा, जिसके साथ मृतकों को जिलाने, कोढ़ियों और बीमारों को नीरोग करने अथवा गैलिली सागर के तीर, सीमित मछलियों से बड़ी संख्या में लोगों को आहार देने के चमत्कार मिथकों के परिवेश में आते हैं। इनके अतिरिक्त फरिश्तों का आवागमन, शैतान के कारनामे और उसका बहिश्त से निकाला जाना, आदम और हव्वा की कहानी उसी मिथक के प्रसंग हैं। शुद्ध इस्लाम ने सूफ़ियों को स्वीकार नहीं किया, परन्तु जिन सूफ़ी सन्तों की कथाएँ देश में प्रचलित हैं, वे एक प्रकार के चमत्कार हैं, जिनका शुमार मिथकों में करना अनुचित न होगा।

भारतीय मिथकों का परिमाण संसार के साहित्य में बेजोड़ है। भारतीय मिथक इस देश के पुराण हैं और पुराणों की संख्या, अर्थात् पुराणगत कथाओं की संख्या, कल्पनातीत है। पुराणों का नाम 'इतिहास-पुराण' जैसे समस्त पद में वेदों में भी आया है, अनेक पौराणिक कथाएँ भी वेदों में आयी हैं, जिनको मिथक कहा जा सकता है। सूर्य का सरण्यू से विवाह और उसके द्वारा घोटकी में पुत्रोत्पत्ति, उषा सम्बन्धी अनेक कथाएँ अथवा विविध प्राकृतिक देवताओं से संबंधित कथाएं मिथक वर्ग की हैं।

स्वयं ऋग्वेद में जो बार-बार देवासुर संग्राम की कथा की ओर संकेत हुआ है, वह उस विधा का मिथक है, जो कभी ऐतिहासिक सत्य था, पर बाद में पौराणिक मिथक बन गया। ययाति, मान्धाता, पुरूरवा आदि ऋग्वैदिक राज परम्परा से भी प्राचीनतर हैं और उनसे सम्बन्धित जो कथानक मिलते हैं वे निश्चय उस महान् ग्रन्थ के पूर्ववर्त्ती हैं। देवासुर संग्राम की वास्तविकता में तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं, क्योंकि सदियों असुर राजाओं ने दजला-फ़रात की ऊपर की घाटी में क्रूरतापूर्वक राज्य तथा साम्राज्य का विस्तार किया। उनके सैकड़ों अभिलेख उनकी विजयों से सम्बन्धित शिलाओं

और खंभों पर उत्कीर्ण मिले हैं और लाखों ही अभिलिखित ईंटें असुर बनिपाल के ग्रंथागार से, मोसुल के पास (ईराक में) निनवे नगर के भग्नावशेषों से, खोद निकाली गयी हैं। इस देश की पिछली परम्परा में असुर शब्द की व्युत्पत्ति 'नसुराः इति असुराः' द्वारा की गई है, जो व्याकरण से सही होकर भी इतिहास से गलत है। इतिहास से सही व्युत्पत्ति पाणिनि ने की है—'असवः इति प्राणः'—जो अन्तिम असुर सम्राट् से केवल दो सौ वर्ष बाद हुए थे और असुरों को उनकी विजय के प्रमाण से शक्तिमान-प्राणवान् मानते थे। मजे की बात तो यह है कि असुरों की जाति भी असुर कहलाती थी, राजधानी भी असुर कहलाती थी और उनका देवता भी असुर। वस्तुतः असुर नाम की उनकी राजधानी की नींव ईसा पूर्व १३६५ में डाली गई थी। उनकी अन्तिम राजधानी निनेवे थी। उन्हीं के बीच दजला-फरात की घाटी में कस्सी नाम के आर्यों ने प्रायः दो सदी राज्य किया था और वहीं १४वीं सदी ईसा पूर्व के मध्य खत्ती और मित्तन्नी आर्यों ने अपने युद्ध बन्द कर जो संधि की, उस पर साक्षी रूप में ऋग्वेदिक देवताओं के नाम उकेरे। देवासुर संग्राम पुराणों में आ जाने के बाद विशेषकर सागर-मंथन के बाद एक-दूसरे से मिल जाने के कारण मिथक बन गये।

परन्तु यह तो हुई वैदिक मिथकों की बात। समूचा पुराण वर्ग अनन्त मिथकों का आकर है। मिथकों का इतना अनन्त वैभव संसार के किसी साहित्य में उपलब्ध नहीं। पुरान कब बने, कबसे बनते चले आ रहे हैं, यह कह सकना आज असम्भव है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पुराने पुराण अपने मिथकों के सम्बन्ध में वेदों से भी प्राचीन हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

वैसे साधारणतः पुराणों की संख्या १८ मानी जाती है, यद्यपि यदि हम विविध देवी-देवताओं से सम्बन्धित पुराणों की संख्या का अनुमान करें तो वह बहुत बढ़ जायेगी। १८ पुराणों के पूर्व सम्भवतः एक मूल पुराण था। किसने उसे रचा होगा, यह कह सकना कठिन है, यद्यपि उसके प्राचीनतम संपादक वेदों की ही भाँति कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते हैं। जैसे उन्होंने परम्परा के अनुसार—अपने शिष्यों पैल, वैशंपायन आदि की सहायता से वेदों का सम्पादन किया, वैसे ही अनन्त कथानकों के सविस्तर पुराण-साहित्य को भी एकत्र कर उन्हें सम्पादित किया। पुराणों की संख्या निरन्तर बढ़ती चली गई और अन्त में गुप्तकाल अथवा ५वीं सदी ई० में उनका आज का रूप व्यवस्थित हुआ। यद्यपि यह कहना सही न होगा कि उनका निर्माण सर्वथा आज भी समाप्त हो गया है। पता चला है कि अभी हाल में सन्तोषी माता पर भी काशी में पुराण का सृजन हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि मिथक जैसे संसार का प्राचीनतम साहित्य है, उसके आदि स्रोत पुराण भारतीय साहित्य की भी किसी न किसी रूप में प्राचीनतम विधा हैं। सूतों द्वारा पुराणों का निरन्तर पाठ, पारायण और व्याख्या तथा कथाओं का विस्तरण अत्यन्त प्राचीन है। आश्चर्य की बात तो यह है कि पौराणिक मिथकों की शक्ति इतनी प्राणवान् थी कि वेद और ब्राह्मण विरोधी अनेक संप्रदाय और धर्म इस देश में उठे, जैसे बौद्ध और जैन, और चाहे वेदों का उन्होंने विरोध किया, पर पुराणों का समूचा का समूचा उन्होंने स्वायत्त कर लिया। मिथक जीवन की धारा के मूल स्रोत हैं जो कभी समाप्त नहीं हो सकते।

संस्कृत के माध्यम से मिथक हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती और दक्षिण की भाषाओं में भी भरपूर संबलित हुए हैं। रामायण, महाभारत और पौराणिक आख्यानों के अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में हुए हैं, जिनसे छाया की भाँति मिथक भी कालान्तर में पल्लवित होने वाले नये साहित्यों को समृद्ध कर चुके हैं।

मिथक केवल विश्वास की वस्तु नहीं, वे जीवित भाषा के अंग बन जाते हैं और चाहे मिथकों में सर्वथा अविश्वास करनेवाला नास्तिक ही क्यों न हो, प्रभाव और संप्रेषण के लिए भाषागत मिथक सम्बलित उन प्रतीकों का उपयोग करेगा जो उसके विचारों को शक्तिपूर्वक प्रकाशित करेंगे। 'दधीचि की हड्डी' का अपनी भाषा में उपयोग करने वाले नास्तिक के लिए आवश्यक नहीं कि वह देवासुर संग्राम अथवा दैत्यों को जीतने के लिए 'दधीचि की हड्डी' से बने वज्र में विश्वास करे ही। 'दधीचि की हड्डी' भाषा का अंग बन गया है जो विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। संसार की सभी भाषाओं में इस प्रकार के हजारों-हजार भाव प्रकाशक भाषा व्यंजनाएँ बन गई हैं। अंग्रेजी में 'राइटिंग आन द वाल' का प्रयोग साधारण तौर पर अवश्यंभावी संकट के लिए होता है, जिसका मूल है 'मेने मेने तेतेल उफार्सीन'—तुमको तराजू में तोला गया है तुम अपूर्ण सिद्ध हुए हो, तुम्हारा अन्त निकट है। इसके लिए पुरानी पोथी के यहूदी प्रसंग में वेलश्तेज्जार की दावत की कथा को जानने की आवश्यकता नहीं। चूंकि भाषा और परम्परा में आदमी जन्म लेता है। अतः विचारों की नित्यता भी मनुष्य के होश सम्भालते ही उसे घेरने लग जाती है। विचार भाषा में ही जन्म लेते हैं, विचारे जाते हैं। बिना भाषा के विचारों का जन्म नहीं होता और जब भाषा और विचार इस प्रकार परस्पर संपृक्त हैं तब परम्परागत विश्वास मिथक भी उनके परिवेश से बाहर नहीं हो सकते। प्रसंगों का चुनना स्वयं मिथकों से

स्वतन्त्र नहीं। भारत की उन्नीसवीं सदी में अपने अतीत के प्रति जागृति ने समूचे भारत में गौरव की एक लहर बहा दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी साहित्यों में मिथकों के प्रति आग्रह हुआ और उनको फिर से हम अपने साहित्य में जीने लग गये। हिन्दी में 'प्रिय प्रवास', 'जयद्रथ वध', 'कामायनी' 'उर्वशी' इसके प्रमाण हैं। और यह स्थिति केवल इसी देश की नहीं है। १४वीं, १५वीं, १६वीं सदियों के बराबर भावोत्तेजक और साहित्य तथा कला में उन्नति की मूर्द्धा को छूने वाला काल योरोप में ग्रीक इतिहास के बाद दूसरा नहीं आया। उस काल का महाकवि दान्ते अपने 'दिवीने कोमेदिया' में स्वर्ग आदि में दिवंगत प्राचीनों से मिलता है और पेत्रार्क जीवित और मृत सभी साहित्यकारों को पत्र लिखता है। इसी प्रकार लियोनार्दो दा विंची अपना अमर चित्र 'अन्तिम भोज' (लास्ट सुपर) चीतता है, माइकेल एन्जेलो पीतर दावूद की मूर्ति बनाता है। सीस्टाइन चर्च के गुम्बद की छत में भगवान और मानव को एकत्र कर देता है। रफेल मदोनाऊँ (मरियम) की एक श्रृंखला ही रच देता है और बोतिचेल्ली वीनस का जन्म जैसी अमर चित्रकारिता का जनक बनता है। यह जादू इस प्रकार कलावन्तों के सिर चढ़कर बोलता है कि रिनेसाँ (पुनर्जागरण) तथा प्राचीन ग्रीक जीवन के शत्रु पोप के महल वातिकन की दीवारों पर 'स्कूल ऑफ ऐथेन्स' के द्वारा सुकरात और अफलातून लहरा उठते हैं।

मिल्टन प्यूरिटन था, पर यह उसके बस की बात नहीं थी कि उसके 'पेरेडाइज लास्ट' में शैतान भगवान से अधिक शक्तिम् हो जाता है और कुछ ही काल पहले एलिजाबेथ के ऊपर अपना काव्य लिखने वाला स्पेंसर उसका नाम मिथक की दिशा में 'द फेयरी क्वीन' रखना नहीं चूकता! मिथक भाषा और साहित्य का प्राण बन जाता है।
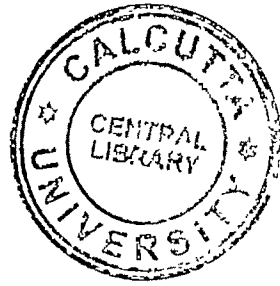
अज्ञेय

साहित्य में मिथक

एक ईसाई सन्त ने काल की अवधारणा के प्रश्न पर कहा था कि जब तक कोई मुझसे नहीं पूछता तब तक तो मैं जानता हूँ कि काल क्या है, पर जब कोई पूछे तो मैं नहीं जानता। मिथक की अवधारणा के बारे में मेरी स्थिति उससे कुछ बदतर है। क्योंकि कवि—बल्कि कवि ही क्यों, साहित्य का पाठक होने के नाते मिथक से मेरा वास्ता तो लगातार पड़ता है, पर मैं न पूछे जाने पर भी नहीं जानता कि मिथक क्या है और अवधारणा करने की कोई योग्यता मुझमें नहीं है। पर मिथक की चर्चा हिन्दी में एकाएक बहुत होने लगी है और मैं इसके प्रभाव से अछूता नहीं हूँ। जितना कुछ मैंने इस विषय में सोचा है उससे मुझे यही लगा है कि साहित्य और मिथक के सम्बन्ध की चर्चा करनी हो तो अवधारणा की बात अन्त तक छोड़ देनी चाहिए। वैज्ञानिक चर्चा में हम अवधारणा से आरम्भ कर दूसरी दिशा में जा सकते हैं, लेकिन एक लेखक के नाते मुझे लगता है अगर हम बिम्ब, प्रतीक, मिथक की चर्चा से आरम्भ करें, फिर मनोरचना और रचना-प्रक्रिया आदि पर विचार करते हुए अन्त में अवधारणा पर आयें तो कम-से-कम मेरे जैसे व्यक्ति के लिए वह चर्चा अधिक उपयोगी होगी, बल्कि अपनी ओर से तो मैं अवधारणा की बात छोड़ ही दूँ, साधारण चर्चा में अवधारणा जैसा कुछ बन जाये या कि उसके लिए उपयोगी कुछ सामग्री पाठक को मिल जाये, तो वही मेरी सफलता होगी।

मैं बिम्ब और प्रतीक, पुराण और मिथक, इन सब की चर्चा से आरम्भ करना चाहता हूँ। क्योंकि वास्तव में हमारे लिए प्रश्न यह होना चाहिए कि आज इन चीजों की चर्चा क्यों आवश्यक जान पड़ने लगी है? साहित्य

की, और विशेष रूप से काव्य की, चर्चा में सबसे पहले बिम्ब का विचार होना चाहिए। शायद वह अपेक्षया आसान भी है और शायद वहाँ से आरम्भ करने से पूरा परिदृश्य अधिक स्पष्ट भी हो सकता है। बिम्ब एक तरह का चित्र प्रस्तुत करता है। जब हम 'चित्र' कहते हैं तो उसके दृश्य रूप पर ही जोर दे रहे हैं, लेकिन वह चित्र ध्वनि आदि का भी हो सकता है; यानी वह बिम्ब चाक्षुष भी हो सकता है, श्रव्य भी हो सकता है और स्पृश्य भी हो सकता है। और शायद वह घ्राणेन्द्रिय के आधार पर गन्ध का चित्र भी हो सकता है। उसको चित्र कहने में एक विशेष बात है जिसकी ओर अभी मैं आप का ध्यान आकृष्ट करूँगा। तत्काल महत्त्व की बात यह है कि बिम्ब में हम सबसे पहले एक ऐन्द्रिय चेतना से आरम्भ करते हैं, वह चाहे कोई एक इन्द्रिय हो, स्पर्श हो, दृष्टि हो, श्रवण हो या घ्राण या कि आस्वाद भी हो। जरूरी नहीं है कि वह ऐन्द्रिय बोध किसी एक ही इन्द्रिय तक सीमित हो, जटिलतर और संश्लिष्ट बिम्ब भी हो सकते हैं। लेकिन बिम्ब सबसे पहले इस चीज पर जोर देता है: हमारी जो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनके सहारे हमें जो अनुभव प्राप्त होता है, उस पर। उसी को आधार बना कर, यानी कह लीजिए कि प्राथमिक अनुभव के आधार पर, बिम्ब बनता है। और क्योंकि वह प्राथमिक अनुभव के आधार पर चलता है इसीलिए कविता के लिए उसकी इतनी उपयोगिता होती है। वह दूसरे तक पहुँचने का प्राथमिक तरीका है, क्योंकि वह प्राथमिक अनुभव से आरम्भ करता है। वह टके प्राथमिक अनुभव को सम्प्रेष्य बनाता है और उसके टटकेपन की पहचान के साथ सम्प्रेष्य बनाता है; उसे प्रामाणिकता देता है।

मैंने कहा कि चित्र की बात मैं इसके बाद करूँगा। क्यों हम इसको चित्र कहते हैं? क्यों हमारा आग्रह इन विभिन्न इन्द्रियों में से चक्षु पर ही आकर टिक जाता है? क्यों नहीं हम उसे केवल स्वर (श्रव्य) कह सकते थे? इसका एक कारण है। और उस कारण के महत्त्व को जान कर हमें आगे बढ़ने का रास्ता मिलता है। हम कहें कि हमारे मन की जो कई प्रवृत्तियाँ हैं उनमें से एक तर्क की है और एक उसके समानान्तर प्रक्रिया है जो कि सादृश्य या सामानता के आधार पर चलती है। एक प्रवृत्ति तर्कमूलक, लॉजिकल है, और दूसरी सादृश्यमूलक, एनालॉजिकल है।

बिम्ब से आगे बढ़ कर जब हम प्रतीक की चर्चा करते हैं तब इस भेद को अपने सामने रखने में हमें सहायता मिलती है। प्रतीक में हम इन दोनों शक्तियों का उपयोग करते हैं। हम न तो सिर्फ लॉजिकल और न सिर्फ

एनौलॉजिकल चिन्तन करते हैं। हम समानता के आधार पर सुतर्कित बात करते हैं। वह एक साथ ही देखी हुई भी होती है, सोची हुई भी। प्रतीक में दो पक्ष होना जरूरी है, और उनको जोड़ने वाला कोई-न-कोई सादृश्य सूत्र होता है जिसे पकड़ कर हम बढ़ते हैं। उपमा भी यही काम करती है, रूपक भी यही काम करता है, प्रतीक भी यही काम करता है। सबके आधार में एक समान गुण की पहचान होती है। समानता को आधार बना कर एक तरफ समानता की पहचान के सहारे चलने वाले सोच की परम्परा और दूसरी तरफ तर्क के आधार पर चलने वाली परम्परा दोनों काम करती हैं।

इनमें पहले उपमा को लिया जाये। उससे प्रक्रिया की विशेषता स्पष्ट हो जायेगी। इस प्रक्रिया के भीतर दो प्रकार की अन्तःप्रक्रिया होती है जिनकी विशेषता और जिनके भेद की पहचान करना आवश्यक है। हम कहते हैं 'मोती जैसे दांत'। जब हम यह उपमा देते हैं तो इसका आधार एक समानता है। इसे हम एक रेखाचित्र द्वारा दर्शा सकते हैं :

मोती दाँत

समान गुण
कान्ति

लेकिन यदि इस समानता का कोई वास्तविक आधार है, तो भिन्न स्थिति में वह कहाँ ओझल हो जाता है ? समस्या को स्पष्ट करने के लिए हम कहें 'दाँत जैसे मोती'। यह कहने से वही बात क्यों नहीं बनती ? अगर मोती और दाँत में वास्तव में कोई समानता है, तो हम पहले मोती का उल्लेख करें या पहले दाँत का उल्लेख करें, समानता तो ज्यों की त्यों रहनी चाहिए और दिखनी चाहिए, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता। जब हम 'मोती जैसे दाँत' कहते हैं तब हम दाँतों की कान्ति, चमक की ओर ध्यान देते हैं। लेकिन अगर हम कहते है 'दाँत जैसा मोती' तो 'दाँत' कहने से दाँतों की कान्ति पहले हमारे सामने नहीं आती— शायद दाँत का तीखापन आ सकता है—और 'दाँत जैसे मोती' कहने से एक बड़े या नुकीले मोती का चित्र हमारे सामने आयेगा। वही दो पक्ष हैं जिनके बीच समानता है, वह समानता हम नहीं बदलते, लेकिन जिस क्रम से हम दोनों चीजों को सामने रखते हैं उस क्रम से ऐसी सम्भावना हो जाती है कि किसी एक गुण के बदले कोई दूसरा गुण सामने आ जाये जो कि समान गुण न हो। तात्पर्य यह कि समानता के आधार पर चलने वाली उपमा में यह भी आवश्यक होता है कि समान गुण

के साथ-साथ हम अपने मन के प्रवाह की दिशा का भी ध्यान रखें। दो चीजें जब एक क्रम में सामने आ जाती हैं तो हमारी समानता की पहचान एक दिशा में बहती है, और उन चीजों को दूसरे क्रम से रखने में जरूरी नहीं है कि उन्हीं दो चीजों के बीच में उसी समानता के आधार पर उसी दिशा में प्रवाह हो। फिर कोई दूसरी चीज हमारे सामने आ सकती है। रेखाचित्र द्वारा इसे यों दर्शायेंगे :

मोती दाँत

समान गुण

कान्ति

इसके और कई उदाहरण ले कर देखा जा सकता है कि उन्हीं दो चीजों को, जिन्हें हम समान मानते हैं, उलटे क्रम से रखने से अभीष्ट समानता ओट में हो जाती है और कोई दूसरा अप्रत्याशित समान गुण सामने आ जाता है। यह नहीं कि गुण नहीं रहता, लेकिन हमारे सामने वह नहीं आता। तो हमारा जो मन है, हमारी जो बुद्धि है, समानता की पहचान करते हुए भी उसके साथ निरन्तर यह समस्या रहती है कि अनेक सादृश्यों में से कौन-सा हमारे सामने प्रत्यक्ष होगा। यह इस पर निर्भर करेगा कि किस क्रम से दो चीजें हमारे सामने आती हैं। प्रस्तुति का क्रम हमारे यथार्थ बोध को केवल क्रमिक सम्पूर्णता नहीं देता, वह यथार्थ का चित्र ही बदल देता है।

अब यहाँ पर सादृश्य बोध के साथ-साथ आपने लक्ष्य किया होगा कि हमारी तर्क बुद्धि भी काम कर रही है। दो मानसिक प्रक्रियाएँ उपमा में भी काम करती हैं : एक जो समानता को चीन्हती है और दूसरी जो साथ-साथ उसकी पहचान कर के विवेक से उसको बदलती भी है। पर प्रतीक में हम इससे एक कदम और आगे बढ़ते हैं। वहां पर तर्क का महत्व और भी अधिक हो जाता है। प्रतीक में भी एक चीज के बदले दूसरी चीज लायी जाती है। वहाँ भी समानता का कोई आधार होना चाहिए, नहीं तो 'प्रतीक' शब्द का ही कोई अर्थ नहीं रहता—'एक का स्थान लेने वाला' दूसरा कोई हो नहीं सकता। लेकिन प्रतीक में यह सम्भावना भी है कि हम बिना किसी वास्तविक या प्रत्यक्ष समानता के एक कल्पित या तर्क-सिद्ध समानता के आधार पर एक चीज को दूसरे का प्रतीक मान लें : अपनी तरफ से यह तय कर लें कि अमुक के बदले हम अमुक चीज रखते हैं, या अमुक का स्थानापन्न या प्रतिस्थानीय इस अमुक दूसरी चीज को मानते हैं। ऐसा मान

लेना एक तर्क की प्रक्रिया है : वह अनुमान या प्रतिज्ञा के सहारे चलता है और उसका आधार कोई प्रत्यक्ष या सहज-सिद्ध साम्य नहीं भी हो सकता है।

लेकिन साधारणतया साहित्य मे जो प्रतीक आते है उनमें ऐसा नहीं होता कि वे बिलकुल तर्क के आधार पर मान लिये गये प्रतीक हों। उनमें भी समानता अवश्य रहती है। हम तुरत पहचानते है कि अमुक चीज के बदले अमुक चीज यहाँ पर है। और जब दो चीजें इस रूप में हमारे सामने आती है तब, यद्यपि एक के बदले दूसरी चीज लायी गयी है, फिर भी दोनों का समान अस्तित्व उसमें बना रहता है, दोनों साथ-साथ भी काम करती है और वह काम करने में उन्हे फिर हमारी तर्कशक्ति या कि हमारी बुद्धि सहारा देती है। यानी उपमा मे एक प्रत्यक्ष सादृश्य के बोध का आधार होता है, प्रतीक मे सादृश्य के प्रत्यक्ष या तर्कित आधार के अलावा एक और बौद्धिक प्रक्रिया भी होती है—एक सोपान अधिक होता है।

बुद्धि का दो स्तरों पर उपयोग अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ हमारे सामने खोल देता है। लेकिन कुछ प्रतीक ऐसे भी होते है जो इससे थोड़ा और आगे जाते हैं। ये प्रतीक सादृश्य की पहचान करते हैं; दो चीजों को साथ रखते हुए क्रम की दिशा आरोजित करते है; 'एक के बदले दूसरा' रख कर भी दोनों के सह-अस्तित्व पर बल देते हुए यह भी दिखाते रहते है कि एक दूसरे तक पहुंचने का माध्यम है। ऐसे प्रतीक हमारे मन मे एक और पक्ष को भी छु सकते हैं। आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो, लेकिन प्रतीक ऐसे हो सकते है जो हमारे गहनतम पूर्वग्रहों और रागबन्धों का भी सहारा ले। और जहाँ ऐसे प्रतीक आते हैं वहाँ उनके साथ हमारा सम्बन्ध सिर्फ बुद्धिगत नहीं, प्रगाढ़ रूप से रागात्मक भी हो जाता है। हम सभी ऐसे अनेक प्रतीक जानते हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन में ही कई प्रतीक आते हैं जिनके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध इतना गहरा होता है कि उसी सम्बन्ध का सहारा लेकर हमारे तर्क को रोक कर, दिजडित कर के, हमारी भावनाओ को उभारा जा सकता है और हमे कई तरह के कर्मो की ओर प्रेरित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय झंडा एक ऐसा प्रतीक होता है जिसके साथ हमारा रागबन्ध ऐसा होता है कि हमें कई बार बिलकुल अविवेकी काम तक के लिए प्रेरित किया जा सकता है। ऐसे और भी बहुत-से प्रतीक होते हैं।

इस रागबन्ध की चर्चा के साथ हम उस लम्बी सीढ़ी के पहले चरण पर आ जाते हैं जहाँ से मिथक की अवधारणा यात्रा आरम्भ हो सकती है। मिथक बिम्ब का भी उपयोग करता है, साम्य पर आधारित उपमाओं से भी

काम लेता है, प्रतीकों से भी काम लेता है। लेकिन मिथक उनसे कुछ बड़ी शक्ति है। मिथक के साहित्यिक उपयोग की ही बात करनी हो तो उस वृहत्तर शक्ति की चर्चा से बचा भी जा सकता है, पर अवधारणा की बात तब नहीं हो सकेगी। उसकी ओर फिर लौटना ही होगा। अभी थोड़ी देर के लिए इस बात को यहीं छोड़ा जा सकता है, क्योंकि कुछ और बातें ध्यान देने की हैं।

एक तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी साधारण चर्चा में—खासकर उन पढ़े-लिखे लोगों में जिन्हें अंग्रेजी भाषा और साहित्य का भी परिचय होता है और भारतीय भाषा या साहित्य का भी, 'मिथ' शब्द का उपयोग दो तरह होता है: दो अलग-अलग अर्थों में—एक तो कोई झूठी कल्पना या मान्यता मिथ होती है: इस अर्थ में हम मिथ शब्द का रोज उपयोग करते हैं। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमारी प्रस्तुत चर्चा में इस प्रयोग का कोई स्थान नहीं है। फिर भी, क्योंकि व्यापक प्रयोग का हमारे मन पर इतना गहरा संस्कार है कि मिथ का मतलब है 'कोई भी व्यापक प्रचारित झूठ' इसलिए हमें निरन्तर सतर्क रहना होगा कि हम मिथ का इस अर्थ मे प्रयोग नहीं कर रहे हैं।

तो साहित्य में 'मिथक' की चर्चा करते समय हम मिथ का कौन-सा रूप सामने रखना चाहते हैं? यह प्रश्न उठाते समय हमे संस्कृति के कुछ व्यापक सन्दर्भों की चर्चा भी करनी चाहिए। यह तो है ही कि मिथक की चर्चा हम चाहें तो साहित्य को बिलकुल छोड़ कर, व्यापकतर सांस्कृतिक सन्दर्भों मे भी कर सकते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से मियक की चर्चा करें तो उसका कुछ और रूप हमारे सामने आयेगा, समाजशास्त्र या नृतत्व की दृष्टि से उसकी चर्चा करें तो हम एक दूसरे ही क्षेत्र में चले जायेंगे, धर्म के सन्दर्भ में उसकी चर्चा करे तो और एक क्षेत्र में चले जायेंगे। साहित्य में मियक का विचार करते समय हम इनमें से किसी को छोड़ नहीं सकते, क्योंकि ऐसा नहीं है कि साहित्य में धर्म या समाज का या संस्कृति का कोई स्थान नहीं होता। लेकिन साहित्य की परिधि में मिथक की चर्चा में इन सबको सम्मिलित करते हुए भी कुछ दूसरे प्रकार के प्रश्न भी हमारे सामने आ जायेंगे।

सांस्कृतिक सन्दर्भ में मियक की, खासकर उसके उस रूप की या उसके उतने क्षेत्र की जितना साहित्य से सम्बन्ध रखता है, चर्चा करते हुए हमें यह पहचानना चाहिए कि मियक एक तरह का रहस्यमय शक्ति-स्रोत है। यहीं से, इसी पहचान से, इस विषय का महत्व और हमारी समस्याओं का जटिल रूप हमारे आगे प्रकट होता है।

ऐसा क्यों है कि मिथक ऐसा रहस्यमय भी है और शक्ति का स्रोत भी है ? मैं विचार के लिए एक दृष्टिकोण रखना चाहता हूँ। मैं यह मानता हूँ कि हर संस्कृति के लिए अपनी पहचान आवश्यक होती है। इस पहचान के लिए, स्वरूप प्रत्यभिज्ञा के लिए, जिस समाज की वह संस्कृति है उसका समूचा अनुभव, उसकी पूरी परम्परा, उसके आरम्भ से, प्रागैतिहासिक काल में उसके उदय से लेकर आज तक उसकी जितनी जानकारी है, जितना संचय है, सबका महत्त्व होता है। इस सबका योग किसी भी संस्कृति में किसी भी मिथक का रूप निर्धारित करने में महत्त्व रखता है। लेकिन इस प्रत्यभिज्ञा का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष भी है जिसकी ओर प्रायः ध्यान नहीं जाता। उसके लिए इस संचित या समग्र अनुभव के अलावा भी कुछ अपेक्षित होता है। कोई भी संस्कृति अपने को पहचानने के लिए, एक अस्मिता गढ़ने और उसका स्वरूप पहचानने के लिए जहाँ इस पूरे-के-पूरे अनुभव-संचय को अपने पूरे समाज के सामने रखना चाहती है, वहाँ उसे दूसरे हर किसी से बचा कर पराये व्यक्ति की पहुँच से परे भी रखना चाहती है। तो मिथक की शक्ति का दूसरा कारण यह है कि एक तरफ वह किसी भी संस्कृति या जाति की अस्मिता का आधार होती है, दूसरी तरफ वह उसको किसी दूसरी संस्कृति से अलग और विशिष्ट रखने का भी एक साधन होती है। इसलिए हर संस्कृति के जो मिथक होते हैं वे जहाँ एक तरफ उस संस्कृति के पूरे अनुभव-संचय से काम लेते हैं, वहाँ उसके साथ-साथ एक ऐसी रहस्यमय भाषा भी गढ़ते हैं जो उस संस्कृति की अस्मिता को और सब संस्कृतियों से अलग बनाये रखने में योग दे। इस अर्थ में हर संस्कृति की संस्कारी भाषा एक 'सन्ध्या भाषा' या सन्धि होती है : केवल सधुक्कड़ी या सिद्धों की दीक्षागम्य भाषा ही सन्धिभाषा नहीं होती। 'यह संस्कृति मेरी संस्कृति है', जहाँ एक तरफ इसकी पहचान उसकी हर इकाई अपने लिए करना चाहती है वहाँ उसके साथ-साथ हर इकाई स्पष्ट या निहित भाव से यह प्रयत्न भी करती है कि कोई दूसरा इस रहस्य तक अनायास न पहुँच सके।

इसलिए मिथक एक तरफ अपनी पहचान का और दूसरी तरफ अपनी रक्षा का भी एक साधन होते हैं। और क्योंकि मिथकों में अपनी अस्मिता की पहचान और उसकी रक्षा की दोहरी प्रवृत्ति होती है, इसीलिए वे हमेशा एक रहस्य में भी रहते हैं और एक शक्ति का स्रोत भी बने रहते हैं।

यह अगर सही है तो इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि क्यों किसी भी संस्कृति की किसी भी अवस्था में कुछ मिथक अधिक महत्व रखते हैं, अधिक सार्थक जान पड़ते हैं, और कुछ दूसरे दब जाते हैं या कि कुछ समय के लिए

बिल्कुल अर्थहीन-से हो जाते हैं और कालान्तर में फिर ये अधूरे, भूले हुए मिथक ही फिर उभर आते हैं और महत्त्व के हो जाते हैं। संस्कृति की अपनी पहचान में जैसे-जैसे परिवर्तन होते है वैसे-वैसे उसके जो मिथक है उनमे, उनकी प्रयोजनीयता और उनकी प्रभावशीलता में परिवर्तन आ जाते हैं। हमारी अपनी पहचान जैसे बदलती है, अपने वैशिष्ट्य की रक्षा की आवश्यकताएँ जैसे हमें बदलती जान पड़ती हैं, वैसे कुछ मिथक अधिक महत्त्व के हो जाते है और कुछ साम्प्रतिक दृष्टि से कम महत्त्व के हो जाते है। और फिर कालान्तर में ऐतिहासिक परिवर्तनों के कारण जब हमे अपनी अस्मिता किसी दूसरी तरफ से धुंधली होती या संकटापन्न जान पड़ती है तब उसका निर्मल बिम्ब उभारने के लिए—आत्मरक्षा के लिए—कुछ दूसरे मिथकों का सहारा हम लेते हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसलिए मिथक पुराने पड़ते जाते हैं, थक जाते है, और फिर उनका नवीकरण होता चलता है। उनमें नया तेज भर जाता है।

इसलिए हमें यह पहचानने की जरूरत है कि सभी मिथक, वे उस समय जीवित हों या मृत, उस समय महत्त्व रखते जान पड़ते हों, जीर्ण मालूम पड़ते हो, सदैव एक दुर्दम शक्ति का स्रोत होते हैं—किसी भी सस्कृति के लिए। वह शक्ति हमेशा रहती है। आवश्यकतानुसार कभी हम एक प्रकार की शक्ति का उपयोग करते है और कभी दूसरी प्रकार का।

सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान के लिए और अस्मिता की रक्षा के लिए मिथक का महत्त्व है, और समूचा जाति या संस्कृति का समग्र अनुभव-संचय भी उसमे योग देता है, इन दोनों बातो को एक साथ समझने के लिए यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि किसी भी संस्कृति के प्रारम्भिक युग मे 'इतिहास' की वैसी कल्पना नहीं थी जैसी आज है, और इसलिए आज अपनी अस्मिता की पहचान का आधार भी किसी के लिए वह नहीं होगा जो कि उस समय होता। प्रायः हर भाषा में कुछ शब्द ऐसे मिल जायेंगे जिनके सहारे हम किसी जाति की अपनी 'ऐतिहासिक' स्थिति की अवधारणा तक, और उसमे होते गये 'ऐतिहासिक' परिवर्तनों तक, पहुंच सकें। हमारी अपनी भाषा मे भी ऐसे कई शब्द हैं जिनका अर्थ बिलकुल बदल गया है, लेकिन जिनमे जो पुराना अर्थ था उसकी शक्ति और प्रभविष्णुता अभी खोयी नहीं है। 'सत्ता' एक ऐसा शब्द है। आज हम उससे मुख्यतया एक राजनैतिक अर्थ ग्रहण करते है: सत्ता यानी पावर। लेकिन शब्द का पूरा अर्थ विस्तार ध्यान मे रखें तो सत्ता शब्द होने मात्र से जुड़ा है। आधुनिक मुहावरे के 'बीइंग' का पर्याय है, मैं 'हूं' इस पहचान के साथ जुड़ा है, और दूसरो तरफ

यह शब्द 'सत्' से जो सचमुच 'है' यानी जो रियल है उससे जुड़ा है। इस प्रकार सत्ता शब्द में केवल पावर का नहीं, बीइंग और रिएलिटी का भी योग है। प्रचलित साधारण अर्थ की सीमा के बावजूद यह पूरा अर्थ अभी मिटा नहीं है, पुराने अर्थों के साथ नया अर्थ भी जुड़ गया है और उससे पूरा वृत्त और स्पष्ट ही हुआ है, क्योंकि प्राचीन कल्पना में भी ये तीनों अर्थ सम्पृक्त ही थे। जो है, जो रीएल है, जो पावरफुल है। अस्ति, सत्ता, सत्त्व ये सब चीजें एक ही थीं। किसी चीज के होने की, उसके वास्तविक होने की, उसके स्वरूप की पहचान, उसकी सत्ता की पहचान इस अर्थ में थी कि वह उसकी ताकत की भी पहचान थी। इसलिए मूल अर्थ में 'सत्' एक साथ तीनों है। वही सभी शक्तियों का स्रोत है, वही पहचान का स्रोत है, वही यथार्थता का और उसके बोध का स्रोत है।

सत्ता के बोध का यह अनेक स्तरीय रूप सभी संस्कृतियों में अभी तक बना चला आया है। और आज जो मिथक की नये सिरे से चर्चा होने लगी है, उसके प्रेरक कारणों में से इनमें से किसी एक स्तर का प्रभाव भी हो सकता है, तीनों का सम्मिलित प्रभाव भी हो सकता है। जब भी, जहाँ भी हमारी रीएलिटी की पहचान सन्दिग्ध होती है, तभी वहीं हम मिथक का सहारा लेते हैं, क्योंकि मिथक रीएलिटी की पहचान का हमारा सबसे पुराना साधन रहा है। वह तर्क बुद्धि से कहीं पुराना है : कह सकते हैं कि वही प्राक्तन तर्क है। जब भी हमें 'बीइंग' के बारे में, अपने होने के बारे में, कोई सन्देह होता है—'मैं कौन हूँ', या 'क्या हूँ'—तब हम मिथक का सहारा लेते हैं, क्योंकि 'होने' का ही सबसे पुराना रूप हम मिथक के सहारे पहचानते थे। और जब अपने होने या कि अपने यथार्थ, 'रीएल' होने की रक्षा के लिए हमको शक्ति की जरूरत होती है, तब फिर हम मिथक की ओर जाते हैं, क्योंकि हमारा सबसे पुराना शक्ति-स्रोत भी वही था। यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिए कि साहित्य में मिथक क्यों लौट-लौट कर आते हैं, क्यों पुराने मिथक नये सिरे से प्राणवान् हो जाते हैं, इस बात को हम बिना यह प्रक्रिया समझे समझ ही नहीं सकते। मिथक शक्ति का आदि स्रोत है जिसके मूल में यह प्रक्रिया रही। हमारा होना, हमारा सचमुच होना, हमारा समर्थ होना मिथक के साथ जुड़ा हुआ था, इन तीनों की पहचान भी मिथक के साथ जुड़ी हुई थी। और मिथक के द्वारा ही हम उनकी रक्षा करते थे—अर्थात् नयी सृष्टि करते थे या फिर से उत्सृष्ट होते थे।

संस्कृतियों में बहुत-से रीति-रिवाज हैं जो मिथक के साथ जुड़ते हैं, जाने-अनजाने हमें इसी सत्ता-स्रोत तक ले जाते हैं। ऐसे बहुत-से रीति-रिवाज या

कर्म हैं जो वास्तव में सृष्टि-प्रक्रिया की आवृत्ति हैं, जो आनुष्ठानिक आवृत्ति के द्वारा उस सत्ता का पुनर्नवीकरण करते हैं, उसके साथ-साथ अपना भी नवीकरण करते हैं। मिथकीय तर्क में किसी आदिम प्रक्रिया को दोहराना सिर्फ उसको दोहराना नहीं है, बल्कि उसके सहारे फिर से उत्सृष्ट होना है, नया हो जाना है। यह भी एक बुनियादी बात इन सभी तरह के कर्म-कांड में होती है कि जब हम एक आनुष्ठानिक आवृत्ति करते हैं तो कोरी आवृत्ति नहीं करते, आवृत्ति के सहारे उस मूल परिस्थिति में चले जाते हैं जहाँ वह प्रक्रिया पहली बार हुई थी। इस प्रकार हम वहीं पुनरारम्भ करते हैं, अपना नवीकरण कर लेते हैं। कोई भी संस्कृति ऐसी बहुत-सी चीजों को दोहराती है, उन्हें दोहराने के लिए नहीं, बल्कि उनके सहारे उस आदिम स्रोत तक फिर पहुँच जाने के लिए। मिथक की सत्ता का और मिथक के निरन्तर नया होकर सामने आने का कारण यह भी है कि संस्कृतियाँ उसके सहारे अपना नवीकरण करती चलती हैं।

इस चर्चा के बाद कदाचित् यह अपेक्षित है कि आधुनिक साहित्य से कुछ ऐसे मिथकों के उदाहरण लिये जायें जिन्हें हम जीर्ण हो गये समझते थे, लेकिन जो फिर से नया अर्थ प्राप्त कर रहे हैं। लेकिन मैं आशा करना चाहता हूँ कि पाठक स्वयं ऐसे उदाहरण याद कर रहा होगा और परिचित मिथकों के फिर सक्रिय हो उठने के कारण खोजने को उत्सुक होगा। आधुनिक साहित्य में बहुत-से ऐसे भी उदाहरण मिलेंगे जिनमें पुराने मिथकों को उन लोगों के द्वारा भी फिर से उठाया गया है जो कि सिद्धान्ततः मिथक में विश्वास नहीं करते, जिन्हें धर्म में भी आस्था नहीं है और जो अपने को नास्तिक भी कहते हैं। ये सब भी फिर मिथकों की शक्ति का सहारा ले रहे हैं। बल्कि एक हद तक शायद यह भी पाया जायेगा कि जो लोग नास्तिक होने पर ज्यादा जोर देते हैं, वे ही मिथक को ज्यादा आवश्यक मानते हैं। और यह समझ में भी आता है कि ऐसा क्यों है। आस्था एक बहुत बड़ा सहारा है। अस्मिता की रक्षा के लिए, या किसी तरह के भी आक्रमण से प्रति-रक्षा के लिए आस्था अपने आपमें समर्थ चीज है। जब वैसी आस्था नहीं रहती तब अस्मिता की रक्षा के लिए दूसरे उपकरण की आवश्यकता होती है। इसलिए जहाँ-जहाँ आस्था टूटी है वहाँ पूरे-के-पूरे समाज फिर से मिथक की ओर गये हैं। तो आज के समाज के मिथक की ओर बढ़ने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि जहाँ-जहाँ आस्था के नष्ट होने से समाज अपने को टूटता हुआ पाता है, संस्कृति अपने को अरक्षित पाती है, बाहर से आक्रान्त पाती है या कि व्यक्ति भी अपने को अरक्षित पाता है, वहाँ वह मिथक की ओर बढ़ता है। क्योंकि

मिथक एक आदिम शक्ति का स्रोत है, कभी वह धर्म और मत सम्प्रदाय के काम आता रहा और धर्म में आस्था न रहने पर भी संस्कृति के, समाज के और व्यक्ति के काम आ सकता है।

यहाँ हम मनोविज्ञान की देहरी पर पहुँच गये हैं; यहाँ से आगे मनोविज्ञान में जाना न केवल सम्भव है, बल्कि उधर बढ़ते चलने का प्रबल आकर्षण होता है, लेकिन हम यथा-सम्भव उससे बचना चाहते हैं : साहित्य की सीमा का निर्वाह करते हुए ही चलना चाहते हैं। इसलिए इतना संकेत कर के कि यहाँ से आगे हम मिथक के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में भी जा सकते हैं, हम उस विषय को वहीं छोड़ कर लौट आयें। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों या अनुमानों की चर्चा वहीं तक होगी जहाँ साहित्य की चर्चा में वह संगत या अनिवार्य हो गयी जान पड़े।

यह जो अस्मिता की पहचान की या कि आत्मरक्षा की या प्रतिरक्षा की भावना है, इसे प्रतिरक्षा कहते ही कुछ लोगों के लिए इस आक्षेप का रास्ता खुल जायेगा कि 'यह तो एक प्रतिमुखी दृष्टि है।' लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। समाज के विकास में सामने की ओर देखते हुए भी, आगे बढ़ते हुए भी, प्रतिरक्षाओं की आवश्यकता होती है। क्योंकि हमें अपने को बाहरी आक्रमण से बचाते हुए संस्कृति का विकास करना होता है। प्रभाव ग्रहण करना और विक्रान्त होना एक बात नहीं है। प्रभावों के प्रति भी वे ही मान्यताएँ खुली होती हैं जिनमें आत्मविश्वास होता है—और वह अस्मिता की स्पष्ट पहचान से आता है, इसलिए प्रतिरक्षा की बात से यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह एक प्रतिमुखी, प्रतिगामी, रिएक्शनरी दृष्टि है। बल्कि वैसा मानना तो असम्भव होना चाहिए। आज जो समाज अपने को सबसे अधिक आगे देखने वाला भी मानते हैं, जो पुरानी सब मान्यताओं को—संस्कृति, धर्म इत्यादि सभी को—छोड़ देते हैं, उनके लिए भी मिथक की शक्ति, उनकी सत्ता उतनी ही आवश्यक होती है बल्कि उनके लिए वह और भी ज्यादा आवश्यक हो जाती है। ऐसे समाज कुछ नये मिथक भी रचते हैं। कुछ ऐसे मिथक भी रचने का प्रयत्न होता है जिनके पीछे कोई लम्बा इतिहास नहीं है। इन समाजों में ऐसा भी देखा गया है कि इस तरह के मिथक कुछ थोड़े समय के लिए पूरे समाज को इतना प्रभावित और उद्वेलित कर सके कि उसे किसी खास दिशा में प्रेरित किया जा सके। लेकिन सामान्यतः जिन मिथकों की लम्बी परम्परा नहीं है, प्राचीन काल तक जिनके सूत्र हमें नहीं मिलते, उनको हम थोड़ी देर के लिए नकली ढंग से उभार कर उत्तेजना भले ही प्राप्त कर लें, उनका कोई स्थायी असर नहीं होता। स्थायी असर ऐसे ही मिथकों

का होता है, जिनकी लम्बी परम्परा है। स्थायी सत्ता का विकास उन्हीं में होता है।

मनोविज्ञान की देहरी पर जहाँ हम हैं वहाँ वह ऐसे प्राकृपों की; प्राग्बिम्बों या आर्किटाइप की चर्चा करता है। समूची मानव जाति में ऐसे कुछ आदिम बिम्ब या चित्र रहे हैं जिनका मिथक से सम्बन्ध रहा है और ये बिम्ब ही लौट-लौट कर आते हैं। यह आवर्तन भी अन्वेषण की एक दिशा है। उस दिशा में भी अन्वेषण हो, इसका संकेत देने से आगे जाना वर्तमान सन्दर्भ में आवश्यक नहीं है। साहित्य के सन्दर्भ में भी ऐसी पड़ताल उसकी उपयोगिता हो सकती है; आधुनिक साहित्य में बार-बार इन प्राग्बिम्बों (आर्किटाइप) की चर्चा हुई है, उनका उपयोग करने का भी प्रयत्न हुआ है, लेकिन महत्त्व की बात हमेशा यही है कि इनमें जो सत्ता है—सत्ता इस तिहरे अर्थ में बीइंग के, रिएलिटी के और पावर के अर्थ में सत्ता—उसका नये सिरे से उपयोग करने की प्रवृत्ति वहाँ रही है। सत्ता की पहचान और साहित्य में उसका उपयोग, ये प्रयत्न बार-बार हमें अनेक दिशाओं से अनेक रूपों में मिथक की ओर ही ले जाते रहे हैं। यही साहित्य में उस सत्ता का और मिथक का महत्व है।

हमने आरम्भ में ही कहा था कि अवधारणा हम नहीं करेंगे। और अवधारणा करने का प्रयत्न हमने किया भी नहीं। यह अवश्य है कि जो कुछ कहा गया है उससे पाठक मिथक की अवधारणा की ओर स्वयं प्रवृत्त हो सकता है। साहित्य में मिथक का महत्त्व समझने के लिए शायद वही अधिक उपयोगी भी होगा। मिथक की अवधारणा भी अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग ढंग से होगी—मनोविज्ञान के क्षेत्र में अलग रूप से होगी, धर्म या दर्शन के क्षेत्र में अलग रूप से होगी। साहित्य के सन्दर्भ में उसका जो रूप होना चाहिए वह उसको बिम्ब से या प्रतीक से या पुराण से अलग नहीं करता, उनके साथ जोड़ता है। इसीलिए यहाँ मिथक की चर्चा उसे सन्दर्भ में रख कर ही की गयी है।

डा० रमेश कुन्तल मेघ

मिथक और मनोविश्लेषण

मियक (Myth) और मिथकशास्त्र (Mythology) के सम्बन्ध में इतिहास के दार्शनिकों, मनोविश्लेषकों, धर्मशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, नृवंशशास्त्रियों आदि के विभिन्न मत मिलते हैं। लगभग सभी स्वीकार करते हैं, कि मिथक आदिम मनुष्य की वह 'आदिम मनोवृत्ति' है जो 'प्रतीकों' के महत्व को प्रकट करती है तथा आदिम समाज की कला, विज्ञान, जादू, धर्म, आदि के मूल में केन्द्रित है। मिथकरचना में धारणात्मक तत्त्व और कलात्मक सर्जना के तत्त्व इन दोनों का संयोग है। मिथक धर्म के इतिहास के उद्गम और सर्जनात्मक कार्य के आरम्भिक विकास के मूल स्रोत हैं। ये कभी-कभी तो इतने व्यापक होते हैं कि सभी देशों और सभी कालों में भी 'प्रवहमान बिम्बों' के रूप में संतरण करते हैं। कार्ल जुंग ने सम्भवतः इसी से प्रेरित होकर 'आर्केटाइल बिम्बों' की धारणा को प्रस्तुत किया था। मिथक की आदिम चेतना सामूहिक होती है तथा उसमें 'काल' का बोध नहीं होता। ज्यों ही काल बोध का समावेश होता है त्यों ही 'मिथकीय काल' का 'ऐतिहासिक काल' में रूपान्तर हो जाता है। इस रूपान्तरण के फलस्वरूप इतिहास की देश-कालसंभूत—कुछ सीमा तक वैयक्तिक भी—चेतना प्रकट हो जाती है। ज्यों-ज्यों ऐतिहासिक काल में वैज्ञानिक तर्कवाद का उदय होता जाता है त्यों-त्यों मिथकीय दृष्टि का सम्मोहन लुप्त होता जाता है। इस तरह मानवता आदिम मिथकों से लोककथाओं : निजधर कथाओं, पशु कथाओं, एलीगरी आदि भी : की ओर संचरण करती हुई आधुनिक युग के 'वैयक्तिक काल' में पदार्पण कर चुकी है।

फ्रायड ने मिथकों को समग्र मानव जाति में आमतौर से प्राप्त कुछ मौलिक अवचेतन फंटेसियों का किंचित अवगुंठित प्रतिवस्तुस्थापन माना है। उन्होंने मिथकों के मूल में उनके भेदों-विभेदों तथा नाना अवगुण्ठनों के अन्तराल में एक ही मनोवैज्ञानिक विचारवस्तु मानी है। वह है यौनवृत्ति (Sexuality)। इस स्थापना द्वारा फ्रायड ने मिथकों की अनन्त दिशाओं के कपाट थोड़े-बहुत बन्द-से कर दिये। अपने ज़माने में उन्होंने फ्रेजर, राबर्टसन स्मिथ, डार्विन आदि के मतों को मिला कर अपना मिथक सिद्धान्त दिया था। उन्होंने यह परिकल्पना की कि प्रारम्भिक समाज आदिम समूहों वाला रहा होगा जिसमें सर्वशक्तिमान कुलज्येष्ठ समूह की सभी नारियों पर अधिकार करके पुरुषों पर भी नियन्त्रण रखता होगा। आखिरकार एक दिन युवा पुत्रों ने विद्रोह करके उस 'बूढ़े कुलज्येष्ठ' की हत्या की होगी और सभी नारियों को उसके चंगुल से आजाद किया होगा। यही नहीं, उन लोगों ने मिल कर उसके शरीर को बोटी-बोटी काट कर खाया भी होगा; बाद में आपसी लड़ाई को रोकने के लिए उन्होंने कुछ निषेध (Taboos) भी कायम किये होंगे। इस आदिम कर्म में ही फ्रायड 'मिथक' का मूल मानते हैं। उनके अनुसार इसी कर्म के बाद मनुष्य खुल्लमखुल्ला द्विधा विभक्त हुआ। एक ओर तो उसमें उस बूढ़े पिता के प्रति अगाध घृणा रही, तो दूसरी ओर आशा, प्रीति। इसलिए आदिम समाज ने पिता के प्रतीक रूप में कुछ टोटम (Totem) पशु, पक्षी या वृक्ष नितान्त पूज्य माने। किन्तु दूसरी ओर घृणा की अभिव्यक्ति के लिए उसने वे आदिम कर्मकाण्ड (Rituals) रचे जिनमें उसी पूज्य टोटम की बलि दी गयी और प्रसाद के रूप में सबने उसका भोग किया। मरण और हत्या की आवृत्ति वाले इसी कर्मकाण्ड के विकास स्वरूप कालान्तर में नाट्यकला, नृत्यकला आदि का जन्म हुआ: इसी की वजह से नैतिक निषेधों की नींव पड़ी। इस तरह फ्रायड ने डार्विन की इस प्रकृतवादी कल्पना का सहारा लेकर एक ओर प्रेम और घृणा के शाश्वत मानवीय ध्रुवांत (Polarity) का अनुसन्धान किया, दूसरी ओर निषेधवादी नैतिकता और फलस्वरूप सामाजिक संगठन की भावना का विकास प्रस्तुत किया तथा तीसरी ओर काव्य, नृत्य, नाटक आदि के मूल में इसी यौन भावना से प्रस्तुत कर्मकाण्ड को जोड़ दिया। किन्तु हमारे पास ऐसा कोई भी नृतत्व शास्त्रीय सबूत मौजूद नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि मिथकीय इतिहास में कभी वृद्ध पितामह या कुलज्येष्ठ की इस तरह हत्या भी हुई थी।

इसके अलावा मिथकों की दुनिया के पात्र सार्वभौम हैं—जैसे देवी, वीर

मायक, भयानक राक्षस, शत्रु, अलौकिक देवतादि, प्राकृतिक शक्तियां, चेतन मानव की भांति सचेतन प्रकृति जगत, सर्वात्मवाद आदि। संसार के लगभग सभी देशों के मिथकों का कम से कम इन पात्रों से अवश्य अभिषेक हुआ है। इससे कई निष्कर्ष निकलते हैं—या तो जीवन के अथवा समाज के शैशव में इस तरह की फेंटेसियां सार्वभौम थीं या आदिम मनुष्य को सभी जगह एक ही तरह की आक्रामक (Aggressive), यौनपरक (Sexual) तथा निषेध-मूलक (Incestuous) इच्छाओं से जूझना पड़ा और उनका समाधान इन एक समान मिथकों में प्रस्तुत करना पड़ा या फिर मनुष्य जाति की कल्पनात्मक कल्पना की विधा एक-सी थी। किसी भी रूप में हमें मानवीय चेतना के आरम्भिक स्तर से एक शाश्वत बुद्धि स्थिरांक (I Q.) की कल्पना करनी ही पड़ती है और यह एक अप्रमाणीय मान्यता है। इससे हमें यह भी मानना पड़ता है कि जिस तरह 'स्वप्न' में कुछ स्थिर प्रतीक (Fixed Symbols) सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं, उसी तरह मिथक में भी कुछ स्थिर प्रतीक हैं। जिस तरह स्वप्न के प्रतीक 'अवचेतन' की ओर जाने वाले राजमार्ग हैं उसी तरह के कुछ-कुछ मिथकीय प्रतीक हैं। अतएव हम मिथकों को आदिम मनुष्य के अवचेतन से जोड़ कर पुनः उनकी विराटता को जकड़ लेते हैं। आदिम मनुष्य के मिथक उसके विश्वास थे, उसकी मंत्र-शक्ति नामशक्ति थे, उसके जादू थे, कर्मकाण्ड थे। परन्तु मिथक तत्कालीन नैतिक मन (Super ego) के उदात्तीकरण भी तो थे। इसलिए समाज की आदिम अवस्था और व्यक्ति की अवचेतन अवस्था को एक ही भूमि पर रख कर हम मिथकों में प्रतीकीकरण की समस्या को बेहद उलझा देते हैं। अलबत्ता हम यह कह सकते हैं कि मिथक आदिम मनुष्य के सामूहिक जीवन की गल्पात्मक (Fictional) अभिव्यक्ति हैं। उदाहरणार्थ, यूनानी मिथक के अनुसार अपोलो-देवता डायने नामक सुन्दर देव-बाला का पीछा करता है। यहां केवल उषा के बाद सूर्य के आने वाले मानवीय अनुभव को एक मिथकीय कथा का काव्यात्मक (Mythopoeic) लिबास पहना दिया गया है अर्थात् शब्दों को सर्जक संज्ञाएं दे दी गयीं। हम देखते हैं कि यह किसी भी भाँति एक शुद्ध अवचेतन व्यापार नहीं है। अतः मिथकीय प्रतीक और स्वप्न प्रतीक, दोनों भिन्न-भिन्न ठहरते हैं। इसके अलावा मिथकों के ऐतिहासिक सिद्धान्तानुसार अध्ययन से यह भी नहीं सिद्ध हो सका है कि इनके सभी रूप तथा विभेद मात्र यौनवृत्ति की ही छद्म लीलाएं हैं। कृषि सम्बन्धी कर्मकाण्डों और फसल की उर्वरता वाले उत्सवों से तो अलबत्ता यौन प्रतीकों वाले मिथक अनुस्यूत है। लेकिन

ब्रह्मांड रचना, महाकाल के चक्र में सृष्टि, अन्य नैतिक कथाओं आदि से सम्बन्धित मिथकों के अभिप्राय (Motifs) अधिकतर यौनपरक नहीं हैं। मिथकों की एक कोटि 'जलप्रलय' कथाओं की भी है। सम्भवतः हिम युग के लाखों वर्षों बाद कभी यह घटना घटी होगी, किन्तु यह सम्राट् की शक्ति का भी प्रतीक है। यह अक्सर पुरोहितों के साथ मिल कर फसलों को सींचता था और अपनी जादुई शक्ति से उन्हें समृद्ध कर देता था; इसके अलावा वह 'सृष्टि' का विनाश भी कर सकता था। सिन्धु, नील, फरात आदि नदियों में आयी बाढ़ तत्कालीन आदिम चेतना में जलप्रलय की कथा में साकार हुई। यहां हम इतना ही कहना चाहेंगे कि सभी मिथकों के मूल में यौन-वृत्ति ही नहीं है (जैसा कि फ्रायड मानते थे)।

मिथकों के सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान देने की है कि उनमें नायक या नायिका देवता ही है। ऐतिहासिक सिद्धान्त की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि मिथकों के इतिहास के भी दो चरण माने जा सकते हैं—पहला चरण वह है जब कि राजा या पुरोहित या अतिमानवीय पुरोहित शक्तियां शनैः शनैः अर्ध-देवता से 'पूर्ण देवता' के रूप में रूपांतरित हो जाती रही होंगी। और दूसरा चरण वह है जब ऐतिहासिक सामाजिक चेतना के अभ्युदय के साथ-साथ देवता और महामानव (Great Hero) दोनों ही पात्र बनने लगे होंगे। यहां महामानव देवताओं के अंश अवतार माने गये, या फिर उनकी किसी जादुई शक्ति (वरदान) के उत्तराधिकारी। पहले चरण को 'आदिम मिथकों का समय' तथा दूसरे को 'क्लासिकल मिथकों का समय' कहा जा सकता है। सभी मिथकों के मूल में कुछ मूल हेतु रहे हैं, जैसे, कोई कर्मकाण्डपरक नाटक, कोई एलीगरी आवृत कथा जिसमें मानव सृष्टि अथवा देवशासन आदि का वितरण होता है—कोई ऋतु-चक्रित कृषि-कर्म, कोई आखेट और युद्ध के करतब, आदि आदिम मानवता ने इनका अनुकृतिमूलक या प्रतीकमूलक जादू से अभिधान किया है। इन सभी के फलस्वरूप मिथक में कोई निष्कर्म भलाई निहित मिलती है। इसलिए जुंग को 'सामूहिक अवचेतन' और उससे निसृत 'आर्केटाइपल बिंबों' की परिकल्पना करनी पड़ी। यह परिकल्पना फ्रायडीय प्रतिपत्ति से भी अधिक काल्पनिक है। आर्केटाइपल बिंब लाखों-करोड़ों लोगों के औसत अनुभवों के मनःतात्त्विक (Psychic) अवशेष हैं जो कि मिथकीय घटनाओं में प्रक्षेपित हुए हैं। एक ही कोटि के ऐसे असंख्य अनुभव एक 'प्रतीक' या 'बिंब' की रचना करते हैं और इन अनुभवों को एक कथातन्त्र (Plot) दे दिया जाता है। इन बिम्बों में मानवीय मनोविज्ञान या मानव नियति का कोई अंश होता है जो मिथकीय काल में घटित हुआ

होगा। जुंग इन्हें आत्मा की उस नदी के समान मानते हैं जो बहुत गहरी है और जिसके जीवन का जल अनन्त काल और अनेक देशों में बहता हुआ एक भीम नद बन जाता है। इस प्रकार जुंग ने कुछ अधिक स्पष्टीकरण किये अर्थात् (१) आर्केटाइपल मिथकों के उद्भव केवल यौन प्रतीक ही नहीं, अन्य मनस्तात्विक प्रयोजन भी हैं, (२) बिम्ब समग्र मानव जाति की विरासत है, (३) बिम्बों की रचना आदिम कथा, काव्य नाटक आदि की पद्धति मे हुई है तथा (४) ये बिंब चिरंतन हैं। हम यह भी जानते हैं कि कई फ्रायडवादी नृवंशशास्त्रियों (Anthropologists) जैसे कार्डिनर और रोहेइम ने 'सामूहिक अवचेतन' की धारणा को अस्वीकारा है। किन्तु कुछ मिथकों और बिंबों की सार्वभौमिकता तथा अनन्तता का कारण ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट अवश्य हो जाता है। निरन्तर संचरणशील या विजयगामी अनेक कबीले, अनेक जातियां दूर-दूर देशों तक कई सहस्र वर्षों तक फैलती-मिलती-जुलती चली गयी हैं। उनमें अन्तर्विवाह भी हुए, जिस तरह अन्तर्युद्ध। इस प्रकार मिथकीय विचार विशाल मानवता में फैलते गये। विभिन्न कबीलों ने अपनी 'आदिम संस्कृति' के अनुरूप इनका रूपान्तर कर दिया, किन्तु इनका मूल प्रयोजन कायम रहा। इसीलिए कुछ मिथक सार्वभौम भी हो गये। हम अधिक सुरक्षित नींव पर खड़े हो सकते हैं यदि यह मान लें कि मानव के कुछ मूल उर्वरक विचार बीज (Basic-germinating Ideas) सार्वभौम हैं, जैसे प्रेम, दया, क्षमा, युद्ध आदि। अतः उनकी आदिम संस्कृति की दशाएं भी काफी हद तक कुछ समान तत्वों से पूर्ण रही होंगी। हां, उनके विशिष्ट नायक जरूर व्यक्तिगत संस्कृति के रहे होंगे। इसीलिए मिथकों मे एक समान जैसे तथा विशिष्ट दोनो ही प्रकार के तत्व मिलते हैं। मेरी इस स्थापना के प्रमाण में एक पुरातात्विक तथ्य भी है कि मोहनजोदड़ों की मुहरें फरात-तट पर मिली हैं। कारोमण्डल तट की सीप ब्रिटानी म नूतन-पाषाण युग में मिली हैं। बड़े-बड़े पाषाण-घेरों को भूमियां चीन से लेकर पेरू तक मे मिली हैं आदि। सारांश यही है कि मिथकों के सर्वाङ्गीण अनुभावन के लिए हमें केवल फ्रायड, जुंग तथा रैंक की ही मान्यताओं का नहीं, फ्रेजर, रैग्लान, मैलिनोव्सकी, मार्गरेट मीड, ऐलियाद, क्लाड लेवी स्ट्रास आदि की स्थापनाओं का तथा मार्क्स, मैक्समुलर, केसिरर आदि की सैद्धांतिक विचारधाराओं का भी संयोग करना होगा। मिथक किसी एक राष्ट्र अथवा मानवता, संस्कृति के लेखे-जोखे हैं। मिथक किसी भी समाज की संस्कृति के आधार गठन या संरचना (Structure) को प्रकट करते है, जिसके ऊपर उसके उपकल्पों के कला, धर्म, विज्ञान, कानून, नैतिकता के विपुल ऐश्वर्यों वाले स्वर्णयुगीन महान प्रासाद

खड़े किये गये हैं। मिथकों का जबर्दस्त अन्तर्विरोध यह है कि इनका तर्कशील विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

फ्रायडवादी नृवंशशास्त्रियों के योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता, यद्यपि उसमें बहुत कुछ पूर्वाग्रह तथा एकांगिताएं हैं। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, जुग ने मिथकों में मानव मनोविज्ञान के अन्तर्गत किसी मनोतात्त्विक अवशेष का समावेश किया है। शायद इस स्थापना की प्रेरणा उन्होंने अपने गुरु फ्रायड से ली है, क्योंकि फ्रायड ने यूनानी मिथक शास्त्र की कई कथाओं की मनोतात्त्विक व्याख्याएं (Pshychic interpretations) भी कीं, जिनमें नार्सीसिस की कथा, हर्माफ्रोडाइट की कथा, इलैक्ट्रा की कथा, प्रोमेथिउस की कथा, निम्फ (जल अप्सरा) की धारणा आदि प्रमुख हैं। इन कथाओं के मूल उर्वरक विचार-बीजों का सारांशीकरण करके फ्रायड ने ग्रन्थियों (Complexes) की धारणा का विकास किया। फ्रायड ने इन ग्रन्थियों को सनातन मनुष्य की विरासत और उसके मनोवैज्ञानिक द्वन्द्ववाद का हेतु माना है। इन ग्रन्थियों का उद्भव मानव जाति के आदिम चरण में हुआ है, किन्तु वे हजारों-लाखों साल बाद आज भी मनुष्य के अन्तर्जीवन का संचालन कर रही हैं। अलबत्ता उनका कथातन्त्र वाला भाग विच्छिन्न हो गया है। इन ग्रन्थियों के आधार पर फ्रायड ने 'ओडिपस नाटकवृत्त', 'हेमलेट', 'मेकवेथ' 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' जैसी महान कलाकृतियों के रचयिताओं एवं पात्रों की मनोवैज्ञानिक जीवनियों की झांकी दी है। फ्रायड ने यहां भी एक भारी भूल की। वे इन सभी ग्रन्थियों को मानव जाति की प्रेरक वृत्तियाँ मान बैठे। वे यह भूल ही गये कि इनके विकास में 'विशिष्ट संस्कृति' के गठन का भी महत् परिवर्तमान प्रभाव पड़ता है। इसलिए मलिनोव्सकी को बर्बर समाजों के अपने अध्ययन के आधार पर 'ओडिपस ग्रन्थि' की सार्वभौमिकता का धारणात्मक खण्डन करना पड़ा। स्वयं जुग को भी इनमें से कई ग्रन्थियों की धारणाएं बदलनी पड़ीं। इस प्रकार हम पुनः मिथकों के मनोविश्लेषणात्मक ग्रन्थयन की एकांगिता के आमने-सामने आ पहुंचते हैं।

मिथकीय चेतना के त्रिकाल प्रवाह और मिथकों में निहित मानव के मनस्तत्त्व के अभिज्ञान ने कला के क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति उपस्थित की है जिससे, काफी असहमत होते हुए भी, उदासीन नहीं रहा जा सकता। आज औद्योगिकता में उलझे सभ्य समाज में भी, जहाँ मनुष्य मिथकीय से ऐतिहासिक मनुष्य हो गया है—यद्यपि आदिम मिथकों की नवरचना नहीं हो सकती, उनकी अतिप्राकृतिक प्रकृति हमें विकर्षित कर सकती है, उनकी सर्वात्मवादी दुनिया आज हमारे लिए पूर्णतः विलीन होकर एक सर्वोत्कृष्ट-

मानवतावादी जगत हो चुकी है तथा उनका जादू एक आदिमअन्ध से अधिक कुछ भी नहीं रह गया है, फिर भी अणुरहस्यों तक का ज्ञाता वर्तमान मनुष्य मिथकीय अनुभवों और तदनुरूप मनस्तत्त्वों को संस्कारतः धारण करता चला आ रहा है। पहले पूरा का पूरा समाज मिथकीय विश्वासों में ढला था और आज व्यक्तिगत मनुष्य मिथकीय संस्कारों का अवचेतन आधान करते हैं। मिथकों के 'मूल उर्वरक विचार बीज' आज भी मनुष्य की इच्छा, क्रिया, ज्ञान की दिशाएं तथा कुछ निरपेक्ष अनुभव देते हैं, यद्यपि उन्हें कथातन्त्र देने वाले महामानव का देवतारण जैसे पात्र गतश्री हो चुके है। हमारे प्रेम, मैत्री, क्रोध, हिंसादि के भाव, शत्रु, समाज, सम्राट, नेता, ईश्वर के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएं, परिवार में हमारे आचरण, समाज को संचालित और आन्दोलित करनेवाली ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक धाराएं आदि आज भी हमारे उन तद्विषयक आदिम संस्कारों से काफी ऊर्जा या कुण्ठा, क्रान्ति या अधोगति, उत्थान या पतन ग्रहण करती है। हां, समानान्तर समाज की आर्थिक व्यवस्था इनके प्रति हमारे संदर्शन के आयामों को अनिवार्यतः बदलती रहती है। इसीलिए फ्रायड ने लियोनार्दोन्द-विंची कृत 'मोना-लिसा' के चित्र, माइकेल एंजिलो कृत 'मोजेस' के शिल्प, दास्तोएवस्की कृत 'अपराध और दण्ड' नामक उपन्यास की आमूल सर्वमानवीय गोपनता का नखशिख उद्घाटन किया है। हम मानते है कि यह उद्घाटन बहुत अधिक एकांगी है, लेकिन इसने मिथकों के सनातन संस्कारो को पकड़ने की एक अद्वितीय मिसाल पेश की है। हम ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से फ्रायड की इस अनूठी खोज की पद्धति का अनुकरण करते हुए अत्याधुनिक मनुष्य के मनोविज्ञान में मिथकीय संस्कारों के योगदान पर बड़ी ही आंदोलक स्थापनाएं कर सकते हैं। यहां कम से कम फ्रायड के दिशा दिग्दर्शन को तो मंजूर करना ही होगा।

अन्त में कलाकार की सृजन-प्रक्रिया तथा सौन्दर्यबोधानुभव के संघर्ष के बारे में भी हम अपनी एक-दो धारणाए बताना चाहेगें। हम पाश्चात्य कला में 'सम्प्रेषण' (Communication) तथा भारतीय साहित्यशास्त्र मे 'रसानुभव' के अन्तर्गत 'साधारणीकरण' का चर्चाविलास करते है। क्या सौन्दर्यानुभव चिरन्तन मिथकीय बोध के आधार पर भी समझाया जा सकता है ? मेरे मत से बहुत कुछ। यदि हम पाश्चात्य दार्शनिको तथा भारतीय आचार्यों के विविध दार्शनिक भाष्यों के मूल मे कोई आधार खोजें तो ज्ञात होता है कि सौंदर्यानुभव एक वैपरीत्यमूलक दशा है जो चेतना के कालातीत (Abolition of time) होने पर प्राप्त होती है। हमारी चेतना

ऐतिहासिक बोध की अपेक्षा मिथकीय बोध के कारण कालातीत होती है। अर्थात् हम सामान्य लौकिक वर्तमान दशा से (जो ऐतिहासिक है, इहलौकिक दशा (Profane) है, मिथकीय दशा में पहुंचते हैं अर्थात् हमारी निजी ऐतिहासिक चेतना का अतीतगामी प्रवाह होने लगता है और हम वहां पहुंच जाते है जहां मूल एवं सनातन मनुष्य मात्र की अवचेतना है। इस प्रकार काल की गतिधारा विलीन हो जाती है, यद्यपि बाह्यतः काल-प्रवाह हमें वर्तमान में बांध चुका है। इस प्रकार हम स्थान में अचल रहते हुए भी एक उदास दशा में द्रवीत होते हैं। काल हमारे लिए व्यतीत हो जाता है, वैयक्तिक चेतना आदिम अवचेतना, 'वासना' हो जाती है, विशिष्ट पात्र संभूत देश केवल मनुष्य अनुस्यूत वातावरण हो जाता है। ये सब इस बोध के ही वैपरीत्य (Paradoxes) है। जिस तरह धर्म के मिथकीय उद्गम कर्मकाण्ड (Rituals) है उसी तरह कला के मिथकीय उद्गम कर्मकाण्ड तथा देशकालांतिरंजित सृजनात्मक कृत्य (Creative Acts) हैं। इसी तरह सृजन-प्रक्रिया की मिसाल लें। नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से एक काल विशेष की कला शैली एक प्रकार से सृजन-प्रक्रिया का कर्मकाण्ड ही है। किन्तु इससे भी एक गहरी बात मिलती है प्रेरणा के विषय में। कलाकारों को प्रेरणा देने के हेतुओं पर तो मनोविश्लेषण ने व्यक्तित्वपरक तथा उत्तेजना परक गहरी छानबीन की है। कालान्तर में हम यह कह सकते है कि कलाकार बहुधा एक विशिष्ट प्रकार की प्रेरणा के 'सम्बद्ध प्रत्यावर्त्तन' (Condition Reflex) से निबद्ध हो जाया करता है। यही नहीं, उसकी कथा की विचारवस्तु (Theme) मे भी कोई एकाध 'उर्वरक मिथक' इस प्रकार केन्द्रित हो जाया करता है कि बाद मे नाना भांति के पात्रादि, कथातन्त्र आदि (Plots) रचने के बावजूद वह गोया एक या दो-तीन उर्वरक मिथकों की ही जीवन पर्यन्त पुनरावृत्ति किया करता है। विश्व के बड़े-बड़े और विपुल मात्रा मे रचने वाले कलाकारों में हम ऐसे ही 'कलात्मक उर्वरक' मिथकों को पाते हैं। इसी वजह से तो हम कलाकारों की जीवन दृष्टियों, जीवन दर्शनों, प्रिय विषयो, टाइपगत पात्रों, प्रिय भावनाओं आदि का भी अभिधान कर सकते हैं। यहां मिथक अपने 'मूल कथारूप' को तिरोहित करके 'विचारमूलक प्रेरक रूप' में आसीन हो जाता है और यही स्थानान्तरण बृहत्तर 'युगीन शैली' के अन्तराल में व्यक्तिगत शैलियों का भी विचार करता है, यद्यपि समसामयिक सामाजिक एवं तकनीकी विकासों की भूमिका शनैःशनैः मिथकों की प्रेरक भूमिका से कई गुना अधिक हो जाती है और यह सृजनात्मक मिथकों का एक अन्य जबर्दस्त अन्तर्विरोध है।

डॉ० गो० रा० कुलकर्णी

मिथक और उसकी प्रभावकारिता

आधुनिक युग में विज्ञान की बढ़ती हुई प्रगति के साथ मानवी मन की कुंठाएं भी बढ़ रही हैं। दैनिक जीवन की रूक्षता, मानवी संबंधों की औपचारिकता, धार्मिक अनास्था, भीड़ भरे शहरी जीवन में अजनबीपन, विज्ञान का विनाशक स्वरूप, जीवन की अनिश्चितता आदि कारणों से मनुष्य का मन भयक्रांत हो गया है। सुविधा और समृद्धि के बीच मानवी समाज में बढ़ती हुई हृदयशून्यता एवं हिंस्रता उसके अंतस्थल को चुकती रहती है। विज्ञान-युग के मोहिनी रूप के प्रभाव में मनुष्य ने पारंपारिक धर्म-बंधनों को तोड़ दिया। 'मिथ' को मिथ्या समझा। पुराण-कथाओं को झूठी गपोड़ेबाजी समझा। आज का आधुनिक मनुष्य मध्ययुग से बहुत दूर निकल आया है। उसे वह पुराने धार्मिक रीतिरिवाज, वह धार्मिक जीवन स्वीकारना संभवनीय नहीं रहा। स्वीकारना संभव भी नहीं होगा। किन्तु आज के जीवन की नीरसता, अनिश्चितता एवं भयावहता के कारण वह भ्रमित-सा हो गया है, भयक्रांत हो गया है। मध्ययुग तक मनुष्य को यह आस्था थी कि धर्मावलंबन से जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है। युग बीता, युग की आस्था भी बीत चली। किन्तु नया युग नई आस्था न दे सका। इसके विपरीत वह एक नयी भीषण नीरसता ले आया। खोया हुआ जीवनानन्द प्राप्त करने के लिए आधुनिक मनुष्य ने उत्तेजना के समस्त उपाय ढूंढ़े, किन्तु उसके जीवन का एकाकीपन बढ़ता ही गया। इसीलिए आज के आधुनिक 'सभ्य' मनुष्य की दृष्टि प्राचीन 'असभ्य' मनुष्य की ओर गयी। वह प्राचीन मनुष्य आनन्द से जी भर नाच सकता था, मुँह भर ठहाके लगा सकता था, आँख भर रो भी सकता था।

जीवन की इस उत्क' संवेदना से वंचित आधुनिक मनुष्य पुराने मनुष्य की आदिम प्रेरणाओं को तलाशने लगा और इसी प्रयास में उसे मिथक की अक्षय थाती प्राप्त हो गयी।

मिथक वह परंपरागत कथा होती है, जिसका संबंध अतिप्राकृत घटना या भावना के साथ होता है। मेकडोनल ने कहा है कि मिथक-कथा सम्पूर्ण प्रकृति को चेतन-सत्ता का समूह मानने वाले प्राचीन मानसिक दृष्टिकोण पर आधारित होती है। (१) मानवी संस्कृति के आदिम काल में मनुष्य तथा प्रकृति दोनों एक ही सार्वभौम जीवन में सहभागी थे। उस समय चेतन मानवी मन ने प्रकृति की घटनाओं को और व्यापारों को अपने माध्यम से ग्रहण करने का प्रयास किया। संवेदना को बिंब के रूप में संचित करने की उसकी प्रवृत्ति होती है। उपमा, रूपक, प्रतीक, मानवीकरण आदि इसी प्रवृत्ति से निर्मित होते हैं। मानवी मन ने प्राकृतिक तत्वों को मानवी रूप दिया। ऐसी अवस्था में मनुष्य की काव्यात्मक कल्पना कथा का जाला बुनने लगती है और कालांतर से तथा स्थानांतर से वह विकसित होती जाती है। इस प्रकार मिथक के रूप में एक नाट्य अवतीर्ण हो जाता है। मार्क शोरर ने कहा है कि मिथक हमारे गहरे प्रवृत्त्यात्मक जीवन का नाट्यात्मक प्रस्तुतिकरण है। (२)

मानव ने प्रारंभ में प्राकृतिक तत्वों का मानवीकरण किया, किन्तु उतने से उसे संतोष नहीं हुआ। उसने अब कामक्रोधादि मानवी प्रवृत्तियों को भी मनुष्य-रूप दे दिया। उसने प्रेम, त्याग, श्रद्धा आदि मानवी संभावनाओं को तथा अपने वैचारिक स्फुरणों को मिथकों में बाँधा। ऐतिहासिक घटना और व्यक्तियों के इर्दगिर्द मिथकों की रचना की। धार्मिक कर्मों को मिथकों का रूप दिया गया। मिथक ही मनुष्य की अनुभूति हो गयी और वही उसका स्वभाव भी।

इस अभिव्यक्ति को भाषाविज्ञान की दृष्टि से मैक्समूलर ने 'भाषा की रुग्णता' कहा था। उसके मत में मिथक अशुद्ध एवं विकृत व्युत्पत्ति में से जन्म लेता है जिससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। उसके पश्चात् फ्रायड ने मनोविश्लेषणशास्त्र की दृष्टि से मिथक को 'मानसिक रुग्णता' माना। फ्रायड ने मिथक-अभिव्यक्ति

१। ए. ए मेकडोनल : वैदिक माइथोलाजी (अनु-रामकुमार राय) : पृ० १
२। मार्क शोरर : मिथ एन्ड मिथमेकिंग (सं० एच०. ए०. मरे) १९६८ : पृ० ३५८

को स्वप्न माना। उसके मत में समस्त स्वप्नों की निर्मिति मानसिक विकृति में होती है। फ्रायड के पश्चात कार्ल जुंग ने मिथक की व्याख्या के लिए 'सामूहिक अचेतन' (कलेक्टिव अनकान्शस) का सिद्धांत रखा।

कार्ल जुंग का कहना है कि आदिम मनुष्य ने जो देखा या अनुभव किया उसका उसके मन पर एक बिंब बन गया। इस बिंब को उसने आर्केटाइप (आद्यबिंब) कहा। यह आद्यबिंब मनुष्य के मन में गहराई में उतरा और उसी पर उसने मिथक-कथा बनायी। जिस प्रकार व्यक्ति का अचेतन मन होता है, उसी प्रकार मानवी समाज का एक सामूहिक अचेतन मन होता है। आद्यबिंब इस सामूहिक अचेतन में अनुवांशिक संस्कार बन कर जम गये और मिथक में रूप में अभिव्यक्त हो गये। उसने कहा है, 'मनुष्य के अचेतन मन के ऊपरी स्तर निश्चय ही न्यूनाधिक मात्रा में वैयक्तिक होते हैं। मैं उसे 'वैयक्तिक अचेतन' कहता हूँ। किन्तु यह वैयक्तिक अचेतन उसके नीचे के गहरे स्तरों पर अवलंबित होते हैं। अचेतन मन के ये गहरे स्तर वैयक्तिक अनुभवों पर अवलंबित नहीं होते। वे वैयक्तिक अर्जन भी नहीं होते, बल्कि जन्मगत होते हैं। इस गहरे स्तर को मैं 'सामूहिक अचेतन' कहता हूं। अचेतन मन का यह भाग वैयक्तिक नहीं, बल्कि सार्वत्रिक होता है। वैयक्तिक चेतना से चेतना उसकी भिन्नता दिखाने के लिए मैंने 'सामूहिक' शब्द को चुना है। व्यक्ति का आचरण उसीमें निहित होता है और वही उसके आचरण को ढालता है। न्यूनाधिक यही सर्वत्र और सभी व्यक्तियों में होता है। दूसरे शब्दों में, वही मानवमात्र का परिचय देता है। इस प्रकार वह एक साधारणीकृत चेतना की रचना करता है और हम सबमें विद्यमान निर्वैयक्तिक स्वभाव को बनाता है।' (३)

मिथक को यथार्थ से भिन्न समझा जाता है, किन्तु मिथक में भी यथार्थ की अनुभूति करने का प्रयास होता है। विभिन्न सांस्कृतिक समूह मिथक को सत्यकथा मानते हैं, उसमें पूरा विश्वास रखते हैं। अनेक मिथकों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उनके नीचे भी कहीं ऐतिहासिक सत्य दबा पड़ा है। मिथकीय यथार्थ भौतिक यथार्थ न होकर मूलतः सांस्कृतिक यथार्थ है। यह सांस्कृतिक यथार्थवादी दृष्किोण मनुष्य को अनुभूति के एक नये स्तर पर ले जाता है। मनुष्य उस मिथकीय अनुभूति को पुनः प्राप्त करना चाहता है और इसी प्रक्रिया में मिथक कथा बतायी जाती है अथवा खेली जाती है। सी० ए० बरलेंड ने कहा है, 'यथार्थ का प्रतिबिंब होने की अनुभूति होने के साथ बतायी जानेवाली और कई बार खेली जानेवाली

३। सी० जी० जुंग : फोर आर्केटाइप्स : १९७४ : पृ० ३

कथा 'मिथक' है।' ४ इस प्रकार पुराण-कथाओं का पठन होता है, कथन भी होता है, तो कभी वे अभिनीत भी की जाती हैं। जैसे रामलीला, रासलीला, दशावतारलीला।

यद्यपि मिथक किसी सत्य का कथन करता है, तथापि उसमें बौद्धिक संगति नहीं होती। उसकी अपनी एक विशिष्ट कथन-पद्धति होती है, जिसमें विलक्षण और जीवन्त चित्रात्मकता होती है। मिथक में विचार-तत्त्व भी होता है, किन्तु वह अद्भुत ढंग से रखा जाता है। जैसे रामकृष्णादि देवता अजन्मा होते हैं, किन्तु जन्म लेते हैं और फिर भी वे अयोनिसंभव होते हैं। कर्ण जैसे पुरुष स्त्री-पुरुष मिलन न होते हुए भी जन्म लेते हैं। देवकी के गर्भ की स्थापना रोहिणी के उदर में होती है। मिथक में अमर देवता मर्त्य मानव बन कर आते हैं। झगड़ते हैं, युद्ध करते हैं। अपने प्रिय व्यक्ति को विजय दिलाते हैं। उसके लिए पक्षपात करते हैं। अप्रिय व्यक्ति को दंडित करते हैं। वे मृत को जीवित करते हैं। किसी को स्वर्ग देते हैं। उनके संतान होती है।

मिथक में क्या देवत्व धारण करेगा, कहा नहीं जा सकता। कोई प्राणी (गोमाता, नागदेवता, मत्स्यभगवान, वराह भगवान), अर्द्ध मानवी प्राणी (गणेश, नृसिंह, हनुमान, हयग्रीव), बहुमुखी देवता (ब्रह्मा, दत्तात्रेय), अशरीरी अस्तित्व (कामदेव), अजीवित अस्तित्व (पितर), धरती (भूदेवी), जल देनेवाले मेघ (इन्द्र, वरुण), सरिता (गंगामैया), इतिहास-पुरुष (राम, कृष्ण), सांस्कृतिक नेता (अगस्त्य, राम, कौंडिण्य), धर्म संस्थापक (बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य, रामानन्द, कबीर), ऋषि-मुनि (वसिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज), वैद्य (धन्वंतरी, अश्विनी कुमार), पर्वत (हिमाचल, विंध्याचल), वनस्पति (तुलसी, अश्वत्थ) इत्यादि असंख्य व्यक्ति, वस्तु या प्राणी अलौकिक रूप धारण करके मिथक-कथा का नायक-नायिका बनते हैं।

किन्तु सबसे विलक्षण बात है कि इस अलौकिकता के बीच ये मिथक-चरित्र मानव सदृश्य गुणावगुणों से युक्त होते हैं। वे कामी-क्रोधी होते हैं, ईर्ष्यालु होते हैं, झगड़ालू होते हैं, डरते हैं, चिन्ता करते हैं, छल-कपट करते हैं, निर्दयता बरतते हैं। संक्षेप में, मिथक-चरित्र अलौकिक होते हुए भी उन्हें मिट्टी का स्वाभाविक गुण-धर्म लग ही जाता है। मनुष्य में जो कुछ अच्छा-बुरा होता है वह सारा मिथक-चरित्र में होता ही है। उसके अतिरिक्त ऐसा भी कुछ होता है, जिसकी ललक मानवी मन को होती है। मानवी आशा-

४। सी० ए० बरलैंड : मिथक ऑफ लाइफ एण्ड डेथ : १९७६ : पृ० १

आकांक्षाएँ यद्यपि अपूर्ण होती हैं, फिर भी वे उसके जीवन का अभिन्न अंग बन कर उसका पूरा चित्र बनाती हैं। इसीलिए मियक कथा के चरित्र जन्म लेकर भी अजन्मा होते हैं, पाप-कर्म करके भी निर्लिप्त होते हैं और इसीलिए दूर होकर भी निकट होते हैं।

आदिम मानव संपूर्ण विश्व को अपना सचेतनत्व प्रदान करके उसके विराट व्यापार में सहभागी हुआ था। उस समय उसके मन को जो भाया, उसकी बुद्धि ने जो पाया, उसकी कल्पना ने जो चितारा और उसकी आकांक्षा ने जो फूँक दिया वह सारा उसने मिथक में पिरो दिया।

मियक मनुष्य के पूर्वजों की जीवन-यात्रा की गाथा है। प्रत्येक पीढ़ी स्वभावतः उसमे सहभागी होना चाहती है। जाने-अनजाने अपने पूर्वजों की वह अनुभूति स्वयं करने की गूढ़ लालसा मनुष्य में होती है। वह वैसी संवेदनाएँ अपने में जागृत करके अनंत, अज्ञात एवं अखंड मानवता से एकरूप होना चाहता है। जब मनुष्य आचार से मिथक में सहभागी होता है, तब धार्मिक कृत्यों का निर्माण होता है। [जैसे, शान्ति-कर्म तथा उपनयन में पुनर्जन्म (द्विजत्व) के साथ परिष्कृत जीवन (रिफाइन्ड लाइफ) की प्राप्ति सूचित है; दीपप्रज्वलन यज्ञ का संक्षिप्त रूप है, तीर्थ-यात्रा तथा मेले में जाना पूर्वजों की आस्था जगाना है।] जब मनुष्य विचार से मिथक में सहभागी होता है, तब दर्शन का उदय हो जाता है। [जैसे, द्वैत-अद्वैत, प्रकृति-पुरुष, माया, लीला] और जब वह मन से मियक में सहभागी होने लगता है तब साहित्य, ललित-कला तथा धर्म के भावात्मक स्वरूप का उदय होता है। दूसरे शब्दों में, मानवी समाज के मियक में होने-वाले शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक सहभाग से जो कुछ निर्माण होता है, उसी को हम संस्कृति के नाम से पुकारते हैं।

मियक की सत्ता जीवन के समस्त स्तरों पर प्रभाव करती रहती है। साहित्य का उसके साथ निकट सम्बन्ध है। आदिम मनुष्य अपने अचेतन मन के संस्कार मिथक में व्यक्त करता है। उसी प्रकार साहित्यकार भी अपने अचेतन मन के संस्कारों को वाणी देता है। मियक एवं साहित्य की रचना-प्रक्रिया समान है। दोनों में सार्वभौम अनुभूति व्यक्त होती है। फिर भी दोनों में भिन्नता है। मियक में किसी राष्ट्र के सामूहिक अचेतन की अभि-व्यक्ति होती है। वह एक 'सामूहिक स्वप्न' होता है, तो साहित्य में साहित्य-कार के वैयक्तिक अचेतन की अभिव्यक्ति होती है। वह एक 'वैयक्तिक स्वप्न' होता है, स्यात् उसमें सामूहिक स्वप्न का अंश हो सकता है।

सभी युगों के लेखकों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए मियक का आश्रय

लिया है। मिथक केवल प्राचीन या मध्ययुगीन साहित्य का मूलाधार नहीं है। आधुनिक कला की उच्च कोटि की साहित्यिक कृतियों का भी उपजीव्य मिथक ही है। आज का लेखक आधुनिकता के दबाव में मिथक की सत्ता बाह्यतः नकारता है, किन्तु अनजाने वह मिथक का ही ग्रहण करता रहता है। मिथक में निहित शाश्वत एवं युग-युग से स्वीकृत मानवता का जीवन-दर्शन आज भी हमारे चित्त को तुष्ट करता है। मनुष्य की अमर जीवनाकांक्षा ने मिथक को भी अमरता प्रदान की है। इसीलिए वे प्रत्येक पीढ़ी के द्वारा पुनरुज्जीवित होते हैं और अपनाये जाते हैं। भारत के जनमानस में मिथक की जड़ें अंतश्चेतना की गहराई तक पहुँच गई हैं। हमारे मंदिरों के शिल्पों में, गुफा-भवनों के चित्रों में, नृत्य के पदन्यासों में, संगीत के स्वरों में, साहित्य की कृतियों में—सर्वत्र मिथकों की अनंत राशि बिखरी पड़ी है। प्रत्येक युग के कवि अपने प्रतीकों, रूपकों तथा कथा-वस्तुओं के लिए मिथक से उपकरण जुटाते आये हैं। कार्ल जुग ने सत्य ही कहा था कि महान कला अब तक अपनी सार्थकता अचेतन की प्रतीकीकरणविधि के द्वारा मिथक से प्राप्त करती आयी है, जो पुरातन मानवी चेतना के प्रकटीकरण के रूप में युग-युग से अनवरत चलती आयी है और जो भविष्य में भी सभी सृजनों के मूल में अवश्य रहेगी। (५)

मिथकीय संदर्भ में साहित्यिक कृतियों के बारे में और एक बात चिंतनीय है। साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों में मिथक पाया जाता है। ऐसी कृतियाँ समकालीन संदर्भ होते हुए भी कालजयी बन जाती हैं। ऐसा क्यों होता है ? कार्ल जुंग के सिद्धांत के अनुसार मिथकीय साहित्य में आद्यबिंब (आर्केटाइप्स) होते हैं। वे आद्यबिंब जन्मजात संस्कार होते हैं। वे संस्कार सार्वभौम तथा सार्वत्रिक होते हैं। इसीलिए हमें आकृष्ट करके हममें निर्वैयक्तिक संवेदना जगाने की अपार क्षमता उनमें होती है। इसी शक्ति को हमारे यहाँ रस-सिद्धांत में 'विभावना' कहा गया है। अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण का सिद्धांत रखते हुए कहा था कि स्थायी भाव अनादि वासना के संस्कार बन कर मानवी मन में स्थित होते हैं। कार्ल जुग द्वारा प्रतिपादित मानवी मन में संस्कार रूप में स्थित आर्केटाइप्स तथा रससिद्धान्त में स्वीकृत अनादि संस्कार स्वरूप स्थायी भाव—दोनों में विलक्षण समता दिखाई देती है। मिथक पर आधारित साहित्य की व्यापक प्रभावकारिता इन्हीं अनादि संस्कारों से निष्पन्न होनेवाली रसास्वादिता मे नहीं है क्या ? यदि ऐसा हो तो क्या हम मान लें कि पश्चिमी साहित्य-मीमांसा में स्वीकृत आर्केटाइपल अप्रोच रससिद्धांत को आधुनिक आयाम देता है ?

५। कार्ल जुंग : दि अनडिस्कवर्ड सेल्फ : १९६० : पृ० १२२

जो हो, इतना निश्चय है कि मिथक की विराट सत्ता मूलभूत संवेदनाओं को जाग्रत करके अनादि एवं अनंत मानवता से तादात्म्य होने की अनुभूति हमें करा देती है। पुरातन सनातन बनता है और सनातन अद्यतन बन आता है। इस प्रकार काल की सत्ता को बाधित करने की सामर्थ्य मिथक में अर्थात मानवी सवेदना में है।

डा० गंगाप्रसाद विमल

मिथक और प्रतीक

मिथ या मिथक प्राचीन मनुष्य के सृजन-विज्ञान के वे सूत्र हैं जिनसे एक ओर हम प्राचीन मनुष्य की दुनिया के बारे में जानते हैं तो दूसरी ओर अपने रचनागत विकास में अतीत की इस सम्पदा को एक अपरिहार्य अनुप्रेरणा के रूप में पाते हैं। प्राचीन मिथकों में कितना मिथ्यातत्व है और कितना इतिहास—इसके अन्वेषण, अनुमान और विवेचना में असंख्य विद्वान लगे हुए हैं, किन्तु यह एक महत्तम सत्य है कि प्राचीन मिथकों के द्वारा हम तक अतीत अब भी अत्यन्त आसानी से संचरित हो रहा है। पुरा कथाओं या इतिहास कथाओं के अतिरिक्त जातीय गौरव के अनेक चिह्न इसी मिथकीय प्रभामण्डल से आलोकित हैं। 'मियकों' की मात्रा अत्यन्त दिलचस्प खोज हो सकती है, क्योंकि समय के प्रवाह के साथ मानव सर्जना के मिथक पुराकथाओं से होते हुए भाषा और व्यवहारगत प्रतीकों में आज भी मनुष्य के लिए अपनी अनिवार्यता कई रूपों में स्पष्ट करते हैं। मिथक और प्रतीक अपनी रचनात्मक निर्मिति में अत्यन्त निकट हैं और एक - दूसरे के वस्तुगत रूप में संक्रमण भी करते रहते हैं। इसीलिए कई मिथक प्रतीकधर्मी होकर मिथकीय प्रतीक हो जाते हैं तो कई प्रतीक अपने प्रतीकरूप को ध्वस्त कर 'मिथकों' में रूपान्तरित हो जाते हैं।

मिथकों की पारिभाषिक स्थिति समझने के लिए प्रतीकों की रचना को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इस निबन्ध में मिथक और प्रतीकों के अन्तर्सम्बन्धों के अन्वेषण के लिए मिथकों के आदिम रूप और प्रतीकों के परिव्याप्त रूप पर इसी कारण विचार करना अनिवार्य जान पड़ा है। अतः

आरम्भ में मिथकों की रूपगत स्थिति और फिर प्रतीकों की रचना पर विस्तार से विचार वस्तुतः मिथकों की विस्तृति पर ही विचार है। आशय यह है कि 'मिथक' ही अपना रूपान्तरण कर व्यवहारगत प्रतीकों में— जहाँ उनके मिथकीय सूत्र संकेतित हैं—कला, साहित्य और संस्कृति के दूसरे रूपाकारों में विविध रूपों में व्यवहृत होते हैं।

प्रागैतिहासिक काल से आदिम इतिहासकाल की मिथक रचना के मूल तत्व प्रतीक और बिंबधर्मी गुण हैं जो मिथक को विचार और चित्रात्मक स्थिति देते हैं। मिथकों की मूलतः दो दिशाएँ हैं, एक सृजन सम्बन्धी परिकल्पनाओं की तथा दूसरी विस्तार सम्बन्धी पुरावृत्तों की। इन दो दिशाओं के अन्तर्गत मानव मस्तिष्क का आश्चर्यजनक सृजन विद्यमान है।

मिथकों का पहला क्रम सृजन मिथक है। (१) सृष्टि और अवचेतन मुख्य निर्धारक तत्व हैं और वे ही 'मिथक की वस्तु' बनते हैं। (२) संसार में कोई भी परिचित संस्कृति 'मिथकहीन' (३) नहीं है। सृजन मिथक के पश्चात् दूसरा क्रम 'चरितनायक' (४) मिथकों का आता है। सृजन मिथक के अन्तर्गत सृष्टि की उत्पत्ति की गाथाएँ आती हैं। वस्तुत: विश्व की उत्पत्ति का मूल प्रश्न मानव उत्पत्ति का मूल प्रश्न भी है। (५) सृजन मिथकों में इन आदिम जिज्ञासाओं के अनेक रूप मिलते हैं, किन्तु यह आश्चर्यपूर्ण है कि मिथकीय कथाओं के अन्तर्गत मिथकवृत्तों के इन प्रश्नों का उत्तर प्रतीकात्मक है। (६) मिथक साहित्य किसी न किसी रूप में विचित्र प्रतीकों की रचना करता है तथा उत्पत्ति सम्बन्धी कथाओं को विस्तार देता है। इस सम्बन्ध में सभी नृतत्वशास्त्री एक मत हैं कि समग्र संसार में विचित्र स्तर पर मिथकों में समानता है।(७) संसार के लगभग सभी मिथकों में सृजन, प्रलय आदि कथावृत्त मिलते है और उनके कथाक्रमों में समानता के अंश मिलते हैं। इस सन्दर्भ में जोसेफ कैम्पबेल का कथन अत्यन्त विचारपूर्ण है कि 'मिथक शास्त्रों' का तुलनात्मक अध्ययन हमें मानवता के सांस्कृतिक इतिहास को एक इकाई के रूप में देखने के लिए बाध्य करता है, क्योंकि हम अग्नि कथाओं, बाढ़, वृहदमत्स्य, स्वयं उत्पत्ति तथा चरितनायकों के पुनरावतार की कथाओं के विवरण सभी जगह पाते हैं। (८) मिथक शास्त्र की उत्पति के स्रोत आदिम-समुदाय में देखे जा सकते हैं। वहाँ ईश्वर और आदमी में ज्यादा दूरी का भाव नहीं है। देवताओं का मुखौटा लगानेवाला कर्मकाण्ड के दौरान देवता माना जाता है। वह उस क्षण स्वयं ही ईश्वर होता था। (९) आदिम मनुष्य की इस वृत्ति का साक्ष्य फ्रोबोनिस ने 'द फोर्स ऑफ डेमानिक वर्ल्ड ऑफ चाइल्डहुड' में दिया है। (१०) फ्रोबोनिस के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि ईश्वरत्व

का आरोपण किसी भी वस्तु में किया जा सकता है। गन्धर्वतन्त्र में कहा गया है जो कि स्वयं दैविक नहीं है वह देवत्व की पूजा नहीं कर सकता।

सृष्टि और मानव की प्रथम उत्पत्ति के बारे में अनेक आश्चर्यजनक तथा रोचक मिथकों की सर्जना हुई है। 'ईश्वर ने जो पहला युगल पैदा किया उसमें प्रथम पुरुष तथा प्रथम स्त्री थी'। (११) ईश्वर ने आदेश दिया कि उनके लिए आवास बनायें। जब आवास बन गया तो प्रथम पुरुष और प्रथम स्त्री अन्दर गये। ईश्वर ने उनसे कहा कि 'अब पति-पत्नी की तरह रहो।' इसके पश्चात विराट बाढ़ आती है। (१२) यही कथा अनेक धार्मिक ग्रन्थों, लोककथाओं में थोड़े-थोड़े परिवर्तित रूपों के साथ अवतरित होती है। प्लेटो ने दार्शनिक आधार पर इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'स्रष्टा ने सृष्टि का निर्माण पूर्ण और समान रूप देकर किया है।' (१३) भारतीय और यूनानी तथा चीनी धार्मिक ग्रन्थों में सृजन की ऐसी ही अनेक गाथाएँ हैं। एक चीनी कविता के अनुसार 'स्वर्ग और पृथ्वी के अस्तित्व से पहले 'कुछ था' जो रूपहीन था। वही स्वर्ग के नीचे सब चीजों की जननी है। (१४) भारत में ऋग्वेद से लेकर उपनिषद्-पुराणों और परवर्ती कथाओं में 'सृजन' सम्बन्धी कथाओं के विभिन्न रूप मिलते हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है (१५) :

तमिद गर्भं प्रथमं दध्रआपो यत्र देवाः समगच्छन्तविश्वे,
अजस्ये ना भावध्येकमर्पितं यस्मि न विश्वानि भुवनानि तस्थुः।

'अर्थात अण्ड को पहले जल धारण करता था जहाँ विश्वदेव स्थित थे। सत्य, रज, तम की साम्यावस्था के मध्य 'वह एक था' जिसमें पूर्ण भुवन ठहरे थे।' ऋग्वेद में ही हिरण्यगर्भ से उत्पति का उल्लेख भी मिलता है। (१६) वृहदारण्यक उपनिषद् में जल की ही सर्वप्रथम उपस्थिति का उल्लेख है। (१७) जल ने बीज का सृजन किया और सत्य ने ब्रह्म का, ब्रह्म में प्रजापति विद्यमान थे। प्रजापति ने फिर देवों की रचना की। (१८) वायुपुराण में प्रसंग है कि 'पुरुष के अधिष्ठान के कारण अव्यक्त प्रकृति की कृपा से महत्त पदार्थ अण्ड को उत्पन्न करते हैं। अण्ड सहसा जल के बुदबुदे के समान उत्पन्न हुआ।' (१९) शतपथ ब्राह्मण में जल प्लावन की कथा विस्तार से मिलती है। 'संवत्सर बीत जाने पर पुरुष प्रकट हुआ और वह प्रजापति था।' (२०) सृजन मिथकों में 'विचार तत्व' अत्यधिक रहस्यावृत है। इसी कारण वह विचित्र प्रतीत होते हैं। परन्तु ठीक ऐसे ही सृजन मिथक मानव की चेतना में हर ओर फैले हुए हैं। थेल्टिक मिथक में मां और पुत्र के संयोग की कथाएँ हैं, यूनानी मिथक में पिता और पुत्री तथा हिन्दू मिथक क्षेत्र में भाई और बहन के संयोग से सृष्टि की उत्पति की कथाएँ हैं। (२१) मध्यकालीन साहित्य में कबीर ने भी इस

सृजन मिथक (२२) का अपने काव्य में प्रयोग किया है। सृजन मिथक का विस्तार धर्म-विज्ञान में व्यापक रूप से हुआ है। मिथक शास्त्र को धर्म का अंग भी (२३) माना गया है। धर्म और संस्कृति की अविच्छिन्नता स्वीकार करनेवाले कुछ लोग 'संस्कृति को धर्म का एक अंग' (२४) मानते हैं। परन्तु यहां एक भेद करना होगा कि धर्म और संस्कृति, दो भिन्न इकाइयाँ हैं, यद्यपि अतीत में वे एक-दूसरे पर 'पराश्रित' थीं। इस अन्तर्सम्बन्ध को दो सूत्रों से समझा जा सकता है—एक तो 'संस्कृति' सभ्यता या स्थूल शब्दों में कहें विज्ञान के द्वारा संज्ञा पाती हैं तथा धर्म सभ्यता या विज्ञान के ही समान एक कारक है जिसमें संस्कृति संवहित होती है। दूसरा समीकरण 'मिथक' के द्वारा स्पष्ट होता है—मिथक एक सांस्कृतिक अवधारणा को संरक्षित रखता है, किन्तु धर्म जब उसका कर्मकाण्ड की तरह 'इस्तेमाल' करता है तो वह अर्थ छवियों के विस्तार की बजाय विचार या विश्वास में संकुचित हो जाता है। कालान्तर में ये ही मिथक प्रतीकों में रूपान्तरित होकर कभी अर्थ विस्तार करते हैं कभी जड़ हो हो जाते हैं। मिथकों के पूरे प्रारूप, उनके रचनासूत्रों को प्रतीकों की विस्तृति में समझा जा सकता है, क्योंकि प्रतीक एक प्रकार से विस्तार मिथक ही हैं जिनमें मानव संस्कृति, धर्म, सभ्यता और विश्वास के अनेक कथावृत्त तैरते हैं। आज यद्यपि उनके 'अर्थप्रसार' के दूसरे कारण भी मौजूद हैं, तथापि उनकी रचना के लिए व्यापक स्तर पर जो आधार उत्तरदायी हैं उनका अध्ययन अपने आपमें विस्तार मिथकों का ही रोचक अध्ययन है। हमारे इस अध्ययन में प्रतिनिधि प्रतीक विस्तार मिथकों का एक रूप हैं जो कभी जातीय प्रतीकों में मिलते हैं तो कभी आदिम मनुष्य के शेष क्रिया-व्यवहारों में। इन प्रतीकों की अर्थ सम्बन्धी अन्तर्धाराओं में मिथक चेतना प्रवाहित रहती है। यदि हम सूत्र रूप में इस चेतना के प्रवाह का अवलोकन करना चाहें तो सबसे पहले हमें संस्कृति एवं सांस्कृतिक प्रारूपों के बीच मिथक यथा प्रतीकों की स्थिति से परिचित होना पड़ेगा। संस्कृति, जिसका मानव-सापेक्ष अध्ययन नृतत्वशास्त्र करता है, जीवन-सापेक्ष प्रतीकों को संरक्षित करती है। इस प्रकार नृतत्व-शास्त्र न केवल भाषा प्रतीकों का अध्ययन करता है, अपितु मनुष्य के अवचेतनीय प्रतीकों, रहन-सहन के प्रतीकों, अव्यवहार प्रतीकों, 'निर्माण' प्रतीकों और अनुकरण में आये हुए प्रतीकों का भी अध्ययन करता है। नृतत्वशास्त्र इन्हीं प्रतीक-अवधारणाओं के आधार पर आदिम मनुष्य की आरम्भिक संस्कृति का परिचय देता है। प्रतीक अनुकरण-क्रियाओं तथा अभिरुचियों से विकसित होकर मानव-व्यवहारों के विस्तृत क्षेत्र में प्रसार पाते है। आदिम मनुष्य की अभिरुचियों का साक्ष्य आदिम मनुष्य का शिल्पी मस्तिष्क है, जिसकी अभि-

व्यक्ति आदिम-संस्कृति अवशेषों में उपलब्ध है। वस्तुतः ये प्रतीक अधुनातम खोजों पर आधृत पुरातात्विक सामग्री से लिये गये हैं जिनके आधार पर नृतत्व-शास्त्री, इतिहासकार आदिम मनुष्य की संस्कृति का अनुमान तथा अध्ययन करते हैं। इस सामग्री से एक विशिष्ट काल के मानव समुदाय की जीवन पद्धति का परिचय मिलता है। उस समुदाय की अभिरुचियाँ, स्वभाव, शिल्प, संगीत आदि कलाभिव्यक्तियों, भवन, द्वारों, दीवालों पर अंकितचिह्नों में अभिव्यक्त उनकी धर्म, आस्था, विश्वास आदि दृष्टियां तथा चित्रों में मृत्यु, भय, त्रास की अभिव्यक्तियाँ उन मान्यताओं की परिचायक हैं जो समुदाय-संस्कृति की संज्ञा पाती हैं। धीरे-धीरे संस्कृति संज्ञा के ये आरम्भिक तत्त्व एक युग से दूसरे युग में हस्तान्तरित होते हैं तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में आकर रूढ़िरूपों में विशिष्ट अर्थ-निश्चय (अर्थस्थापन) करते हैं। यही अर्थ-निश्चय भाषा ध्वनियों द्वारा निर्मित शब्दों के व्यावहारिक प्रतीक है। गाय (दो ध्वनि टंकारों से मिश्रित) शब्द से एक विशिष्ट पशु का हमें तुरन्त बोध होता है। 'गाय' इस आधार पर प्रतिरूप या प्रतिनिधि प्रतीक है। यही प्राथमिक भाषा प्रतीक समुदायों में से प्रेषित होकर युग विशेष की अर्थ-अवधारण तथा उपयोगिता का बोध देते हैं। 'गाय' शब्द या गाय पशु चित्र अथवा किसी भी अन्य पशु-पक्षी के चित्र जहां किसी पुरातात्विक सामग्री खंड में उपलब्ध होते है, वे प्रागैतिहासिक युग की अथवा इतिहास युग की प्रतीक विद्या, जादू क्रियाओं और मिथकों-सम्बन्धी अनेक तथ्यों को प्रकाशित करते हैं। वस्तुतः प्रतीकों के अन्यान्य रूप नृतत्वशास्त्र की सांस्कृतिक धारा-सम्बन्धी अध्ययन के संकेन्द्रित बिन्दु हैं।

सामान्य रूप से मानव-संस्कार की प्रक्रिया को संस्कृति कहते हैं। (२५) सांस्कृतिक विकास धारा संस्कृति के गत्यात्मक चरित्र की साक्षी है। संस्कृति व्यक्ति द्वारा सामाजिक सदस्य के नाते उपार्जित सक्षमताएं और स्वभाव है। (२६) रीति, रिवाज, ज्ञान, शिल्प, युद्ध और शान्ति में पारिवारिक और लोक-जीवन, धर्म, विज्ञान तया कला आदि को संस्कृति के अंतर्गत माना जाता है तथा संस्कृति अतीत के अनुभवों का नयी पीढ़ी में बहुविधि संचरण है। (२७) सस्कृति वह सब है जो अजैविक है तथा सामूहिक रूप से एक समाज में प्रेषित है जिसके अंतर्गत कलात्मक, सामाजिक, वैचारिक और धार्मिक व्यवहार रूपायन तथा वातावरण को नियंत्रित करने की पद्धतियाँ आती हैं। (२८) मैलिनोवस्की के अनुसार संस्कृति के अंतर्गत मनुष्य के कलानिर्माण, वस्तुएं, प्रौद्योगिक प्रक्रियाएं, विचार, स्वभाव तयामूल्य आते हैं। (२९) संस्कृति को समग्र रूप में केन्द्रित अर्जित व्यवहार-पुंज तथा व्यवहार रूपायन कहा जाता है। (३०)

संस्कृति पूर्ण रूप से मानव अनुलक्षण है। (३१) जैसा कहा गया है, संस्कृति मानव-सापेक्ष है, सस्कृति का कोई अध्ययन मानव की उपेक्षा करने से सम्भव नहीं हो सकता। शारीरिक इच्छाओं के वृत्त से लेकर मानसिक उपलब्धियों तक की यात्रा में संस्कृति मानव विकास तथा मानव क्रिया-व्यवहारों में प्रतिफलित होती है। भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक परिवर्तनों के अनेक खण्ड संस्कृति चक्र में परिवर्तन देते रहे हैं। दूरस्थ भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक परिवर्तनों की विशिष्ट संज्ञा रूप में (३२) संस्कृति अपना रूप बनाती रहती है। संस्कृति के उस प्रतिनिधि रूप या रूपायन के अंतर्गत विशिष्ट मनुष्यों के वर्ण-गत, जातिगत, स्वभावगत क्रियाऽव्यवहारों का अध्ययन किया 'जाता है। संस्कृति के जातीय, भौगोलिक अथवा वैचारिक अथवा काल-प्रवान वैशिष्ट्य के कारण हम उसकी विशेष संज्ञा से परिचित होते हैं, चीनी, मिश्री या भारतीय संस्कृति नामों, मध्यकालीन, आदिकालीन कृषककालीन, मजदूर संस्कृति आदि रूपों में नामांकित होती है। नामांकन की यह प्रक्रिया अत्यंत शिथिल होती है। नामांकन की प्रक्रिया जब नाम के स्थायित्व की प्रौढ़ता पाती है तब इतिहास-युग में एक नया अध्याय जुड़ता है, साथ ही तुलना की तथा नयी संस्कृति के नये मोड़ की चेतना जागती है। 'संस्कृति...परिस का मानव निर्मित भाग है। संस्कृति निर्माण की क्षमताएँ मानव प्रवृत्ति से मिली हैं, परन्तु संस्कृति स्वयं संपूर्णतः मानव की रचना है। ३३ इस तरह हम संस्कृति निर्माता मानव के इतिहास द्वारा संस्कार प्रक्रियाओं (उन्नयन प्रक्रियाओं) में प्रयुक्त 'प्रतीकवत' व्यवहारों का अध्ययन कर मनुष्य के रचनाशील मस्तिष्क के बारे में जान सकते हैं कि मनुष्य 'मस्तिष्क का सृजन' विकास की किन दिशाओं में से होकर गुजरा है।

'संस्कृति के सर्वभौमत्व' के सम्बन्ध में हर्सकोवित्स (३४) ने सांस्कृतिक एकताओं की चर्चा की है। इन सांस्कृतिक एकताओं के बीच हम मनुष्य मस्तिष्क की समान क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति देखते हैं, उनमें रक्षात्मक प्रवृत्ति, क्षुधातृप्ति आदि अनेक ऐसी क्रियाएँ है जिनके लिए समान रूप से सभी भौगोलिक सीमाबद्ध मानव समूहों को संघर्ष करना पड़ा है। यहीं से मानव मस्तिष्क के आदिम विश्वास 'सुरक्षा-भावना' का भी परिचय मिलता है। आदिम मनुष्य अपने आरम्भिक सांस्कृतिक जागरण काल में समुदाय के रूप मे क्रियाओं को संपन्न करता था। इन्हीं समूहगत क्रियाओं के साक्ष्य नर कंकालों, उजड़े हुए आवास स्थलों और शिल्पकलाओं के अवशेषों में अप्रकट रूप से विद्यमान हैं। मनोविज्ञान मानव-मस्तिष्क की क्रियाओं और मानव स्वभाव के अनुसंधानों के आधार पर आदिम मनुष्य-सम्बन्धी धारणाओं

को पुष्टि देने में लगा हुआ है। संस्कृतियों की 'मनोवैज्ञानिक एकता' उस अध्ययन-अनुसंधान का आधार है। नृतत्वशास्त्रियों ने पुरातात्विक सामग्री तथा समाजशास्त्रियों ने समूह की क्रियाओं के आधार पर इस सम्बन्ध में कार्य किया है। नृतत्वशास्त्री इस दृष्टि से मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, कलाशास्त्रों की उपेक्षा नहीं करता है। प्रागैतिहासिक मनुष्य उन्हीं आधारों पर जाना जाता है जो वह काल के हाथों दे गया है तथा वह रूढ़ियाँ सीधे या परम्पराओं द्वारा हम तक संप्रेषित हो गयी हैं। (३५) हमें उसका स्वभाव, मस्तिष्क दशाएं आदि अब भी अपनी जीवन-विधि तथा रीति-रिवाजों में मिलती हैं। आदिम मनुष्य की मस्तिष्क क्रियाएं सरल क्रियाओं के अनुरूप थीं और धीरे-धीरे, पर संस्कृति प्रवेश द्वारा उनमें जटिलता के वे अंश आये जिनका प्रकाशन प्रतीकों द्वारा सहल हो जाता था। आदिम मनुष्य के मस्तिष्क के अन्वेषण के उपरान्त यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि मनुष्य की तमाम क्रियाएं या तो धार्मिक हो जाती थीं या उनका रूप वह किसी प्रतीक में डाल लेता था। वस्तुतः ये प्रवृत्तियाँ कालांतर में ऐतिहासिक परिवेश में आकर मिथकों, रूढ़ियों और विश्वासों के प्रतीक रूपों में हस्तान्तरित हुईं।

'टोटेमवृत्त' मनुष्य मस्तिष्क के विश्वास, भय आदि के साक्ष्य हैं। टोटेम संज्ञाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी मनुष्य समूहों में आदिम क्रियाएं और विश्वास प्रवाहित करती हैं। कहीं-कहीं तो ये टोटेम परिवार और रक्त सम्बन्धों से भी अधिक प्रभावशाली होते हैं। आदिम मनुष्य की समूह क्रियाओं को समझाने में 'टोटेमवृत्त' बहुत अधिक सहायक है आदिम मनुष्यों के विश्वासों की झलक इन्हीं सीमित टोटेमवृत्तों में देखी जा सकती है। और ये ही 'विश्वास' आधुनिक काल तक मिथकों और प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

आदिम मानव एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखा जा सकता, क्योंकि आदिम मानव इतिहास की सामग्री के अध्ययन के पश्चात एक समूह धारणा का विकास होता है, व्यक्ति का नहीं। समूह की क्रियाएं 'आरंभिक समाज के स्वरूप' का निर्धारण करती हैं। व्यक्ति जब एकान्त 'निष्पापत्व' (अबोधता) से मुक्त होकर सरल तथा क्रमिक रूप से जटिल समाज संस्था में आया, उसमें सामाजिक होने के आरंभिक बोध का जन्म अवश्य हुआ। यही आरंभिक बोध मूल प्रवृत्तियों की चेतना का जागरण है। मूल प्रवृत्तियाँ जीवनेच्छा के केन्द्र से जुड़ी हैं। मृत्यु से बचाव जीवन की मूल इच्छा है और 'आत्मरक्षा' मूल प्रवृत्ति है। यहाँ इच्छा और मूल प्रवृत्ति में भेद जान लेना आवश्यक है। मूल इच्छा अनुभूत, स्वाभाविक होती हुई भी परंपरा और अनुभवों से विच्छिन्न नहीं है, जबकि मूल प्रवृत्ति मृत्यु और जीवन के दो

प्रवान्तों के बीच मानव-कार्य व्यवहार को प्रेरित, संचालित करनेवाली अकृत्रिम प्रवृत्ति है।

मनुष्य में वर्तमान 'पशु प्रवृत्ति' को मूल प्रवृत्ति के समानान्तर समझा जा सकता है। आदिम मनुष्य में मूल प्रवृत्ति का सरलतम रूप था और वह धूप के उत्तेजन से बचने के लिए छाया की ओर दौड़ता था तथा इस तरह एक आधार परितृप्ति पाता था। मूल प्रवृत्तियों के अब तक अनेक वर्गीकरण किये गये हैं। वर्ण, भौगोलिक स्थिति तथा अशिक्षा के तीन आधारों पर किये गये वर्गीकरण अब मान्य नहीं हैं। मूल प्रवृत्तियों का सर्वमान्य वर्गीकरण और स्वीकृत आधार अब तक सामने नहीं आया, क्योंकि लोगों ने मूल प्रवृत्तियों को ईश्वर के अस्तित्व का साक्ष्य (३६) माना है और किसी ने पूर्ण सन्तुष्टि की क्रिया। यहां तक कि जिज्ञासा को भी मूल प्रवृत्तियों का आधार एक वर्ग-समूह की आदतों, प्रतीक रचनाओं इत्यादि के अध्ययन के लिए स्वीकार किया गया है। मूल प्रवृत्तियों का संस्कृतीकरण और उदात्तीकरण संस्कृति धारा की प्रक्रिया की अनिवार्यता है। आदिम प्रवृत्तियों का विकास जीवन्त शरीरयन्त्र तथा चेतना के महत्त्वपूर्ण विकास से सम्बद्ध है। (३७) सम्भवतः संस्कृति विकास यात्रा में आदिम प्रवृत्तियों के विकास (परिवर्तन) का यह अंश उपेक्षित नहीं रहता। मूल प्रवृत्तियों के अनावश्यक, अस्वीकृत क्रिया-प्रभाव अंश को वर्जित कर संस्कृति उनके उदात्त की परिकल्पना को जन्म देती है। इस संदर्भ में यह मान करीं चलना चाहिए कि मूल प्रवृत्ति की मूल इकाई अपरिवर्तनीय है। केवल मूल प्रवृत्तियों के बाह्य रूप तथा सामान्य संज्ञाओं से जुड़े अचेतनीय तत्वों की अभिव्यक्ति के रूपों और माध्यमों में संस्कृतीकरण प्रक्रिया चलती है। उदात्तीकरण अर्जित शैक्षणिक शक्ति, प्रतिभा आदि का उपार्जित रूप है।

मूल प्रवृतियों की उदात्तीकरण (३८) प्रक्रिया स्पष्ट और सीधी नहीं होती। उदात्तीकरण की इस प्रक्रिया में अमूर्त प्रतीकों का व्यवहार जटिलता का आरम्भ करता है। अनेक माध्यमों के प्रतीक (भाषा, मुद्रा, संकेत) मूल प्रवृत्ति के उदात्त स्वरूप की अभिव्यक्ति देते हैं। ये प्रतीक कभी-कभी उदात्तीकरण की प्रक्रिया से उत्पादित होते हैं तथा कभी-कभी मूल प्रवृत्तियों के 'असंस्कृत' को 'संस्कृत' रूप देने के दौरान साक्ष्य रूप में प्रकट होते हैं। पर संस्कृतीकरण नये संसर्ग में आकर अर्थबोध में रूढ़ि का प्रतिनिधित्व त्याग कर नवीनता प्रस्तुत करते हैं। पर संस्कृतीकरण में एक संस्कृति का विस्तार तथा प्रभाव, दूसरी संस्कृतियों में संकोच तथा उनका विस्तारमूलक संस्कृति विलयन तथा विस्तारमूलक संस्कृति में हस्तान्तरित कर जाने की प्रक्रिया में

प्रतीक रूपों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस तरह उदात्तीकरण की प्रक्रिया में उदात्त प्रतीकों का विनियम चलता है।

आदिम साहित्य या आदिम कलारचना लिखित रचना नहीं है, इसलिए 'आदिम साहित्य' नामक कोई साहित्य नहीं है (३९)। कई विद्वानों की इस मान्यता का भी पालरेडिन ने खंडन किया है। पालरेडिन का विचार कि है सृजन मौखिक रूप में भी प्रसार पाता है तथा जन कंठों में लोक-साहित्य के रूप में भी प्रसार पाता है तथा जन कंठों में लोक-साहित्य के रूप में शताब्दियों तक जीवित रहता है। मौखिक रूप में उसके जीवन की यह तीव्रता (उस सृजन के) कथात्मक प्रतीकों की जीवनदायिनी शक्ति पर निर्भर करती है। जैसे-जैसे प्रतीक मरता जायेगा लोक सृजन का वह साक्ष्य भी जन कंठों में आकर्षण खोकर विलीन होता जाएगा। (४०) सांस्कृतिक प्रारूप का अधिनियंत्रण जब तक एकांत भाव से तीव्र रहेगा तब तक सांस्कृतिक प्रारूप में स्वीकृत प्रतीक अपना अर्थ नहीं खोता। मौखिक भाषाओं के (अलिखित) रूप आज भी पिछड़ी जातियों (अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका, पूर्वीय द्वीपसमूह, उत्तरक्षेत्रों, ध्रुवों के समीप के क्षेत्रों) में पाये जाते हैं। उनके लोकगीत, कला रूपों आदि में प्रतीक रचना भिन्न-भिन्न है। एक विद्वान का कथन है कि पिछड़ी जातियों के कला-रूप और साहित्य उनकी शिल्प और औज़ार निर्माण की चेतना के साथ-साथ चलते हैं। यह कहना उपयुक्त होगा कि कला रूपों के प्रतीक जीवन व्यवहारों, निर्माण और शिल्प क्रियाओं के प्रतीकों के अत्यन्त निकट हैं। आदिम जातियों की कला-चेतना पिछड़ी जातियों द्वारा ग्रहीत नृत्य भंगिमाओं, सामूहिक परम्पराओं, नृत्यों, गृह कलाओं, शरीर सज्जाओं, रूप सज्जाओं, कहावतों, सामूहिक गीतों तथा मूल प्रवृत्तियों के उदात्तीकृत प्रतीकों में आज भी संरक्षित है।

आज के 'भाषा प्रतीक' में 'थीमेटिक' प्रवृत्ति की जटिलता तथा आरम्भिक भाषा प्रतीकों की प्रतिनिधित्व-अर्थ की सरलता का अन्तर सभ्य समाज और सभ्यता के दूरस्थ समाज की प्रतीक रचना का अन्तर है। आदिम समूह की मूल प्रवृति सामूहिक घृणा, सामूहिक द्वेष, सामूहिक युद्ध, सामूहिक हास्य, सामूहिक मनोरंजन, सामूहिक क्षुधा के रूप में प्रतीक रचना करती है। अनक्षर समाजों में संगीत, लोकनाट्य और लोकवार्ता के विभिन्न स्वरूपों में ही इन प्रतीकों के परिवर्तित रूप पाये जाते हैं। यद्यपि हम यह मानते हैं कि मनुष्य द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का चुनाव मनमाना (एक पक्षीय) है किन्तु साथ ही यह अपनी रचना में नियमित

है (४१), यह नियमित स्वरूप मूल प्रवृत्तियों के उदात्तीकृत प्रतीकों में पाया जा सकता है। सांस्कृतिक प्रभावों का या संस्कृतीकरण के कारण उदात्त प्रतीकों का एक और स्वरूप सामूहिक पूजा, सामूहिक यज्ञ, सामूहिक अनुष्ठानों में मिलता है। वे सामूहिक यज्ञ, पूजादि प्रतीकवत क्रियाएं हैं जिनका अर्थ धार्मिक, आध्यात्मिक अर्थों में, बौद्धिक जटिलताओं के संसर्ग से बदल गया है।

इस सम्बन्ध में सभी नृतत्वशास्त्री एकमत हैं कि आदिम समाज की सभी बौद्धिक क्रियाएँ सामूहिक (सामाजिक) क्रियाएँ थीं। उदाहरणार्थ मारण-मन्त्र का अन्वेषण व्यक्ति-बुद्धि और आवश्यकता का परिणाम है, किन्तु मन्त्र के पूर्ण विकास में समूह के अनुभवों का क्रमागत योग अवश्य होता है। अन्य निर्माण कार्यों में भी आरम्भिक चरण एक व्यक्ति-बुद्धि द्वारा उठाया जाता है, तदुपरान्त पूरा समूह उसे पूर्णता और सफलता की ओर ले जाता है। आदिम मानव की ये क्रियाएँ और व्यवहार तथा सामूहिक अनुभव जब भाषा या संकेतों में अभिव्यक्ति पाते हैं तो वे प्रतीक रूप ग्रहण करते हैं। भाषा के इन प्रतीकों में विश्वास प्रतीक, समाज के क्रिया प्रतीक और सज्जा प्रतीकों को धारणाएँ समाहित होती हैं। मनुष्य की यह प्रतीक-विधान रचनाएँ इतिहास पूर्व समयों तक उपलब्ध हैं। प्रागैतिहासिक मानव समुदाय की इस प्रतीक धारणा के साक्ष्य पुरातात्विक सामग्री में मिल जाते हैं। भूतत्वशास्त्रीय सामग्री, जीवशास्त्रीय सामग्री तथा उपलब्ध पुरावशेष मिल कर पुरातात्विक सामग्री की उपलब्धि उन विभिन्न पुरावशिष्ट नगरों, घरों अथवा आदिम निवासस्थलों में होती है जिन्हें उनके निवासी बहुत समय पहले छोड़ चुके होते हैं तथा वे मिट्टी की परतों अथवा परतदार चट्टानों के तल में दब चुके होते हैं। यह पुरातात्विक सामग्री आदिम जीवन-सम्बन्धी अनेक परिकल्पनाओं का आनुमानिक एवं अंशत· प्रामाणिक आधार देती है। पुरातात्विक सामग्री—(१) प्रस्तर खण्ड, (२) अस्थि खण्ड, (३) प्रस्तर अस्त्र, (४) परतदार चट्टानों के भीतर दबे जीवावशेष, (५) शरीरधारियों के आकार (चिह्न), (६) भित्ति चित्र, (७) सज्जा-सम्बन्धी वस्तु अवशेष, (८) व्यवस्था सम्बन्धी चिह्नावशेष इत्यादि उपलब्ध अवशेष मनुष्य जीवन के आरम्भिक समय के सम्बन्ध में अन्वेषण-आधार बनते हैं। ये अवशेष मनुष्य के कार्यों और मनुष्य के मस्तिष्क की क्रियाओं के (आनुमानिक) साक्ष्य हैं। प्रागैतिहासिक काल से आदिम मानव समुदाय की इतिहास यात्रा के साक्ष्य—(१) अर्थधारणा, (२) प्रतीक धारणा तथा (३) बिम्ब रचना-सम्बन्धी तथ्य भी देते हैं। बहिर्साक्ष्य के रूप में पुरातात्विक सामग्री के अतिरिक्त अन्य प्रमाण

नहीं है जो प्रस्तुत किये जा सकें। प्रागैतिहासिक काल के जीवन की सभी धाराओं का विकास और उस काल के मनुष्य-मस्तिष्क का स्वरूप इन्हीं अवशेषों पर आधृत है। इन अवशेषों से जिस इतिहास की रचना होती है उसे नितान्त अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। मानव मस्तिष्क के प्रभाव धीरे-धीरे पीढ़ियों द्वारा हस्तानान्तरित होते रहते हैं तथा इन्हें उदात्तीकरण अथवा संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में भाषा द्वारा अभिव्यक्ति मिलती रहती है। भाषा की वही अभिव्यक्ति 'प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति' कही जाती है। अनक्षर समाजों में भाषाओं (बोली जानेवाली भाषा-बोलियों) का अध्ययन यह सिद्ध करता है कि भाषा प्रतीक 'जीवन-प्रतीकों' के ही समान रूप थे। जीवन-व्यवहारों के प्रतीकों को संस्कृति के प्रतीकों के सन्दर्भ में यही समझा जा सकता है। शूमेकर ने कहा भी है कि संस्कृति के प्रतीकों की प्राप्ति भाषा प्रतीकों में ही होती है। (४२) पुरातात्विक सामग्री आकार, आयतन, विस्तार, रूप, प्रवृत्ति और परिवर्तन चक्र के अनुसार भिन्न होती है। पुरातात्विक सामग्री के प्रतीक भी इस आधार पर भिन्न होते हैं। ये प्रतीक संस्कृति परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते हैं। जोसेफ कैम्पबेल ने ठीक ही कहा है कि पुरातत्व संस्कृति के आरम्भिक रूपों का परिचय पाने के लिए पहली सीढ़ी है। (४३) यहाँ से हम अनुमान लगा सकते हैं कि आरम्भिक मनुष्य प्रकृति-संकेतों के कुछ अर्थ निकालता भी होगा। (४४) वस्तुत पुरातत्व अपने ही ढंग से मनुष्य की प्रतीक विधि का विवेचन करता है। पुरातत्व के सन्दर्भ में थॉमस मान ने (४५) कहा है कि जितना ही अधिक हम मनुष्य की बुनियादों को पाने का यत्न करेंगे, उसका इतिहास और उसकी संस्कृति अपनी अथाह अगाहता का रहस्योद्घाटन करेगी। यह कह कर प्रागैतिहासिक काल की अलिखित परम्पराओं को हम इतिहास युगों में लिखित रूप देते हैं। इन आधारों पर 'प्रतीक पुरुष' की परिकल्पना की जा सकती है। यह 'प्रतीक पुरुष' विशिष्ट जाति (समूह) की जातिगत, वर्णगत, व्यवहारगत, स्वभावगत तथा सामान्य प्रतिक्रियाओं के वैशिष्ट्य के फलस्वरूप विकसित कलाचेतना के रूप में 'संस्कृति' (चेतना) में निर्वाह पाता है। 'प्रतीक पुरुष' निश्चित युग की प्रतीक अवधारणाओं का पुंज है तथा ये प्रतीक अवधारणाएँ एक संस्कृति विशेष के प्रतीक हैं। पुरातत्व नृतत्वशास्त्र की वह शाखा है जो (इन) संस्कृतियों का ऐतिहासिक पुनर्निर्माण करता है विशेष रूप से उन संस्कृतियों की जो शेष नहीं हैं, (४६) क्योंकि पुरातत्व (जैसा कि हमने पहले कहा है) अपने लिए उन अवशेषों को सामग्री के रूप में चुनता है जो किसी संस्कृति विशेष के प्रतीकावशेष भी हैं।

आदिम प्रतीक धारणा के अवशेष मानव व्यवहारों के आवेगात्मक स्तर हैं। ये आवेगात्मक स्थितियाँ पूर्वजों द्वारा किसी न किसी रूप में प्रभाव रूपों में अवशिष्ट हैं तथा धीरे-धीरे संस्कारित रूपों में मानव व्यवहारों में (व्यवहारों की पुनर्रचनाओं में) पुनरावृत हो जाते हैं। दृश्य रूपों में प्रतीक अवधारणाएँ भित्तिचित्रों, प्रस्तर-यंत्रों आदि के प्रतीकों में उपलब्ध हैं। ये प्रतीक आदिम मनुष्य के कार्य-व्यवहार और निर्माण-कार्यों की आनुमानिक स्थिति झलकाते हैं। वस्तुतः पूरी संस्कृति ही मनुष्य की व्यवहार-क्रियाओं की संरक्षक है तथा मनुष्य की व्यवहार-क्रियाएं ही संस्कृति कहलाती हैं। (४७) आदिम जातियों के वंशधर, जो किसी न किसी रूप में पुराने प्रभावों को लिये हुए हैं, आज भी सभ्य समाजों की कार्य-व्यवहार-दिशाओं से भिन्न हैं। उनकी निजन्धरी कथाओं में, लोक साहित्य, लोक नृत्यादि में आदिम संस्कृति की प्रतीकधारा का स्वरूप विद्यमान है। निजन्धरी कथाएँ तो कबीलों के इतिहास का एक रूप है। (४८) कबीलों के इस कथापरक इतिहास में 'प्रतीक पुरुष' के मूलरूप की झलक देखी जा सकती है। आदिम मनुष्य शिकारी और प्रारंभिक कृषक हैं, (४९) उसका यह प्रभाव अब तक भी विविध रूपों में दूरस्थ पिछड़ी जातियों में विद्यमान है। 'मनुष्य की यह चेतना, एक समुदाय की चेतना उनका जीवन क्रम निर्धारित नहीं करती....किन्तु इसके विपरीत सामाजिक जीवन उनकी चेतना को निर्धारित करता है।' (५०) आदिम समुदायों के सम्बन्ध में मार्क्स के इस कथन को उद्धृत करते हुए सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री हर्सकोवित्स भी इसका समर्थन करते हैं।

प्रतीक वस्तुतः सामूहिक संरचनाएं हैं। अपने पूर्ववर्ती मिथकीय प्ररूपों की तरह ही वे एक पीढ़ी के सर्जनात्मक अनुभवों की निर्मितियां हैं। प्रतीकों के इस विस्तृत अध्ययन का हमारा लक्ष्य केवल यह सिद्ध करना था कि प्रतीकों की निर्मिति 'विस्तार मिथकों' का रूपान्तरण है जो अनेक इतिहास समयों में विद्यमान रहता है तथा मनुष्य के सभी अनुभवों को एक सूत्र में या संकेत या चिह्न में संग्रथित कर उनकी मिथकीय चेतना को एक जाति से दूसरी जाति, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में देता रहता है। प्रतीक और मिथक किस प्रकार संस्कृति, कला, भाषा को अर्थ देते हैं—यह अलग अध्ययन का क्षेत्र है, किन्तु वे मानव व्यवहारों के अलिखित इतिहास भी हैं—उनकी रचना की पीठिका में मनुष्य का सर्जनात्मक मस्तिष्क कितना सक्रिय रहता है, आज हम अपनी सर्जनात्मक गतिविधियों में उसकी उपस्थिति का वही गतिमान रूप देख सकते हैं, यदि हम 'मिथक और प्रतीक' के अन्तर्सम्बन्धों को सही परिदृश्यों में अन्वेषित कर सकें।

संदर्भ

(१) द फर्स्ट साइकिल और मिथ इज क्रियेशन मिथ—द ओरिजिन एण्ड हिस्ट्री आफ कॉंशसनेस: एरिक न्यूमान : पृष्ठ ५
(२) वही : पृष्ठ ५
(३) दे० 'रिकरेन्ट थीम्स इन मिथ एण्ड मियमेकिंग' (डियाडलस स्प्रिंग १९५९ में इसी शीर्षक का क्लायड क्लुकहोन का लेख)
(४) द ओरिजिन एण्ड हिस्ट्री आफ कांशसनेस : पृष्ठ ५
(५) वही : पृष्ठ ७
(६) वही : पृष्ठ ७
(७) क्लुकहोन द्वारा स्ट्राउस उद्धृत (डियाडलस स्प्रिंग १९५९)
(८) द हिस्टारिकल डेवलपमेन्ट आफ माइथालॉजी--जोसेफ कैम्पवेल (डियाडलस स्प्रिंग १९५९ में इसी शीर्षक का लेख) ।
(९) वही
(१०) वही
(११) द ट्री आफ लाइफ : संपादक रुथ स्मिथ : पृष्ठ २४
(१२) वही : पृष्ठ २४-२५
(१३) जोसेफ कैम्पवेल द्वारा प्लेटो उद्धृत (डियाडलस स्प्रिंग १९५९)
(१४) जोसेफ कैम्पबेल द्वारा टाओ टेह् चिंग की कविता उद्धृत
(१५) ऋग्वेद ॥ १० । ८२ । ६ ॥
(१६) ऋग्वेद ॥ १० । १२ । १ ॥
(१७) 'आप एवेदमग्र आसुः'—वृहदारण्यक उपनिषद ॥ ५ । ५ । १ ॥
(१८) ता आपः सत्यं सृजन्त । सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम, प्रजापति देवानाम । वृहदारण्यक उपनिषद ॥ ५ । ५ । १ ॥
(१९) पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तनुग्रहेण च ।
महदादयो विशेसान्ता अण्ड मुत्यादयन्ति ते ॥ वायुपुराण
(२०) शतपथ ब्राह्मण ॥ ११ । १ । ६ । १ ॥
(२१) दे० डियाडलस में क्लुकहोन कृत निबन्ध (डियाउलस स्प्रिंग १९५९)
(२२) तब ब्रह्मा पूछा महतारी । को हम पुरुष कौन तुम नारी ।
तुम हम, हम तुम और न कोई, तुम मम पुरुष तुहर हम जोई ॥
(२३) एन इन्ट्रोडक्शन टु माइथालॉजी : ल्यूइस स्पेन्स : पृष्ठ १३
(२४) अण्डरस्टैंडिंग अदर कल्चर : इनाकारिने ब्राउन : पृष्ठ ८
(२५) वही : पृ० ३

(२६) डिक्शनरी आफ एन्थ्रापालाजी : सी० विनिक : पृ० १४५
(२७) गुस्ताव क्ले उद्धृत, वही : पृ० १४४-४५
(२८) वही : पृष्ठ १४४
(२९) मैन एण्ड कल्चर : रेमण्ड फर्थ : पृ० १६
(३०) मैन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड : ई० ए० बोइबल : पृ० ७
(३१) वही : पृष्ठ १५
(३२) माइन्ड आफ द प्रिमिटिव मैन : एफ० बोआस : पृष्ठ ८७
(३३) मानव और संस्कृति : डा० श्यामाचरण दुबे : पृष्ठ ७३
(३४) सांस्कृतिक मानवशास्त्र : एम० हर्सकोवित्स : पृष्ठ १०७
(३५) टोटेम एण्ड टैब्यू : फ्रायड : पृष्ठ १
(३६) 'इंस्टिक्ट एज ए डाइरेक्ट प्रूफ आफ द एक्जिस्टेंस आफ गाड' (दे० डि-
याडलस का १९६३ का ग्रीष्म अंक : पृष्ठ ५६४
(३७) द न्यू सायकालॉजी एण्ड इट्स रिलेशन टु लाइफ : ए० जी० टांसले
पृष्ठ ५१-५२
(३८) हिन्दी साहित्य कोश : डा० धीरेन्द्र वर्मा संपादित : पृष्ठ ६०३
(३९) दे० प्रिमिटिव लिट्रेचर पर पाल रैडिन का लेख ; डायोग्नीज न० १०
(४०) द माइण्ड आफ प्रिमिटिव मैन : फ्रांज बोआस : पृष्ठ २०९
(४१) सांस्कृतिक मानवशास्त्र : एम० हर्सकोवित्स : पृष्ठ २९३
(४२) एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स एण्ड द ह्यूमेनिटीज : फ्रांसिस शूमेकर : पृष्ठ ६५
(४३) हिस्टारिकल डेवलपमेन्ट आफ माइथॉलाजी (डियाडलस स्प्रिंग १९५९
में लेख)
(४४) वही
(४५) डियाडलस स्प्रिंग १९५९ में थामस मान उद्धृत : (उपर्युक्त लेख)
(४६) डिक्शनरी आफ एन्थ्रापालाजी : सि० विनिक : पृष्ठ ३५
(४७) अण्डरस्टैंडिंग अदर कल्चर, ब्राउन : पृष्ठ ६
(४८) वही : पृष्ठ ७२
(४९) दे० डियाडलस स्प्रिंग १९५९ में जोसेफ कैम्पबेल का लेख
(५०) सांस्कृतिक मानवशास्त्र : एम० हर्सकोवित्स द्वारा उद्धृत : पृष्ठ १५९

नन्दकिशोर मित्तल

मिथक और संस्कृति

मिथक—पहले मौखिक थे। फिर हमारी श्रव्य परंपरा (श्रुतियों) के अंग हुए। इसके बाद लिखित रूप में अस्तित्व में आये। पर उनकी मौखिक परंपरा अलग से लोक जीवन में सदा मुखरित रही। यह लोक जीवन ही है, जो मिथकों को नया जीवन देता है या मिथक जिससे संजीवन ग्रहण कर गतिशील रहते हैं।

इस प्रकार मिथक इतिहास से अलग हमारी श्रुतियों, पुराणों, महाकाव्यों और लोक कथाओं में जीवित रहते हैं। उसी तरह ये हमारी कला-विधाओं में विषय और अभिव्यक्ति के रूपाकारों के रूप में हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अंग बने हुए हैं। इसकी गवाह हमारी शास्त्रीय नृत्य शैलियां हैं। लोक और लीला नाट्य विधाएं हैं। इन्हें हम अपनी मूर्तिकला और चित्रकला में, सजीव आकृतियों के रूप में देख सकते हैं। ये ही मिथक हमारे प्राचीन और अर्वाचीन काव्यों और महाकाव्यों में विषय वस्तु और विचारों के रूप में स्पंदित हैं। इस तरह ये मिथक (अनेक स्तरों पर) आज के हमारे जन-जीवन का सजीव यथार्थ हैं।

इतिहास ने या इतिहास में जब-जब विदेशी आक्रमणों और दासता ने हमारी चेतना को पराजय, अपमान और क्रूर प्रतिबंधों से कुचलने की कोशिश की है, तब-तब इन मिथकों ने हमारे राष्ट्रीय चरित्र को अभिव्यक्ति दी है। पर इस अभिव्यक्ति ने शायद ही कभी दूसरों की संस्कृति, दर्शन और विचारों का अपमान किया हो।

हमारा देश सदियों तक विदेशी दासता के तले रहा है। इसके जैसी

अवस्थाओं में हम अपने अनुभवों और अनुभूतियों को स्पष्ट शब्दों में कहने में असमर्थ थे। ऐसे समय में इन मिथकों या पुराण कथाओं के काव्यात्मक रूपकों एवं परंपरा से प्राप्त प्रतीकों के जरिये हम अपने अनुभवों को साकार करते रहे हैं।

कोई चाहे 'रामचरितमानस' के मिथकीय ढांचे को कितना ही 'प्रतिक्रियावादी' या 'पुनरुत्थानवादी' क्यों न कहे, पर इस यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता कि जब विदेशी शासक मारीशस और फिजी द्वीप-समूहों में गन्ने के खेतों में काम करने के लिए हमारे देशवासियों को मजदूर (या गुलाम) बना कर ले गये थे, तब उनके साथ यह 'रामचरितमानस' भी गया था। इसी मिथकीय महाकाव्य ने उन्हें अपनी जातीय चेतना और मूल चरित्र को नहीं भूलने दिया। यह महाकाव्य ही उनके दमन के घने अन्धेरे में भी संस्कृति का प्रकाश बना रहा। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हमारे १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के सांकेतिक प्रतीक थे—कमल, कृपाण और रोटी। ये तीनों ही प्रतीक हमारे मियकों से जुड़े होने के कारण किसी विश्लेषण के बिना ही बहुत कुछ कहते हैं। ये तीनों प्रतीक अपनी समग्रता में एक होकर आज भी हमारे जन मानस को उद्वेलित करते हैं। क्योंकि ये प्रतीक किसी न किसी रूप में वैदिक युग से लेकर आज तक हमारी स्मृतियों के (श्रुतियों के) अंग बने हुए हैं। कमल, स्रष्टा ब्रह्मा का आसन है। कृपाण, जगत जननी भवानी का रूप है। और अन्न (रोटी) को वृहदारण्यक उपनिषद में ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार संस्कृति जब किसी संघर्ष से जुड़ जाती है, तब वह किसी का व्यक्तिगत विरोधी न रह कर अन्याय और क्रूरता के विरुद्ध मानवीय संघर्ष की मिथकीय परम्परा का अंग बन जाती है।

इसी मिथकीय चेतना और परंपरा ने हमारे स्वाधीनता संग्राम को मानवीय मूल्यों और न्याय के व्यापक अर्थ दिये। इसी चेतना के जरिये संकट और संघर्ष के कठिन समय में हमारी जनता अपनी एकता बनाये रख सकी। किन्हीं अर्थों में भी वह निरा राष्ट्रीय दर्प नहीं था। अगर यह होता, तो कभी भी व्यापक नहीं हो सकता था, क्योंकि ऐसा दर्प, राष्ट्रीयता को सकीर्ण और क्रूर बना देता है। उसे संस्कृतिविहीन कर देता है। रोमन साम्राज्य का चरम, हिटलर का जर्मनी और हमारे आस-पास के देशों की आज की (धार्मिक और राष्ट्रीय मदांधता से आक्रांत) फौजी हुकूमतें इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

हमारे देश और संस्कृति के सामने बार-बार खतरों और आक्रमणों के उपस्थित होते रहने के बावजूद हमने खूखार राष्ट्रीयता और सम्यता के बदले अपनी संस्कृति का सौदा नहीं किया, क्योंकि हमारे मानस की चेतना में अपने मिथकों की मानवीय अंतरधारा प्रवाहित थी। मेडीटेरियन (भूमध्यसागरीय) संस्कृति और मिथकों के संदर्भ में कामू ने कहा था कि 'भारत लगभग उतना ही बड़ा है, जितना यूरोप। पर वहां कोई भी राष्ट्रीय इकाई यूरोपीय (राष्ट्रवादिता के) अर्थो में राष्ट्र नहीं है। फिर भी वह दो सौ सालों के अंग्रेजी शासन के बावजूद अपनी मूल चारित्रिक विशिष्टता कायम रख सका है। ('लिरिकल एण्ड क्रिटिकल', पृष्ठ १८६)।

हमारी इस सांस्कृतिक विशिष्टता को (जो हमारे स्वाधीनता संग्राम की भी विशिष्टता थी) स्व० कामू सन् १६३७ में महसूस कर सके। उसी को पहचानने तक में हमारे आज के आधुनिकता के पक्षधर (चाहे बौद्धिक हों या राजनीतिज्ञ) प्रायः विफल रहे है, इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि वे अपनी मौलिकता से (मिथकों से) उत्तरोत्तर कटते जा रहे हैं, क्योंकि बौद्धिक दासता के हीन भाव से आक्रांत, वे अपने देश और अपनी अभिव्यक्ति को यूरोपीय देशों के विकास की तकनीयता के सांचों या केरिकेचर के आकारों में देखना चाहते हैं।

पर हकीकत तो यह है कि पाश्चात्य जगत को भी अपने हर सांस्कृतिक संकट के समय (चाहे वह सकट फिर राजतन्त्र से भी क्रूर फासिज्म का उदय हो, आज के विकास की तकनीयता का चरम—घातक हथियारों का संग्रह हो) पहचानना जरूरी हो गया था। ऐसे समय में उसे महसूस हुआ कि पौराणिक यूनानी संस्कृति के सामने उसका तकनीकी और सामरिक गरूर हेय है। एलिकजेण्डर से कहीं महान प्रामथियस का सांस्कृतिक मिथक है, क्योंकि यूरोप में आज जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह इसी यूनानी संस्कृति के सोच और मूल उद्‌गमों से अनुशासित है। आज के विकास का अतिरेक और सामरिक गरूर तो उसे आत्महन्ता बना रहा है। इन ग्रीक मिथकों से आत्मीय पहचान योरोप के बौद्धिक जगत के लिए एक सांस्कृतिक आवश्यकता है।

प्रवाह की सतत गतिशीलता के लिए मूल स्रोतों का निर्झरित होते रहना आवश्यक है। 'मिथक अपने मूल उद्‌गमों की पहचान का माध्यम है। मिथक एक ऐसा आधारभूत सत्य है, जिससे हमारे विगत, वर्तमान और आगामी (सांस्कृतिक) जीवन का प्रवाह अनुप्राणित है।' ('इन्ट्रो-

डक्शन टू ए साइन्स आफ मायथोलाजी' : सी० जी० जुग, सी० केरन्यी : पृष्ठ ७) 'मनुष्य अपनी भूमि से सामंजस्य स्थापित करके ही अपने आपको अभिव्यक्ति दे सकता है। जहां तक संस्कृति का सम्बन्ध है, श्रेष्ठता किसी और चीज में नहीं, इसी सामजस्य में है, क्योंकि संस्कृति केवल संस्कृति होती है, न तो वह महान होती है, और न ही निकृष्ठ।' (लिरिकल एण्ड क्रिटिकल : कामू : पृष्ठ १८६)

आज की हमारी बौद्धिकता अगर अपने मूल उद्गमों से सामंजस्य स्थापित करने में अधिकांशतया विफल रही है, तो इसमें दोष आधुनिक भावबोध या काव्याभिव्यक्ति का नहीं, बौद्धिकों की अपनी अक्षमता की उस दीवार या व्यूह का है, जिसे आंग्ल-भारतीय दृष्टिकोण और पाश्चात्य सभ्यता की (संस्कृति की नहीं) श्रेष्ठता में विश्वास करनेवालों ने खड़ा किया है, जिसकी वजह से उनकी अभिव्यक्ति प्रायः झूठी पड़ती जा रही है। हम अपने जन-जीवन से दूर होते जा रहे हैं, कटते जा रहे हैं, किसी अभिव्यक्ति को जनवादी साहित्य (या इससे भी आकर्षक कोई अन्य नाम) के नाम से पुकारने से वह जनता की आकांक्षाओं की प्रतिनिधि या उन्हें प्रभावित करने-वाली नहीं हो जाती, क्योंकि जब तक वह जनता के सास्कृतिक प्रवाह और उसकी स्मृतियों में गूंजनेवाले मिथकों से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता, वह जन-जीवन से कटाछंटा ही रहेगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आंग्ल—भार-तीय-साहित्य है, जो न तो किसी स्तर पर अपने देशवासियों को प्रभावित कर सका, न ही देश से बाहर अपनी किसी तरह की पहचान कायम कर सका, क्योंकि अपने स्वभाव में संसार का श्रेष्ठतम साहित्य पहले स्थानीय है। वह व्यापक तो केवल इन अर्थो में होता है, क्योंकि वह मानवीय संवेदना की एकता को कई स्तरों पर प्रमाणित करता है।

आंग्ल-भारतीय दृष्टिकोण (उपनिवेशवादी शासकों के अंदाज में) अपने उदय के प्रारंभिक दिनों में भारतीय मिथकों को इस कैथोलिक दृष्टि से देखता रहा कि जिन पुराण कथाओं का नया और पुराना टेस्टामेंट अनुमोदन नहीं करता वे झूठ और भ्रम (इल्यूजन) हैं। स्वतन्त्रता के बाद वही दृष्टि इन्हें अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक कह कर नकारती है। पर यूरोप के कला और संस्कृति के क्षेत्र में काम करनेवाले मनीषियों ने ऐसी दृष्टियों की सदा उपेक्षा की क्योंकि अपने सांस्कृतिक नव-जागरण काल के मूलमुद्दों की तलाश करते हुए वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इनका मूल आधार ग्रीक सस्कृति के मिथकों में है, उनके अपने इतिहास में नहीं। इस प्रकार आज मिथक किसी भी

संस्कृति को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक और नृतत्वशास्त्रीय तत्व और तथ्य हो गये, क्योंकि 'मिथक ओरफियस का कटा हुआ सिर है, जो अपनी मृत्यु में और उसके बाद भी गाता रहता है। मिथक मनुष्य की जातीय चेतना के आदिम स्रोतों का प्रवाह है, उन्हें अनुभूत करनेवालों के लिए वे आज का ठोस यथार्थ है' (ए साइन्स आफ मायथोलाजी : सी० जी० जुंग, सी० केरन्यी : पृष्ठ ५)।

...'आदिम मन ने मिथकों का अन्वेषण नहीं किया, ये उसके अन्तर मन के अनुभूत सत्य हैं। मिथक उसके अवचेतन में घटनेवाली घटनाओं के मौलिक साक्षात हैं, अनैच्छिक वक्तव्य हैं' (ए साइन्स आफ मायथोलाजी : सी० जी० जुंग, सी० केरन्यी : पृष्ठ १०१)। हमारे जैसे देश के लिए तो ये तथ्य और तत्त्व स्वतः प्रमाणित सत्य हैं, जिसके जन-मानस का सम्बन्ध अपने मिथकों और पुराण कथाओं से कभी किसी युग में नहीं टूटा; जो आज भी उसके जनजीवन की अन्तर धारा का सजीव प्रवाह है।

इस प्रकार आज मिथक नृतत्त्वशास्त्र, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, मनस्तत्वशास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान के आवश्यक अंग और मुद्दे हो गये। उसी तरह कला और साहित्य के क्षेत्र में मिथक अभिव्यक्ति के साधन ही नहीं, अपने आपमें स्वयं भाव, भाषा और अभिव्यक्ति हैं 'मिथक सृष्टि में अलौकिक संयोग से अस्तित्व में आये 'सत्यो' के जन्म की रूपक कथाएं हैं' (मिथ एंड रिअलिटी : मिरेका एलायड : पृष्ठ ५)। 'सृष्टि सम्बन्धी मिथक 'यथार्थ' हैं, क्योंकि जगत का अस्तित्व उन्हें साबित करने के लिये विद्यमान है। मृत्यु सम्बन्धी मूल मिथक सत्य हैं, क्योंकि मृत्यु एक निश्चित तथ्य है (वही : पृष्ठ ६)।

मनुष्य के अस्तित्व और सृष्टि के बहुआयामी मिथक केवल प्राचीन मनुष्य के अवचेतन मन की जिज्ञासाएं नहीं थे, आज के मनुष्य की जिज्ञासाएं भी उसी ओर अग्रसर हैं। आज वह केवल सृष्टि और जीवन के उद्गमो के बारे में ही नहीं, समाज, भाषा, धर्म, कला गरज यह कि वह मनुष्य के इर्द-गिर्द के सम्पूर्ण वातावरण की प्रारंभ से आज तक की, आदि से अन्त तक की शोध करना चाहता है। तब वह पाता है कि इन्हें समझने की कुंजी प्राचीन सभ्यताओं के मिथक हैं। ये मिथक इतिहास से कहीं अधिक प्रचुरता से सभ्यताओं के उद्भव और विनाश की, पतन और उबरने की कहानी कहते हैं। उन्हें विश्लेषित करते है। पर इन विश्लेषणों से जो प्रश्न उभरते है, उन्हें चाह करके भी राजनीतिक और ऐतिहासिक साबित नहीं किया जा सकता। वे अपने मूल स्वरूप में सांस्कृतिक ही बने रहते हैं।

इसे ठीक से समझने के लिए हमें इस बात का विश्लेषण करना होगा कि आज के औद्योगिक विकास और उसकी तकनीकीय समाजशास्त्रीयता ने जिन आशावादी 'मिथकों' को राजनीति और सामाजिक विज्ञान की 'मनुष्य के कल्याण' की घोषणाओं की आड़ के जरिये प्रचारित करना चाहा, वे एक-डेढ़ सदी में ही क्यों बिखरने लगे ? इतिहास के धरातल पर जो उनका क्रूर और खूंखार रूप उभरा, उसने उन राजनीतिक और समाजशास्त्रीय मतवादों की भूमिका पर ही क्यों प्रश्नचिह्न लगा दिया ? क्योंकि उनमें धर्मों जैसी कट्टरता और हठधर्मिता है। उनका न्याय-तर्क केवल अपने मतवादियों के लिए ही सीमित हो कर रह गया। अपने विरोधियों के लिये उनके पास सिवा यातनागृहों के, नरक या सामूहिक हत्याओं के अलावा और कुछ नहीं था। न आज भी है। इनके सर्वांगी कल्याणकारी राज्य के आगमन का स्वप्न भी स्वर्ग की स्थापना या अन्तिम न्याय के फैसले के दिन (द डे आफ लास्ट जजमेंट) जैसा ही 'मिथ' हो कर रह गया।

यद्यपि इनकी 'कार्य कारण संगत तार्किकता' ने धार्मिक मान्यताओं के स्वर्ग को झूठ या 'मिथ' साबित कर ध्वस्त कर दिया, पर इनकी अपनी समाजशास्त्रीय तकनीयता का दंभ भी आज उन्हीं तर्कों के आधार पर कठ-मुल्लापन साबित हो रहा है। क्योंकि वे 'मिथक' (चाहे फिर वे विश्व के सर्वशक्तिमान प्रजातन्त्र और साम्यवादी राज्यतन्त्रों की देन हों) जो गतिशील नहीं रह पाते, कालांतर में कोई मिथ न रह कर झूठ या छल हो जाते है। अपने सर्जकों के अन्धे अहंकार के साथ ही, वे भी मिट जाते है।

इन्द्र के स्वर्ग के समान्तर स्वर्ग की कामना या स्थापना के मोह (चाहे फिर उसे किसी मतवाद का नाम क्यों न दिया जाये) न तो इन्द्र की सत्ता को मिटा सकते हैं, न ही उसके आधिदैविक अधिकार को मिटा सकते हैं। मिथकों का संसार बताता है कि वे केवल इन्द्र के प्रतिरूपों की रचना कर सकते है। इन्द्र या इन्द्र के साम्राज्य को समाप्त करने के लिए इन्द्र के देवत्व और उसके अधिकारों को समाप्त करना होता है। यह काम एक नन्हा-सा गोप बालक भागवत पुराण में करता है। बाल-कृष्ण इन्द्र के देवत्व और उसके अधिकारों की जगह ब्रज भूमि के स्थानीय पहाड़ गोवर्धन की पूजा और उसका आदर स्थापित करते हैं। जिन वस्तुओं की आकांक्षा व्रजवासी इन्द्र से करते रहे, वे तो उन्हें गोवर्धन से सहज ही प्राप्त थीं। उस दिन से इस देश में इन्द्र की पूजा समाप्त हो गयी। इन्द्र अपनी सुरक्षा के

लिये सतत चिन्तित एक निठल्ला देवता हो गया। इन्द्र के समान्तर स्वर्ग की रचना करनेवाला 'त्रिशंकु (आधारहीन) हो गया और मिथकीय संसार का एक बालक सत्य का वाहक या ब्रह्म हो गया।

"मिथकों में बाल स्वरूपों की प्रमुखता का उद्देश्य,भविष्य के महत्व को रेखांकित करना है। बालक एक संभावित भविष्य है। जीवन-भविष्य की ओर सतत बहनेवाला प्रवाह है, उसका रुक जाना या समाप्त हो जाना नहीं" (साइन्स आफ मायथोलाजी : सी० जी० जुंग, केरन्यी : पृष्ठ ११५)। इसीलिए हमारी संस्कृति, कला और लोक मानस में राम और कृष्ण के बाल स्वरूपों का ही महत्व नहीं, अन्य अलौकिक बाल रूपों का भी है, जो बहुआयामी होकर प्रह्लाद, ध्रुव, नचिकेता आदि के रूपों में मानवीय क्षमता को कई प्रकार की दिव्यता देते हैं। कभी यह बाल स्वरूप अपने को सर्व शक्तिमान माननेवाले पिता के ईश्वरत्व का हनन करता है, तो कभी यम के अधिदैविक अधिकार और उसके जीवनदान देने और जीवन छीन लेने की शक्ति को ये मिथकों के बाल-स्वरूप अपनी जिज्ञासाओं और सत्य को अनुभूत करने की कामना के जरिये चुनौती देते हैं। "मिथकों में बाल स्वरूप का महत्व केवल सुदूर भविष्य में मानवीय अस्तित्व का प्रतिनिधित्व ही नहीं, आज के उसके अस्तित्व का भी प्रतिनिधित्व है" : (वही पृष्ठ ११२)।

बीसवीं सदी की समाप्ति में आज मुश्किल से दो दशक शेष रह गये हैं। मगर आश्चर्य तो यह है कि मिथकों को प्रलय की मान्यता दिनोंदिन प्रासंगिक होती जा रही है। विकास की तकनीयता के पक्षधरों ने इसी सदी के ठीक पहले यह दावा किया था कि हम धरती को स्वर्ग में बदल देंगे। उन्हीं विकास और तकनीयता के पक्षधरों के सामने आज विज्ञान और वैज्ञानिक ये तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं कि धरती, जल और आकाश यानी कि समूचा वातावरण, जिसमें मनुष्य रह रहा है, इस हद तक विकास की तकनीकीयता से प्रदूषित होता जा रहा है कि धरती का कहीं भी किसी दिन भी अन्त हो सकता है। क्योंकि इन लोगों ने विकास की तकनीयता को, यांत्रिकता और शोषण पर आधारित व्यवस्था को मनुष्य से भी बड़ा मान लिया है। इसलिए आज मनुष्य के भविष्य के क्षितिज पर नये मतवादों की प्रचारित आशा के उदय के कोई आसार दिखाई नहीं देते। पर उस क्षितिज पर आज आशा के बजाय, मानवीय सृष्टि के सम्पूर्ण विनाश के परमाणुओं का घटाटोप छाया हुआ है। तब प्रलय के पहले प्रलय को रोकने का मानवीय प्रयास और प्रलय के बाद का फिर से नये सिरे से प्रारंभ करने का संघर्ष

मनुष्य की नियति हो जाती है। ऐसे में 'कामायनी' की विषय-वस्तु का आधारभूत मिथक प्रासंगिक होकर सजीव हो उठता है।

हमारे देश की आत्मा में तो ये मिथक युगों से स्पंदित और स्फुरित हैं। हमने तो अपने पहाड़ों और नदियों तक को अपनी पुराण कथाओं के प्रमुख पात्रों के रूप में महसूस किया है। इस प्रकार हिमालय जगत जननी पार्वती के पिता हैं। गंगा अनंत से प्रवाहित ब्रह्मा के कमंडल का जल ही नहीं, आदि देव महादेव के सिर को विभूषित करनेवाली भी हैं। यों इसी गंगा का प्रवाह मानवीय प्रयत्नों की भागीरथी है।

यह केवल 'अनपढ़' भारतीय की मानसिकता ही नहीं, स्व० नेहरू जैसे 'रेशनल और वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले' धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति की मानसिकता है। वे अपनी वसीयत में गंगा की चर्चा करते समय कवि हो जाते हैं: 'ऋतुओं में परिवर्तन के साथ-साथ मैंने गंगा के बदलते हुए रंगों को भी देखा है। यह देख मुझे याद हो आती हैं वे परंपराएँ, वे पुराण कथाएँ, वे गीत और वे कहानियाँ, जो युगों से गंगा से जुड़ी हैं, जो गंगा के साथ घुलमिल कर एकाकार हो गयी हैं।'

हमारे मिथक भी गंगा की तरह हमारे जन-जीवन से घुलमिल कर अपने प्रासंगिक हो जाने की कहानी कह रहे हैं, पर हमारे देश में ये मिथक और इनके प्रतीक ही पौराणिक युग से आज तक अध्यात्म और वैचारिक चिंतन एवं संस्कृति के वाहन भी रहे हैं, पर जब-जब इन्हें राष्ट्रीय दर्प, जातीय और धार्मिक गौरव बना कर ढोने की कोशिश की गयी, वे अचल, रूढ़ और भारी हो गये और इन्हें सिर पर बिठानेवाले ही इनके नीचे दब कर नगण्य हो गये, क्योंकि वाहन की सार्थकता उसके गतिशील रहने में है, उसे ढोने में नहीं।

हमारे अपने युग में ही हमने देखा है कि जब भी इन मिथकों को जातीय श्रेष्ठता, ब्रह्मसमाजी-आर्यसमाजी अनुष्ठानों की सुधारवादी रीतियों और कट्टर राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का आधार बनाया गया, तब-तब ये आन्दोलन अपने गट्ठर के भारीपन के तले दब कर संकीर्ण और प्रभावहीन हो गये। वे व्यापक नहीं हो पाये। वे किसी तरह की रूढ़ियों के बन्धन तो नहीं तोड़ सके, पर सुधार के नाम पर नयी रूढ़ियां दे गये। इनके ठीक विपरीत रामकृष्ण परमहंस, टैगोर, गांधी, अरविन्द आदि ने मिथकों को विचारों का वाहक बना कर विश्वव्यापी बना दिया।

मानवीय विकास की सम्भावनाएँ, अगर संस्कृति से न जुड़ कर, सभ्यताओं या सत्ताओं के अहंकार से जुड़ती हैं, तो वह मनुष्य को घातक नियति

देती हैं और अपने मिथकों की खुद ही हत्या कर बंजर हो जाती हैं। क्योंकि मिथक अगर संस्कृति एवं विचारों के वाहक बन कर गतिशील या प्रवाहित नहीं रह पाते, तो वे अपने आपमें कुछ नहीं रह जाते। वे विस्मृति के अँधेरे में अवचेतन की अंतरधारा में गहरी नींद में सो जाते हैं। कालांतर में जब किसी भास को, कालिदास को, शापकल्स को, शेक्सपियर को, जयशंकर प्रसाद को, हावर्ड फास्ट को, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती और नरेन्द्र कोहली को उनकी जरूरत पड़ती है, तो मिथक विस्मृतियों के अवचेतन से जाग जाते हैं। और जितनी ही गहन अनुभूति से जिसने उन्हें याद किया है उतना ही अधिक वे उसके हो जाते हैं।

प्रामुथियुस, स्पार्टाकस, प्रहलाद, नचिकेता, सावित्री, अनुसूया जैसे अनेकानेक पौराणिक चरित्रों की कथाएं चाहे मनुष्य के सुदूर अतीत में उसके कल्पना जगत या बाह्य यथार्थ में घटी घटनाओं के चमत्कारिक रूपक हों, पर उनका महत्त्व इसी में है कि उनमें मनुष्य के अद्भुत, दिव्य और देवताओं को भी लजा देनेवाले अलौकिक साहस के दर्शन होते हैं। ये चरित्र अज्ञात और अनागत के अपरिमित भय, आतंक एवं यम की [काल की] कराल कालीय सार्वभौमिकता के सामने अडिग-से खड़े रहते हैं। उस सर्वेश्वरीय सार्वभौमिकता को यशोदा की तरह अपना शिशु बना देते हैं। इन्हें हम उनकी मिथकीय चामत्कारिकता और दिव्य साहसिकता से काट कर प्रासंगिक नहीं बना सकते, क्योंकि उनका आकर्षण और उनकी सारी शक्ति उनके इसी दिव्य और अलौकिक रूप में है।

क्योंकि इस देश की काव्य मानसिकता ने समय-समय पर अपनी कलागत उलझी हुई परिस्थितियों की प्रासंगिकता को अपने मिथकों में ढूंढ़ा है, एवं इन्हें बार-बार काव्यों और महाकाव्यों का रूप दिया है। पर वे इन मिथकों को अपनी प्रासंगिकता की पैरोडी कभी नहीं बना सके। उलटा ऐसा करने का साहस करनेवाले ही बौने हो गये, क्योंकि इनमें अपने मौलिक मिथकीय रूप में ही सजीव रहने और संप्रेषित करने की अदम्य क्षमता है।

मिथकों की यह अदम्य क्षमता ही रचनाकारों को कुछ अपनी सीमाएं देती है, उनके रेशनल और तार्किक हो जाने क अहं और अतिरेक को अनुशासन देती है। उन्हें जताती है कि रेशनल और तार्किक होने का अतिरेक तुम्हारे कलाकार की शालीनता और दिव्यता को तुमसे छीन लेगा। तुम्हारी कृति को इतिहास-सा बंजर, उबाऊ और मीडिआकर (सामान्य और सस्ता) बना देगा।

मिथकों को कोई (फिर चाहे वह कितना महान हो) जन मानस से न

तो अधार्मिक कह कर छीन सकता है और न ही कोई उन्हें अवैज्ञानिक और तर्कहीन बताकर मिटा सकता है, क्योंकि लोर्का को क्षमता-वाला क्रांतिकारी स्पेनिश कवि तक इन पुराण कथाओं की वापसी के लिए अनन्त की दूरियां मापने और तलाशने के लिए इस हद तक बेचैन हो उठा था कि मैं सुदूर तक जाऊंगा। तारों-सितारों तक। यीशु के पास। प्रभु से यह कहने के लिए कि मुझे मेरी आदिम बाल आत्मा लौटा दो''''जो पुराण कथाओं के वैभव और संगीत से आलोकित है।' शायद किन्हीं उलझी हुई मानवीय स्थितियों में लोर्का की क्रांतिकारी, पर साथ ही निर्दोष बाल आत्मा को इन पुराण कथाओं में अपने युग की प्रासंगिकता दिखाई दी हो।

पर इस प्रवाह की निरतर गतिशीलता तभी संभव है जब मूल उद्गमों का (मिथकीय स्रोतों का) निर्झरण प्रचुरता से होता रहे। विभिन्न मानवीय संदर्भों में मिथकीय जगत की बार-बार तलाश इन उद्गमों को निर्झरण की प्रचुरता देने की प्रक्रिया है। इस संदर्भ में 'साकेत' की वनवासिनी सीता की ये पंक्तियां अनायास ही स्मृतियों में गूंजने लगती हैं—'ओ निर्झर! झर झर झर तू। पथ के रोड़ों से उलझ-सुलझ अड़ बढ़ तू।' और रिल्के की ये पंक्तियां भी मिथकों के प्रवाह के महत्व को रेखांकित करने लगती हैं—'वह जो प्रवाहित होता रहता है। निर्झर की तरह।...उसकी ही पहचान कायम रह सकेगी।'

हमारे देश का जन-मानस इस प्रवाह की निरन्तरता का पारदर्शी प्रमाण है। उसके अन्तर और बाह्य में इस प्रवाह के आदि और वर्तमान के दर्शन होते हैं। यही प्रवाह पुराण कथाओं मे बाल-चरित्रों की लीलाओं को प्रधानता देता है। ये लीलाएं ही भूत और भविष्य को अपनी सांकेतिक दिव्यता की सहज अलौकिकता से जोड़ कर उसे वर्तमान का यथार्थ बना देती हैं। अगर हमारी अभिव्यक्ति इन पुराण कथाओं की बालसुलभ मानसिकता के वैभव और गीत-संगीत-सी सहज एवं निर्मल नहीं है तो वह हमारे जन-मानस से भी नहीं जुड़ सकती। इसलिए हमारी आज की अभिव्यक्ति को इसके जैसी ही सहज और दिव्य होना पड़ेगा, नहीं तो उधार की बौद्धिकता से उलझे हुए और बोझिल बनाकर जन मानस और रचनाकार के बीच अलगाव को बढ़ाते चले जायेंगे।

मगर इस अलगाव की किसी भी स्तर पर मौजूदगी लेखकीय अस्तित्व के उद्देश्य को ही निरर्थक बना देती है। इसलिए अपने मिथकों से कई स्तरों पर पहचान कायम करना स्वयं को, स्वयं के देश को और जन मानस को पहचानने जैसा ही है। यह अपने आपको प्रासंगिक बनाये रखना है।

डा० विद्यानिवास मिश्र

काव्य-भाषा

भाषा मानव-व्यवहार के दो पक्षों की सर्जना में सम्पृक्त होने के कारण स्वतः सम्प्रेषण की कठिनाई न्यौतती है। पहला पक्ष तो शुद्ध रूप से इसका जैवभौतिक रूप है, जिसके द्वारा मनुष्य के वाग्यंत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयत्न होने के कारण प्राण के भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्वन्यात्मक परिणाम होते हैं और ये ध्वनि-लहरियों में परावर्तित होकर दूसरे मनुष्य के कानों में हलचल पैदा करते हैं। दूसरा पक्ष जैवसामाजिक है जिसके द्वारा ये जैवभौतिक घटनाएं सामुदायिक सहजीवन से प्रेरित सन्देश प्रेषण की विवक्षा और पूर्व अर्जित भाषा संस्कार की पुनरुत्पादक शक्ति से प्रेरित होती हैं। एक ओर भाषा व्यष्टि में व्यक्त होती है, दूसरी ओर यह समष्टि की संकल्पना से सम्पृक्त होने के कारण एक साथ या अलग अलग एक पूरी समष्टि द्वारा ऐसे गृहीत होती है जैसे उसके सन्देश के शब्द और अर्थ के समान रूप से उस समष्टि के सभी लोग साझीदार रहे हों। इसलिए ही भाषा निजता और सामाजिकता के बीच एक निरन्तर सर्जनात्मक तनाव की स्थिति है। भाषा आदमी को बांधती है या ठीक-ठीक कहें, आदमी अपनी भाषा से बंध जाता है और भाषा आदमी को उसकी निजता से उबार कर मुक्त भी करती है।

भाषा के इस दुपहले स्वरूप के कारण भाषा-सम्प्रेषण की समस्याएं खड़ी होती हैं। कोई बात पूरी की पूरी जैसे कही गयी या जिस उद्देश्य से कही गयी उसी रूप में कभी किसी के भी द्वारा गृहीत नहीं हो पाती। तो भी मानव व्यवहार की प्रकृष्ट प्रवर्त्तक शक्ति के रूप में भी भाषा ही एकमात्र संप्रेषण

माध्यम है, दूसरे सारे माध्यम भाषा पर ही अवलम्बित हैं। सम्प्रेषण की पूर्णता भाषा का आदर्श जरूर है, पर भाषा अपने स्वभाववश ही सम्प्रेषण के साधन का काम करते-करते बीच-बीच में मनुष्य के भीतर की अपनी समष्टि चित्तवृत्ति का आकार ग्रहण करके मनुष्य का चरम साध्य-सी बनती रहती है। आदमी भाषा केवल दुहराता ही नहीं, भाषा का अनेक प्रकार से विनियोग करके, भाषा को अनुवर्त्तित करके नया आकार भी देता है और उसे नयी-नयी सोद्देश्यताओं से क्रियाशील बनाता है। भाषा के सूतों में लिपटा रह कर भी आदमी भाषा की नयी जाली बुनता रहता है, जिसके द्वारा अपनी लिपटन वह कुछ ढीली भी कर सकता है। भाषा के समानान्तर अनेक प्रकार की भाषाओं की रचना आदमी इसी कारण कर पाता है। गणितात्मक भाषा और काव्य-भाषा भाषा के साधनों के सर्जनात्मक उपयोग के दो छोर हैं। गणितात्मक भाषा भाषा के नये उपयोगी रूप नहीं रचती, वह सामान्य उपयोग में आने योग्य कोई नया भाषा रूप नहीं प्रस्तुत करती, वह सिद्ध भाषा रूप में से कुछ रूपों को सावधानी से चुन कर एक प्रतिपादन पद्धति का निर्माण करती है, जिसके माध्यम से अपूर्व विचारों और धारणाओं को भाषा-रूपायित किया जा सके; दूसरे छोर पर काव्यभाषा बुद्धिगत और अनुभूत अर्थ को ऐसी अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करती है कि वह बोध और अनुभव की ऐसी साझेदारी पैदा कर सके, जो बार-बार दुहराई जा कर आदमी के साकल्य को नयी अर्थवत्ता दे सके। गणितात्मक भाषा और काव्य-भाषा के दो छोरों के बीच आती है सूत्रात्मक भाषा। इस सूत्रात्मक भाषा से ये अपेक्षाएं की जाती हैं—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात्

१—सूत्रात्मक भाषा में कम से कम अक्षरों के प्रयोग से काम चलाना चाहिए;

२—इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए;

३—इसे सारभूत होना चाहिए;

४—इसे व्यापक विनियोग में समर्थ होना चाहिए;

५—इसे विराम या आवेग से रहित होना चाहिए; और

६—इसे निर्दोष होना चाहिए।

इन छह गुणों में अल्पाक्षरता, असन्दिग्धता और अस्तोभता तो गणितात्मक भाषा के हैं, अनवद्यता काव्यभाषा का है और सारवत्ता तथा विश्वतोमुखता तो तीनों में समान रूप से हैं। ये ही दो गुण सामान्य भाषा से इन तीनों को

विशिष्ट बनाते हैं। सूत्रात्मक भाषा को हम तर्क की भाषा भी कह सकते हैं। काव्यभाषा तर्कभाषा से भिन्न इस माने में है कि वह विराम (अर्थात् मौन या यति) और आवेगसूचक काकुओं का ठीक-ठीक प्रयोग करके असन्दिग्धता जैसे निर्देशात्मक गुण की अपेक्षा अभिव्यंजकता जैसे विवेयात्मक गुण से युक्त होती है। वह तर्क का अतिक्रमण कर सकती है, पर गणितात्मक भाषा तर्क से बंधी रहने के लिए बाध्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि गणितात्मक भाषा अच्छे-बुरे के मूल्यबोध के प्रति उदासीन रहती है, क्योंकि उसका चरम मूल्य एक न रुकनेवाले (अविरत) सत्य के शोध तक ही समाप्त हो जाता है।

कार्य की दृष्टि से इन तीन प्रकार की विशेष भाषाभंगिमाओं और सामान्य भाषा के बीच अन्तर और अधिक स्पष्ट लगने लगता है। गणितात्मक भाषा तान्त्रिक शब्दावली में अस्ति पर बल देती है। दूसरे शब्दों में क्या है, कैसा है और उसका एक अमूर्त्त निष्कर्ष क्या है यही गणितात्मक भाषा की परिधि में आता है। क्या है, यह गणितात्मक भाषा का एकान्त विषय है जबकि कैसा प्रतीत होता है, यह तर्क की भाषा का एकान्त विषय है, अर्थात् प्रत्येक प्रकथन संगत है या असंगत, यह दिखलाना तर्क की भाषा का प्रयोजन है; और प्रतीत हो कर कितना प्रिय या आत्मीय हो सकता है, यह काव्यभाषा का एकान्त आराध्य है ; अर्थात् गणित की भाषा में समस्त प्रकार के प्रकथनों को एक ऐसा परिशोधित रूप देने का यत्न होता है, जिससे एक प्रकथन का दूसरे प्रकथन से व्यतिरेक स्पष्ट हो सके, साथ ही प्रकथन के पीछे निहित विचार परिभाषित हो सके। नाम और रूप तो भाषामात्र के आवश्यक कार्य हैं। तांत्रिक चिन्तन में अस्ति, भाति और प्रियं शक्ति के स्वरूप बतलाये गये है और नाम रूप शिव के। शायद उसका तात्पर्य यही है कि भाषा अचल या स्थिर चैतन्य का उन्मीलन करके चुक जाती है, पर गणितात्मक, सूत्रात्मक या तर्कात्मक और काव्य-भाषाएं शक्ति के किसी न किसी रूप में सयुक्त होने के कारण उस अचल चेतन्य को अलग-अलग विशेप उद्देश्यों से परिचालित करती हैं। इसलिए तीनों भाषाएं नामरूप की यथास्थिति का प्रत्याख्यान करती हैं— गणितात्मक भाषा नाम का समुच्चयन (राशीकरण) करने के लिए, सूत्रात्मक भाषा नाम का निश्चयन (प्रमाणीकरण) करने के लिए और काव्यभाषा नाम का उपचयन (अभिमुखीकरण) करने के लिए। गणितात्मक भाषा की परिच्छिन्नता वस्तु-स्वरूप को परिभाषित करने तक सीमित है। तर्क की भाषा की परिच्छिन्नता वस्तु की प्रतीतियों की प्रक्रिया को परिभाषित करने तक सीमित है और काव्यभाषा की परिच्छिन्नता वस्तु की आत्मीयता या बन्धुता को परिभाषित करने तक सीमित है। पर यह कहना

कि परिच्छिन्नता की मात्रा कहीं कम है या ज्यादा है, मेरी दृष्टि में बहुत प्रासंगिक नहीं होगा, क्योंकि तीनों भाषाओं के कार्यों में मौलिक भेद है। हां, सामान्य भाषा की अपेक्षा तीनों अधिक परिच्छिन्न हैं; क्योंकि सामान्य भाषा कुछ दूर तक परिवृत्ति सह सकती है और सदृश विकल्पों का एक क्षेत्र बना कर भी प्रेषणीय बनी रह सकती है, पर और तीनों परिवृत्ति नहीं सह सकतीं। गणितात्मक भाषा नाम या प्रत्यय की स्पष्ट अवधारणा के लिए पूरी की पूरी रूप-संरचना को विस्थापित कर देगी, पर उसके एक अवयव को इधर से उधर नहीं कर सकती। इसी प्रकार तर्कभाषा नाम अवधारणा की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए रूपों के सम्बन्धों को विस्थापित कर सकती है, पर एक बार विस्थापित करके नये सम्बन्धों के विकल्प नहीं देगी और काव्यभाषा नाम के साथ तादात्म्य को स्पष्ट करने के लिए नाम रूप के ही सम्बन्ध को विकेन्द्रित कर सकती है। पर वह एक ही प्रकार से विकेन्द्रित करेगी, दूसरा प्रकार सम्भव हो, यह काव्यभाषा की विफलता होगी।

दुहराने की आवश्यकता नहीं कि भाषामात्र मनुष्य की प्रतीक सर्जक प्रतिभा की देन है, पर प्रतीक के विनियोग में अन्तर के कारण भाषा के प्रेषक, प्रेषणीय, प्रेषित और प्रेषण—ये चारों बदल जाते हैं। सामान्य भाषा में प्रतीक का अलग से बोध आवश्यक नहीं है। इस प्रतीक का यह प्रतीयमान है, इतना जानने से काम चल जाता है। परन्तु सूत्रभाषा, गणितात्मक भाषा और काव्यभाषा—इन तीनों में प्रतीक का बोध नितान्त आवश्यक है; क्योंकि बिना उसके मनुष्य अपने को वस्तु-बोध से न जोड़ सकता है और न अपनी निजी परिस्थिति से ऊपर उठ कर सामान्य का ही बोध कर सकता है। (पिर्चे इलियाद : दि टू ऐण्ड दि वन : पृष्ठ २०७) सूत्रभाषा या तर्कभाषा में प्रतीक-प्रतीयमान सम्बन्ध का बोध अपरिहार्य है, क्योंकि बिना उसके प्रत्यय की प्रक्रिया प्रामाणिक है या नहीं, यह जानना सम्भव नहीं है। यह सही है कि भाषा प्रतीक व्यवस्था होने के कारण (सिद्धशब्दार्थ व्यवस्था होने के कारण) वस्तुरूप सत्ता है और इसलिए सामान्य भाषा यही मान कर चलती है कि जो बात कही जायेगी, वह समझी जायेगी; समझने का फल क्या होगा, इससे सामान्य भाषा कोई सरोकार नहीं रखती। परन्तु गणितात्मक या तर्कात्मक या काव्यात्मक भाषा वैसी उद्देश्य परिचालित भाषा फल पर नजर रखती है। क्योंकि इस प्रकार की भाषा को विषय मात्र न मान कर भाषा द्वारा शेष वस्तु के सन्दर्भ में भाषा को विषयी या आत्मरूप भी मानने के लिए एक ओर विवश है तो दूसरी ओर अनुभविता व्यक्ति मानव के सन्दर्भ में विषयरूप में मानने के लिए लाचार है। गणितात्मक भाषा या तर्कभाषा

मानव चिन्तन की विषयीरूपता को उसकी अन्तर्निहित विषयरूपता में परिणत करने के लिए प्रयोजित होती है (हैम्बोल्ट), जबकि काव्यभाषा विषयिरूपता और विषयीरूपता में तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रयोजित होती है। इसलिए गणितात्मक भाषा और सूत्रात्मक भाषा में सामान्य भाषा का बहुत बड़ा भाग हेय हो जाता है। वहां बहुत सारी क्रियाएं अनावश्यक हो जाती हैं और बहुत सारी शब्द रचनाएं अनुपयोगी हो जाती हैं। संरचना की दृष्टि से इन दोनों भाषाओं का दायरा सीमित होता है, क्योंकि मुख्य लक्ष्य विषयरूपता की संसिद्धि है, जबकि काव्यभाषा में सामान्य भाषा का कोई भी अंश अनुपादेय नहीं है। ठीक उलटे सामान्य में जो सीमित रूप में उपादेय है, वह भी काव्यभाषा में और अधिक मुख्य रूप से उपादेय हो जाता है और इससे भी आगे जा कर काव्यभाषा सामान्य भाषा की उपादेयता का नया आविष्कार करती है, जिससे सामान्य भाषा नया संस्कार पाती है। दूसरे शब्दों में, आज की काव्य-भाषा कल की सामान्य भाषा हो जाती है।

गणितात्मक भाषा और तर्क भाषा बहुत कड़ी होती हैं। उनमें लचीलापन तो होता ही नहीं। उन्हें बीच में तोड़ दिया जाये तो पूरी भाषा टूट जाती है, अर्थहीन हो जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में बीच का कोई सूत्र हटा दिया जाये तो पूरी अष्टाध्यायी टूट जायगी, पर सामान्यभाषा में कुछ छूट भी जाये तो वह नयी सार्थकता दे देगा जैसे—तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता (उत्तररामचरित)। (इस वाक्य में तृतीया विभक्ति के द्वारा द्योत्य कर्त्ता जान-बूझकर छोड़ दिया गया है, जिससे त्वया और मया दोनों से जुड़ कर दो अर्थों की सम्भावना रख सके।) काव्यभाषा से सामन्य भाषा की बहुत-सी अपेक्षाएं नहीं की जा सकतीं। सामान्य भाषा के बहुत सारे नियम भी उस पर लागू नहीं किये जा सकते (वृद्धिरादैच्) (१) यही नहीं, इन दोनों प्रकार की भाषाओं में प्रक्रिया का स्वरूप भी अलग से निर्धारित होता है, जिसकी कोई भी उपयोगिता सामान्य भाषा में नहीं होगी (२) (तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, क + ख=ग, क+ख=ग। गणितात्मक भाषा में दृश्य प्रतीकअधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। तर्कभाषा में श्रव्य प्रतीक (३) भी बराबर दृश्यवत्

१—इसमें परात्तवर्ती च् का कुत्व इसलिए नहीं होता कि यह च् सूत्रभाषा का च् है, जो सूत्रभाषा के क् से प्रत्येक दशा में विभक्त है।

२—परि सर्वशास्त्रमुपयुक्ता क्षाणी भाषा सा परिभाषा
सा च लिंगवती विष्यर्गशेषभूता च।

३—परिभाषाएं और संज्ञाएं बराबर याद रखनी पड़ती हैं।

स्मृति में संचित रहते हैं। इसके विपरीत सामान्य भाषा और काव्यभाषा छापेखाने के आविष्कार के बावजूद मुख्यतः श्रव्यगुण से अभिभूत रहती हैं और काव्यभाषा सामान्य भाषा के नियमों के भीतर रहती हुई, उसकी प्रक्रिया को स्वीकार करती हुई, उन नियमों की जड़ता को तोड़ कर नयी सार्थकता से उन्हें जोड़ती है। सामान्य भाषा के नियम या व्याकरण को वह नये ढग से व्याकृत करती है, पर काव्यभाषा अपनी कोई अलग प्रक्रिया नहीं अपनाती। इसके फल-स्वरूप जहां गणितात्मक भाषा और तर्कभाषा एक विशेष प्रकार की परिभाषा की दीक्षा की मांग करती हैं, वहां काव्यभाषा (४) शब्दों के साथ अनुभव के समान सोहार्द की मांग करती है और सामान्य भाषा केवल समान भाषा अभ्यास की। एक प्रकार की भावदीक्षा काव्यभाषा में है, पर उसके लिए किसी विशेष प्रकार की भाषा की दीक्षा आवश्यक नहीं। पर जहां तक अनुभूत जगत को अमूर्त्त और परिशुद्ध मूल्य देने का प्रश्न है, काव्यभाषा और गणितात्मक भाषा दोनों मानवीय बुद्धि के परिष्कारक माध्यम के रूप में एक बिन्दु पर मिल जाती हैं और दोनों सामान्य भाषा और सूत्रात्मक भाषा-दोनों से बहुत ऊपर उठ जाती हैं।

अपनी देशी पारिभाषिक शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सामान्य भाषा यदि सर्जन है (नाम से रूप को ओर) तो काव्यभाषा विसर्जन या विसृष्टि है (विशेष इस माने में कि अपने स्वार्थ, अपनी निजता को विसर्जित करके नयी सृष्टि करती है), तर्कभाषा संसर्ग या संसृष्टि या संसर्जन है (क्योंकि वह परस्पर सम्बन्धों की स्थापना की सृष्टि करती है) और गणितात्मक भाषा प्रतिसर्जन या प्रतिसर्ग है (इस माने में कि वह रूप से नाम की सृष्टि की प्रक्रिया में प्रवृत्त है)।

अब काव्यभाषा की विशेषता पर आयें। प्रायः आलोचकों के मन में यह भ्रम है कि काव्यभाषा स्वतः स्फूर्तिजन्य होने के कारण अपने आप सामान्य भाषा से पृथक और विशिष्ट है, इसलिए सामान्य भाषा के अध्ययन के मापदण्ड उस पर लागू नहीं किए जा सकते। इस अंश में यह बात सही भी हो कि काव्यभाषा के विवेचन में सामान्य भाषा के मापदण्ड को और अधिक आन्तरिक उद्देश्यपरक बनाना होता है, पर यह सर्वथा निर्विवाद है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा से उद्भूत है और सामान्य भाषा, जो कल आनेवाली है, आज

४—रुडोल्फ कारनाप के शब्दों में, जब किसी भाषा के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल की जाये तो जांच-पड़ताल की जानेवाली भाषा को वस्तु भाषा कहते हैं और जिस भाषा में जांच-पड़ताल के परिणाम सूत्रबद्ध होते हैं उसे परिभाषा (मेटा लैंग्वेज) कहते हैं।

की समर्थ काव्यभाषा में मौजूद है। वस्तुतः भाषा के इन दो स्तरों में अन्तर उद्देश्य का है, न कि स्वरूप का। सामान्य कथन और काव्यात्मक कथन में दो अन्तर बहुत स्पष्ट हैं। पहला तो यह कि सामान्य कथन दार्शनिक दिवेचन के लिए भी यदि उपयोजित हो तो भी प्रत्येक दशा में बहिर्मुख होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य शब्द को पहुँचाना नहीं, शब्द में निहित सन्देश को पहुँचाना है और वहां अर्थबोध की स्पष्टता में ही संदेशप्रेषक का मुख्य तात्पर्य निहित रहता है, जबकि इसके ठीक विपरीत काव्यात्मक कथन का सन्दर्भ अन्तर्मुख है; अन्तर्मुख इस अर्थ में नहीं कि उसका कोई सम्प्रेष्य या पाठक सामने नहीं है, वह बल्कि लेखक के निजी अनुभव की ओर ही अभिमुख है, इस मायने में कि उस कथन का सन्दर्भ इसके पूर्व के उन काव्यात्मक कथनों से है, जिनके सातत्य में सौन्दर्य बोध की दृष्टि से ये कथन संगत हैं। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि काव्यार्थ किसी बाह्यार्थ के सन्दर्भ की विशिष्टता न ज्ञापित करके अपने सदृश दूसरे काव्यार्थ या काव्यार्थों की विशिष्टता ज्ञापित करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि शब्दार्थ व्यापार के द्वारा जो काव्यार्थ उद्भूत होता है, वह अनुभव निरपेक्ष है या अनुभव की गहराई से वह कोई संस्कार नहीं प्राप्त करता। यहां केवल इस पर बल देना अपेक्षित है कि अनुभव और उस अनुभव को व्यक्त करनेवाली समर्थ भाषा के बीच जब तक सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता, तब तक कोरा अनुभव उस रूप में प्रेषणीय नहीं हो सकता, जिस रूप में काव्यात्मक कथन हो जाता है। अनुभव करनेवाले तो सभी होते हैं, सभी किसी न किसी मायने में विशिष्ट अनुभाविता होते हैं, इसलिए उसका महत्व है यह बात नहीं, बल्कि वह उस अनुभव को अत्यन्त विशिष्ट वाचिक रूप में ग्रहण करने में विशिष्ट कुशलता प्राप्त कर चुका है, इसलिए उसके शब्दों द्वारा समर्थित अनुभव उसका निजी अनुभव होते हुए भी दूसरों द्वारा रसास्वाद्य बन जाता है।

सामान्य भाषा का उद्देश्य डोलोजेल के शब्दों में भाषा को बाह्य वास्तविकता (अर्थात् बाह्य अर्थ) के ग्रहण और भाषागत संकेत के ग्रहण की ओर उन्मुख करना है जबकि काव्य-भाषा का उद्देश्य यह है कि इसमें भाषागत संकेत ही बाह्य अर्थ का ध्यान केन्द्रित करता है। सामान्य भाषा संकेत और संकेतित के बीच स्थिर सम्बन्धों को विचलित नहीं करती; दूसरे शब्दों में सामान्य भाषा भाषा के आधार-भूत संकेतों और उनसे बोधित होनेवाले अर्थों के नियमों का एक स्वयं-चालित यंत्र है; ठीक इसके विपरीत काव्य-भाषा में शब्द और बाह्य अर्थ के सम्बन्ध को अंशतः विघटित करके या कम से कम उनके स्थिर सम्बन्ध को कुछ मोड़ देकर भाषागत संकेत को एक नया महत्व, एक नयी अर्थगर्भता प्रदान करनी होती है। इससे शब्द और अर्थ सम्बन्धी नियमों को

स्वयंचालित रूप में नहीं, सर्जनात्मक रूप में प्रवर्त्तित करना पड़ता है। जिस प्रकार पत्थर या लकड़ी से शिल्प-निर्माण करते समय जहां तक कि उपादान सामग्री का प्रश्न है, वे दूसरे किसी काम में आनेवाले पत्थर या काठकी सामग्री से अलग नहीं होते, किन्तु पत्थर या काठ को तराशने की कुशल प्रकिया के द्वारा उसके भीतर की रंगत या रेखाओं की प्रतिमा को एक नवीन संरचनात्मक साभिप्रायता दे कर शिल्पी उसी सामग्री को लालित्य-व्यवस्था में अद्वितीय साधन बनाता है, उसी प्रकार कवि या लेखक रोजमर्रा की भाषा का कच्चा माल ले कर उसकी भीतरी बुनावट की सोद्देश्यता को नया आयाम दे कर अद्वितीय बना देते हैं। वस्तुतः काव्य-भाषा का अध्ययन रोजमर्रा की बोली जानेवाली भाषा के तत्वों के पुनर्विन्यास और काव्य—रूपान्तरण का अध्ययन है।

भारतीय काव्यशास्त्र में बहुत पहले शब्दशक्ति के विवेचन प्रसंग में यह बात अनेक बार दुहरायी गयी है कि काव्य का प्राणभूत व्यंग्यार्थ शब्द व्यापार के ही द्वारा उद्‌बुद्ध होता है और व्यंजना वस्तुतः भाषागत विविध सन्दर्भों (वक्ता बोद्धव्य आदि) की सहायता से शब्द में निहित वाच्येतर अर्थ की खोज है या वाच्यार्थ की अनुपपन्न होने की दशा में वाच्य-वाचक सम्बन्ध अर्थ की प्रतीति का मूलभूत प्रयोजन है। काव्यार्थ का रहस्य शब्द से ही उन्मीलित होता है। हां, उन्मीलन का साधन शब्दार्थ-नियम-ज्ञान के अतिरिक्त एक पदार्थ होता है, जिसे प्रतिभा कहा गया है। प्रतिभा शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को एक से अधिक धरातलों पर उठाकर उन्हे एक दूसरे की ओर चालित करने की रचयित्री शक्ति है। वह शब्द और अर्थ के साहित्य के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न संस्कार है। कलात्मक सर्जन के क्षेत्र में वस्तु-जगत् या अनुभव-जगत् का सिद्ध रूप से साध्य कला वस्तु या कलानुभूति के रूप में रूपान्तर हो जाता है और परिणामवश एक नये प्रकार का अन्तरावलम्बित और अन्तःसम्बद्ध संघटन उद्‌भूत हो जाता है। वास्तविक जीवन से सम्पर्क छूटता नहीं; बल्कि और बढ़ जाता है; क्योंकि वास्तविक जीवन विम्बानुबिम्ब-भाव से काव्यार्थ जगत् को उपकृत करता है और स्वयं उससे रस ग्रहण करके अधिक जीवनीय बनता है।

आधुनिक भाषा विज्ञान ने यह मानना शुरू कर दिया है कि काव्य की भाषा का भी अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जा सकता है और उसके ऊपर भी भाषाविज्ञान के सिद्धान्त और प्रक्रिया विधान लागू किये जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य भाषा में अवतरणगत समग्र संघटन के महत्व पर बल नहीं रहता, जबकि काव्य-भाषा के अवतरण का अर्थ उस भाषा के समग्र अर्थ की पृष्ठभूमि में ही अवस्थित होता है और उस समग्र अर्थ

की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का जब तक मन्थन नहीं कर लिया जाता, तब तक सार्थक काव्यार्थ उद्‌गत नहीं हो सकता। वह यदि सामान्य भाषागत अर्थ से किसी मायने में विशिष्टता रखता है तो इसी मायने में कि सामान्य अर्थ को उसकी समग्र सम्भावना के समक्ष ला कर खड़ा कर देता है, उसे अकेले विलग नहीं रहने देता, जैसा कि हैलिडे ने ठीक ही सोचा है, काव्य-भाषा को बिना इस रूप में ग्रहण किये कि वह एक व्यक्ति द्वारा उसकी कुछ सम्भावनाओं में से सोद्देश्य चयन है, ठीक से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। इस सोद्देश्य रचनात्मक चयन के ही कारण काव्य में एक निजता के व्यक्तित्व का उदय होता है और इसका बार-बार आवर्त्तन ठीक उसी रूप में आकलन मुखर हो जाता है और वह इसके लिए हमें प्रेरित करता है कि हम ठीक उसी रूप में उसे दुहरा सकें, पढ़ने या सुनने के बहुत समय बाद भी दुहरा सकें। वस्तुतः इसी प्रेरणा के कारण जहां रचनात्मक प्रतिभावाले व्यक्ति दुहरा कर भी नये अर्थ से उसे जोड़ सकते हैं, असमर्थ व्यक्ति पुरानी काव्य पंक्तियों से बंधे रह जाते हैं। वे काव्य के अर्थ को उसके केन्द्र से विस्थापित करके उसकी परिधि की सीमा मानने लगते हैं। काव्य-भाषा में सामान्य अर्थ और सामान्य में निहित विशिष्ट अर्थ के समीकरणों के जोड़े इस प्रकार रच जाते हैं कि इनके सहारे कोई भी व्यक्ति उस काव्य में विशेष के निजी संदेश को व्यवस्थित रूप में ग्रहण कर सकता है।

काव्य-भाषा की यह निजी विशिष्टता बहुत कुछ तो इस कारण है कि काव्य-भाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा भाषागत सन्दर्भों का दबाव बहुत ज्यादा है। सामान्य भाषा में केवल वाक्य-रचना के सीमान्तों का दबाव रहता है, शब्द के साहचर्य से झंकृत होनेवाले बहुत सारे शब्दार्थ-सम्बन्धों का सन्दर्भ सामने नहीं रहता। सामान्य भाषा में दूब मात्र दूब है, वह दूब शब्द के प्रयोग के साहचर्य से उद्‌बुद्ध होनेवाली विनम्रता, तितिक्षा और अदम्य सप्राणता का अनुभावन नहीं करा सकती। सामान्य भाषा में अवतरण के परे अवतरण की संरचना का कोई महत्व नहीं होता, जबकि किसी कविता में उसकी पूरी संरचना के सन्दर्भ में ही कोई पंक्ति अर्थ रखती है। यदि कविता प्रबन्धात्मक हुई तो पूरे प्रबन्ध के सन्दर्भ में उसके अर्थ की खोज की जा सकती है। अर्थ सन्दर्भ का ही व्यापार है। यह सिद्धान्त काव्य भाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा और अधिक लागू है, क्योंकि सामान्य भाषा का सन्दर्भ बहुत सीमित है। काव्य-भाषा में बाहरी सूचना से अधिक ध्यान अपने संदेश के गठन पर ही होता है, इस हद तक कि सन्देश अपने बाह्यार्थ के साथ अपने सम्बन्ध की डोर ढीली कर देता है। काव्य-भाषा अनायास, अप्रयोजन प्रयोजनशीलता की

साधना है और इस प्रयोजनशीलताके निरन्तर खिंचाव के कारण काव्य-भाषा के सभी स्तरों पर एक साथ एक नया तनाव जन्म लेता रहता है, ध्वनि और अर्थ के बीच, व्याकरण और शब्द-रचना के बीच, वाक्य खण्ड और वाक्य के बीच। इस तनाव के कारण काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य और वाक्य खण्ड, शब्द और उसके अवयव तथा वर्ण—ये सभी अपरिहार्य रूप से एक-दूसरे के उपकारक होकर अनुस्यूत हो जाते हैं। काव्य के केन्द्रगत अर्थ को हम रस, ध्वनि, वक्रता, अमूर्त्त सौन्दर्य—जिस किसी भी नाम से पुकारें, वही इस प्रयोजनशीलता का प्रेरक है और वह काव्य का प्रयोजन न होते हुए भी काव्य के प्रयोजन से कुछ और ऊपर है, वही काव्य का आन्तरिक मर्म है। ऐसा नहीं है कि सामान्य भाषा में उसके किसी संदेश खण्ड के अवयव भीतर-भीतर संगठित न हों, पर उस संगठन का उद्देश्य उस संदेश खण्ड को बाहर के जगत् के साथ जोड़ना है, इस संगठन को बाह्य जगत् के बारे में सूचना देने के कार्य में उपयोजित करना है। इसमें संदेश स्वयं में कुछ महत्व नहीं रखता, इसीलिए काव्येतर भाषा में सूचना का सम्प्रेषण या सूचना का क्रम और चयन आदि बाह्य आधार पर निर्धारित होते हैं, जबकि काव्य-भाषा मेंसूचना में निहित शब्द और अर्थ दोनों अपने आपमें अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वे बाह्य जगत् से बहुत दूर तक स्वतंत्र हो कर स्वयंपूर्ण शब्दार्थ अनुभव के विषय बन जाते हैं।

भारतीय चिन्तन में इसीलिए रूप से अधिक नाम की महिमा है। नाम में जब चेतन्य टिक जाता है तो रूपात्मक प्रत्यक्ष का अनुभव वेकार हो जाता है और तब अनुभविता अरूप जगत् में पहुँच जाता है। क्रमशः निरन्तर साधन करने से वह समस्त उपाधियों से मुक्त हो जाता है और तभी सच्चे माने में शुद्ध चैतन्य का आकार ग्रहण करता है। आनन्द कुमार स्वामी ने इसी सिद्धान्त को विस्तार में विवेचित करते हुए कहा है कि नाम-रूप दोनों एक दूसरे के विरोध में यहां खड़े नहीं हैं। यथार्थ आदर्श का द्वार मात्र है, वह स्वयं में साध्य नहीं है। दह परमानन्द का प्रतिबन्धक नहीं, अनुबन्धक है, इसीलिए उसका उपयोग भारतीय कला में समर्पित रूप में ही है। वह नाम की अभिव्यक्ति को पहचानने के लिए दृश्य-रूप मात्र है। भारतीय उपासना का उद्देश्य किसी दृश्य स्थूल वस्तु की पूजा नहीं, बल्कि उस स्थूल वस्तु के सहारे जिस अमूर्त्त भावना का चिन्तन निरन्तर किया जाता रहा है, उस भावना के साथ तादात्म्य स्थापन है। आनन्द कुमार स्वामी ने पुनः अपने एक दूसरे लेख में इसी स्थापना के समर्थन में एक उदाहरण दिया है कि पुष्कर का प्रत्यक्ष और इसका परोक्ष, दोनों अत्यन्त भिन्न है। जिसमें दोनों के बीच में भेद न प्रतीत हो, वह कला या सर्जनात्मक भाषा कला नहीं रह जाती, वह अनुकरण हो जाती है और कमल

भी यदि जीवविज्ञानी की दृष्टिवाले कमल से कुछ अलग हो कर केवल अंलकरण वाला एक प्रतिरूप बन जाये, तब भी वह जब तक कि उसको कोई नया परोक्ष मूल्य न प्राप्त हो, सर्जनात्मक उद्देश्य में साधक नहीं हो सकता।

भारतीय काव्य-दृष्टि काव्य को सिद्ध वस्तु नहीं मानती है, व्यापार या प्रक्रिया मानती है, इसीलिए काव्य मात्र में बराबर कुछ ऐसा रहता है जो प्रत्यक्ष दिखाई दे कर भी हाथ में सामान्य भाषा के वर्गीकरणों में गहा नहीं जा सकता। काव्यगत सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अभिनवगुप्तपाद ने अभिनव भारती में रस के विवेचन के प्रसंग में बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है :—

'जो बात परम्परा में सिद्ध रूप से प्रमाणित है, उसे दुहराने में कौन नयी बात है ? उलटे इस प्रकार की पुनरावृत्ति से दुहरी गलती ही प्रकट होती है। ऐसा करनेवाला आदमी जान-बूझ कर उपहासास्पद बनता है और सिद्धवस्तु को अपने साध्य के रूप में प्रस्तुत करने की हेठी दिखलाता है। इसीलिए मानवीय बुद्धि बिना रोक-टोक के ऊपर को चढ़ती चली जाती है, वह पूर्व कल्पित विवेक की सीढ़ियों पर ठहरी नहीं रहती, जैसे रास्ता और पुल बनाने का प्रारम्भिक काम अजीब, अटपटा और शून्य में अटका-सा लगता है, पर बाद में मार्ग-सा बन जाने पर पुल का नक्शा साफ हो जाता है और तब उस पुल में कोई अटपटापन नहीं रह जाता। उसी प्रकार नये सत्य के शोध की प्रक्रिया शुरू-शुरू में भले ही अटपटी दिखाई पड़ती हो, अन्त में उसकी समग्रता के आलोक में हर चीज जुड़ी और सप्रयोजन लगने लगती है।'

अभिनवगुप्तपाद का उपर्युक्त श्लोकार्थ काव्य-भाषा की आपातिक या सतह अस्पष्टता और विच्छृंखलता को प्रक्रिया के अवयव के रूप में देखने पर बल देता है। काव्य में व्यंग्यार्थ काव्य प्रक्रिया से अलग कर देने से असम्भव, अटपटा और मनमाना लगता है, पर काव्य की समूची संघटना की दृष्टि से यही सबसे अधिक आधारभूत स्तम्भ हो जाता है। उदाहरण के लिए, ध्वनि काव्य के मूर्धाभिषिक्त उदाहरण के रूप में बार-बार उद्धृत श्लोक लिया जा सकता है --

> निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनपटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवयं तनुः।
> मिथ्यावादिनी दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीड़ागमे।
> वापी स्नातुमितां गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिमकम्॥

तुम्हारे कुच तट से सब चन्दन धुल कर गिर गया है, तुम्हारे निचले होठ की रंगाई एकदम पुंछ गयी है, आंखों की कोर अब आंजी नहीं लगती, तुम्हारा शरीर रोमांचित हुआ लगता है। तू झूठ बोल रही है। अपनी सहेली के दर्द का तुझे क्या पता ? तुम मेरे उस अधम प्रियतम के पास नहीं

गयी थी, तू तो बावड़ी में नहाने गयी थी। '

सतही अर्थ की उपपत्ति की दृष्टि से इस श्लोक में मात्र स्तन तट का चन्दन च्युत होना, निचले होंठ की ललाई का पुंछना, केवल कोरों का आंजन धुलना—ये लक्षण बावड़ी में नहानेवाले वाच्यार्थ में कुछ गड़बड़-से लगते हैं, साथ ही प्रियतम के लिए अधम शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं प्रतीत होता। इस 'अधम' शब्द से इशारा लेकर जब हम रति रूप व्यंग्यार्थ का नक्शा उभारने लगते हैं, तो समस्त आपत्तियां वाच्यार्थ के साथ ही बाहर निकल जाती हैं। कहा जा सकता था कि रतिरूप व्यंग्यार्थ ही क्यों चुना गया ? सम्भावना तो और पचीसों चीजों की हो सकती थी। उसका समाधान यह है कि काव्यार्थ के सन्दर्भ की समग्रता में—जिसमें कौन कह रहा है, कब कह रहा है, आदि, आदि दूसरा व्यंग्यार्थ उतना सहृदय-स्वीकार्य नहीं हो सकता था।

आधुनिक भाषा विज्ञान ने उपर्युक्त स्थापना को एक दूसरे प्रकार के प्रत्यय-वादी धरातल पर समर्थन दिया है और अब यह मानना शुरू किया है कि जब हम मूल्य की बात करते हैं, तब केवल उसका भावनात्मक या उदात्त आध्यात्मिक मूल्य की बात करना पर्याप्त नहीं समझते, क्योंकि यह मूल्य अब पुराना पड़ गया है, अब मूल्य की बात शुद्ध रूप से सौन्दर्यबोधात्मक प्रक्रिया के माध्यम रूप में किसी वस्तु की कृतकार्यता को दृष्टि में रख कर की जाती है। इसके माध्यम से जो अलग-अलग अपने में असुन्दर भी प्रतीत होते हों, उनके भी कुशल संयोजन से एक सुनिश्चित सौन्दर्यबोधात्मक मूल्य स्थापित किया जा सकता है। यह सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार सतही भाषा काव्यापार नहीं और सीमित काव्य भाषा का भी व्यापार नहीं है, यह पूरी रचना की भाषा का समग्र व्यापार है। इसीलिए किसी भी उक्ति का इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके समग्र परिवेश को ध्यान में न लाया जाये। पुराने भारतीय व्याख्याताओं की पद्धति को ही एक प्रकार से आगे बढ़ाते हुए उसको कुछ और अधिक परिच्छिन्न बनाने के उद्देश्य से सांख्यिकीय चयन के आधार पर मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ है। डोलोजेल ने सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए दो गुणात्मक आधार स्वीकार किये हैं :—

१—सजातीयता बनाम विजातीयता। यह इस आधार पर है कि एक समकालीन रचनाकार कितनी दूर तक दूसरे समकालीन रचनाकार का साझीदार है और कितनी दूर तक वह अलग है।

२—स्थिरता बनाम अस्थिरता। यह मानदंड रचना के विविध मार्गों की भीतरी समीक्षा के ऊपर लागू किया जाना चाहिए। कोई भी विशेषता स्थिर मानी जायगी, यदि समस्त खंडों में पायी जाये, किन्तु यदि भिन्न-भिन्न खंडों

में उसके रूपान्तर मिलें तो वह विशेषता अस्थिर मानी जायेगी।

इस प्रकार किसी भी रचना के विश्लेषण के लिए रचना के भीतरी और बाहरी सन्दर्भ, दोनों महत्वपूर्ण हैं ओर दोनों के योग से ही उस रचना की अपनी विशेषता चाहे शब्दों के चयन के स्तर पर, चाहे वाक्य-विन्यास और उसके भंग या विचलन के स्तर पर, चाहे सादृश्य-विधान के स्तर पर या चाहे सादृश्येतर उक्ति भंगि के स्तर पर—किसी रचना का केन्द्रभूत प्रयोजन विभिन्न आंकड़ों के द्वारा निर्गमित किया जा सकता है।

वस्तुतः अनेक सम्भावनाओं में से एक सम्भावना का चुनाव यादृच्छिक नहीं होता। यह चुनाव भाषा के विभिन्न घटकों के संश्लेष से नियंत्रित होता है। इसी सिद्धान्त को रोमन याकोब्सन ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है: 'काव्य व्यापार चयन की धुरी रेखा से भाषा के दो तत्वों के जोड़ बिठलाने की मान्यता को संश्लेष की धुरी पर प्रतिक्षिप्त करता है। ऐसे जोड़ बिठलाने का उपयोग चाहे वह भाषा के नादात्मक या अर्थात्मक स्वरूप से निकला हो कोई आकस्मिक घटना के रूप में नहीं होता। यह अत्यन्त व्यवस्थित रूप में सामने लाया जाता है। मूलतः भाषा का सम्प्रेषण अनेक सम्भावनाओं में से एक के चयन के प्रयोजन का ही संवाहन है। जब तक कि उस एक का चुनाव नहीं किया जाता, तब तक हम कह सकते हैं कि कौन-सा विकल्प चुना जायेगा, पर चुनाव हो जाने पर हमें एक निश्चित सूचना मिलती है कि अमुक विकल्प ही चुना जाने को था।' इस सूचना का सम्प्रेषण ही तो भाषा का व्यापार है। काव्य-भाषा में यह चुनाव और अधिक अन्तर्मुक्त होने के कारण परिच्छिन्न और गणितात्मक रूप में स्पष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि काव्य स्वयं भाषा से ही उत्पन्न रूप है, यह न तो लेखक है और न इसका अनुभव। जिस प्रकार गणित की उपपत्तियां गणितज्ञ के वस्तु जगत् से भिन्न जगत् की होती हैं और वह जगत् अपने ही नियमों से अनुशासित होता है, उसी प्रकार काव्य जगत् वस्तु जगत् और आनुभाविक जगत् का समान्तर औरसंवादी अलग स्वतंत्र जगत् है। यह अवश्य है कि इसकी शक्ति इसके रचयिता की अनुभव समृद्धि और काव्य जगत् की ही जागरूकता की मात्रा के अनुपात में घटती-बढ़ती रहती है। काव्य में रचयिता उसी प्रकार एक अनुभव विशेष की अभिव्यक्ति विशेष में आबद्ध दिखाई पड़ता है, जैसे किसी व्यक्ति का स्थान विशेष या मुद्रा विशेष में लिया गया छाया चित्र। गुटर मूलर ने अपने निबन्ध 'मार्फलाजिकल पोयाटिक्स' में इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि साहित्य मुख्य रूप से न तो वैचारिक दृष्टियों का लेखा-जोखा है, न भावना प्रक्रिया का विवरण है, न वस्तु जगत् से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है। यह शुद्ध रूप है—ऐसा रूप, जो

अपनी ही छवि से आलोकित हो। परन्तु इस प्रकार के काव्यमय अस्तित्व के रूप में यह कवि का एक समान्तर अभिव्यंजन ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करता है, जैसे कि किसी व्यक्ति का अभिव्यंजन उसके कपाल की बनावट, चेहरे की मुद्राओं या उसके स्वर से प्रस्तुत होता है!

वस्तुतः इसीलिए काव्य-भाषा का विश्लेषण काव्यगत सन्दर्भों के ऊपर आधृत होने के कारण सामान्य भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक गणितीय और विच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। काव्य-भाषा में वाक्याघटन केवल घटक वाक्य-खंडों से ही पूरा नहीं होता और न वाक्यार्थ की संगति से ही मर्यादित रहता है। काव्य-भाषा का गठन विभिन्न पदांशों-प्रत्ययों, विभक्तियों की आवृत्ति के द्वारा अर्थ का प्राचीर तैयार करता है। वाक्य-खण्डों के क्रम के हेर-फेर के द्वारा यह अभीष्ट अर्थ के ऊपर अधिक बल डालने का काम करता है तथा समान रचना-खण्डों के सम्मुखीकरण के द्वारा अर्थों के टकराव और उस टकराव से उत्पन्न होनेवाले नये अर्थ को उद्बोधित करता है। इसी अंश तक काव्य-भाषा बाह्य सन्दर्भ की दृष्टि से अप्रयोजन या निरुद्देश्य लगती है, अपने आप कभी-कभी बेतुकी भी लगती है! और वही भाषागत सन्दर्भ के भीतरी गठन की दृष्टि से सप्रयोजन और सोद्देश्य लगने लगती है। भाषागत संकेत की ओर ध्यान केन्द्रित होने के कारण ही भाषागत सन्देश सामान्य भाषा का एक लकीर में स्थिर बहुआयामीय रूपान्तर बन जाता है, जिससे एक साथ ध्वनि से लेकर अर्थ के प्रत्येक धरातल को एक बिन्दु पर देखा जा सकता है।

काव्य-भाषा के अध्ययन में छन्द का ध्यान बहुत प्राचीन काल से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। छन्द का अर्थ है कोई छिपा कर रखी हुई चीज, अर्थात् दूसरे शब्दों में छन्द प्रत्येक कवि का अपना राज होता है। इसीलिए एक कविता से दूसरी कविता में अनुवाद करते समय सबसे अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि हर कविता के काम अलग होते हैं, उदाहरण के लिए—जर्मन, अंग्रेजी, रूसी और चेक में बलाघातयुक्त अक्षर-विभाजन छन्द की रचना का निर्धारक है, जबकि पोलिश, स्पेनिश और फ्रेंच जैसी भाषाओं में अक्षर बलाघात-निरपेक्ष हो कर निर्धारक बनता है। भारतीय भाषाओं से उदाहरण लें तो एक सपाट सरलीकरण के रूप में (निश्चय ही इसके अपवाद होंगे) यह स्थापित किया जा सकता है कि संस्कृत में अक्षरों का परिमापन अधिक बलवान है, वहां बाद की भाषाओं में मात्रा का। इसीलिए हिन्दी में वार्णिक छन्द बहुत अधिक सफल नहीं हो पाये हैं। वार्णिक छन्द में तीन-तीन अक्षरों का पुंज गण के रूप में एक लय उत्पन्न करता है, जबकि मात्रिक छन्द में दो पंक्तियों

के बीच में मात्राओं का योग लय का निर्धारक होता है। छन्द के अध्ययन में नियमित से कम महत्व अनियमित या अप्रत्याशित का नहीं है, यदि अप्रत्याशित या अनियमित का प्रयोग किसी उद्देश्य विशेष से किया जाये। आधुनिक कविता के सन्दर्भ में ऊपरवाली बात विशेष उल्लेखनीय है। यहां पर पूरी कविता के छन्द और प्रत्येक पंक्ति की लय में निश्चित सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि पूरी कविता के छन्दोविधान को इन अलग-अलग लय-सरचनाओं के सप्रयोजन क्रमिक विन्यास के रूप में देखने पर नियमित और अनियमित पंक्तियों के विभाजन बिन्दुओ को काव्यार्थ के सीमांतों के समानान्तर देखा जा सकता है। उदाहरण के रूप में अज्ञेय की 'भोर वेला' शीर्षक कविता ली जाये :—

१ - भोर वेला
२—सिंची छत से ओस की तिप् तिप्
३—पहाड़ी काक
४ - की विजन को पकड़ती सी क्लान्त वेसुर डाक-
५—हाक् हाक् हाक् !
६—मत संजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना
७—रहेगी बस एक मुट्ठी खाक
८—थाक् ! थाक् ! थाक् !

इस कविता में पांचवीं और सातवीं पक्तियों की लय में इतनी निरन्तर गुरुता नहीं है, दोनों पक्तियां काव्यात्मक अनुरणन के अतिरिक्त कोई शाब्दिक अर्थ नहीं रखतीं, पर दोनों पंक्तियों का अन्य पंक्तियों से वेतालपन काव्य के मूल सम्प्रेष्य प्रयोजन, वैकल्यबोध की प्रतीति कराने में बहुत समर्थ है। दूसरी पंक्ति में पहाड़ी काक को उसकी विभक्ति से अलग करके स्वतंत्र रूप में रखना दो उद्देश्यों से है। एक तो यह कि वह पहाड़ी काक भोर बेला सिंची छत से ओस की तिप् तिप् से एकदम तटस्थ केवल बेमुर डाक हाक् हाक् हाक् से लय मिलाये एवं स्वतंत्र उपस्थिति के रूप में मौजूद है, दूसरे वह उपस्थिति पंक्ति में 'की' जोड़ने से खण्डित हो सकती थी, इसे अलग ही रखना आवश्यक है। आधुनिक कविता में श्रव्य गुण के साथ-साथ दृश्य गुण का नया सन्निवेश छापेखाने की कृपा से हुआ, पर यह अतिरेक को अगर पहुँचा दिया जाये तो कविता भाषा बन कर अपने में साध्य प्रयोग या कभी-कभी तो कोरा चित्रकाव्य मात्र बनकर रह जाती है।

इसके अलावा तकनीकी दबाव और समूह-संचार साधनों के प्रसार से आधुनिक काव्य भाषा के सामने जो और नयी समस्याएं आयी हैं, उनको भी

प्रसंगवश समझना आवश्यक है ।

यदि छापेखाने ने आदमी को अपने अस्तिभाव को आनुष्ठानिक पवित्रता के घेरे से बाहर निकालने के लिए लाचार किया और आदमी को छापे के घेरे में रूंध कर उसे बनजारेपन से मुक्त किया तो बीसवीं शदी के विद्युत्तंत्र (इलेक्ट्रॉनिक्स) ने समूचे विश्व को एक बड़े गांव के बिम्ब में बांध दिया और तात्कालिकता और सार्वत्रिकता की ऐसी अपरिहार्यता ला दी कि अब आदमी किसी एक वस्तु या परिवेश से बंधा नहीं रह सकता । वह एक साथ अनेक विश्वों एवं संस्कृतियों में घूमता रहता है । छापाखाना सामूहिक संचार-साधन का प्रारम्भ मात्र था । उसने अनुभव के अनेक द्वारो को बन्द करके दृष्टि के द्वारों को खोल कर मानवीय संवेदना को परिसीमित कर दिया और एक निश्चित दृष्टिकोण की उद्भावना की । उसने ऐसी विडम्बना को जन्म दिया, जिससे सक्रियता भी चलचित्र की तरह कुछ निश्चल चित्रों की शृंखला मात्र बन जाये । पर विद्युत्तंत्र ने संचार-साधनों में नयी क्रांति ला दी । टेलीविजन के विकास के द्वारा दृष्टि को और परिसीमित कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि टेलीविजन से चिपकी हुई आंखें केवल केन्द्र को देख सकती हैं, परिधि उनके लिए एकदम घुल कर सपाट हो जाती है । चेहरे की हरएक सिलवट तो उभर आती है, पर आदमी कहां बैठा हुआ है, उसके आसपास क्या हो रहा है, यह सब एकदम धुंधला पड़ जाता है । ये आंखें फिर परिवेश की पहचान करने में असमर्थ हो जाती हैं । उनके लिए दृश्य का केन्द्रबिन्दु ही पूरा परिदृश्य बन जाता है । विद्युत्तंत्र ने एकरूपता और ध्वनि विस्तार यत्र की अनुरूपता के लिए श्रव्यरूप को भी बहुत अधिक ठहराव दे दिया है और भाषा को सहजता तक ले जाने के आयास में बहुत हद तक कृत्रिम बना कर सहजता के बंधे सूत्रों में जकड़ दिया है । इसका गहरा प्रभाव भाषा, विशेष रूप से सर्जनमुखी भाषा पर पड़ा है । भाषा का श्रव्य रूप अधिक सक्रिय, अधिक गतिशील तथा अधिक परिवर्तनशील होता है, जबकि दृश्य रूप अधिक स्थिर, अधिक रूढ़ और अधिक अपरिवर्तनीय होता है । यांत्रिकता के प्रभाव में जब भाषा अधिक दृश्य बन जाती है और दृश्य भी ऐसा कि उसमें लिखनेवाले व्यक्ति की भी विशिष्टता न रह कर छापनेवाली मशीन की छाप मात्रा दिखाई पड़ती है, लचीलापन नही रह जाता और तब सर्जन-प्रक्रिया और भी जटिल हो जाती है ।

समूह-संस्कृति का पहला आक्रमण होता है शब्दों के नुकीलेपन पर । बार-बार पुनरावर्तन से और एक ही प्रकार के पुनरावर्तन से शब्दों की कोर मर जाती है और इतनी जल्दी-जल्दी शब्द अपना जामा बदलने लगते हैं कि उन्हें पहचानना मुश्किल हो जाता है । सही शब्दों की तलाश के लिए इतनी अंधेरी गलियां, इतने

कोनों-अंतरों में जाना पड़ता है और उन शब्दों को तुरन्त बिलकुल भरे बाजार रोज-रोज नयी-नयी पंक्ति में खड़े करना पड़ता है कि यह नापने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता कि कौन शब्द कब कूट भाषा (स्लैङ्) का था और कब सामान्य भाषा का हो गया। कविता बोलचाल की ही भाषा से नहीं, एकदम भदेसी एवं अन्तरंग अनगढ़ बोलचाल की भाषा से शब्द लेने के लिए लाचार हो जाती है, इसलिए कि पिछले शब्द कुछ ही समय में आवृत्तियों की संख्या के तथा पहुँच के दायरे के फैलाव के कारण बहुत जल्दी चुक जाते हैं। यही नहीं, जब कभी बात को मोड़ दे कर कुछ बांकी भंगिमा लाने की कोशिश की जाती है तो वह बांकपन दूसरे ही दिन सीधा-सपाट बन कर प्रस्तुत हो जाता है।

एक ओर तेजी से बदलाव की यह लाचारी है, दूसरी ओर भाषा को एक सीमा के बाहर तोड़ने में सम्प्रेषण के सूत्र के टूटने का खतरा भी है। कवि-कर्म इन दोनों छोरों के बीच तनाव के कारण आज बड़ा कठिन हो गया है। कवि अपनी सीखी हुई भाषा के बोलनेवाले के बीच में अपने को एकाएक अजनबी महसूस करने लगता है—विशेषकर उस समय जब सीखी हुई भाषा की भीतरी गांठ को खोलने के लिए, उसको और नज़दीक से समझने के लिए अपने कविधर्म के कारण बेचैनी महसूस करता है। वह दुहराने से जितना बचना चाहता है उतना ही दुहराव के घेरे उसे लपेटने लगते हैं। कोई रचनात्मक बन्ध आविष्कृत होने भर की प्रतीक्षा करता है, आविष्कृत होते ही यांत्रिक सांचे में ढल कर कोटि-कोटि रूपों में आवृत्त हो जाता है; वह आविष्कार न रह कर एक बासी ठहराववाला माडल बन जाता है। कोई भी प्रयोग सिद्ध होने के पहले उच्छिष्ट बन जाता है। इस संकट से उबरने के लिए कवि को एक साथ दो काम करने होते हैं; उसे विशेष से अधिक सामान्य की खोज करनी होती है और सपाटता से बचने के लिए एक साथ बहुआयामी वास्तविकता का साक्षात्कार कराना होता है।

वह रोजमर्रा की भाषा में सीधी चोट करने की क्षमता की सही-सही पहचान करता है और इस पहचान में वह विश्वयारी न अपनाकर अपने शहर या गांव, अपने साथी-संघाती, अपने आस-पड़ोस से सम्पृक्त रहता है; दूसरी ओर वह किसी एक संस्कृति, जाति या इतिहास के केन्द्र में न रहते हुए अनेक जातियों, संस्कृतियों और इतिहासों के पिरामिड के शिखर पर अपने को स्थापित करता है। उसकी कविता की रेखाएं एक-दूसरे को काटतीं नहीं, क्योंकि वे एक धरातल की रेखाएं नहीं होतीं—इसलिए कि वह कविता

एकदेशीय न होकर अनेकदेशीय होती है, उसमें दिग्भ्रान्ति के भय का खतरा हो तो हो, कम से कम एकदेशीयता की ऊब तो न हो। उदाहरण के लिए ब्रेख्त की एक कविता अनूदित रूप में प्रस्तुत की जा रही है—

मैं सड़क के किनारे के बन्धे पर बैठा
इन्तजार कर रहा हूं
गाड़ी का चालक पहिया बदल रहा है
मुझे किसी भी जगह से लगाव नहीं,
न उससे जहां से आ रहा हूं
न उससे जहां जा रहा हूं,
पर जाने क्या बात है,
मैं बड़ी बेसब्री से
पहिये के बदले जाने का दूभर क्रम
देखे जा रहा हूं।

इस कविता में जिन्दगी की दुर्निवार और निरुद्देश्य गतिशीलता को व्यक्त करने के लिए मोटर के पहिये बदले जाने की बात उठायी गयी है, जो आज के यांत्रिक जीवन में बहुत मामूली-सी बात है। पर एक मामूली-सी घटना के बयान में केवल एक टिप्पणी जोड़कर कि जहां से आ रहा हूं और जहां जा रहा हूं, उन दोनों जगहों से मुझे कोई लगाव नहीं है, पर इसके बावजूद पहिये के बदले जाने में विलम्ब असह्य है—समूचे आधुनिक जीवन की विडम्बना बड़े तीखे ढंग से प्रस्तुत कर दी गयी है। पहिये का बदलाव जितना बाहर घटित होता है, उससे अधिक भीतर, क्योंकि जीवन यंत्र से अधिक यांत्रिक मनोभाव से प्रभावित है। ब्रेख्त ने अपनी एक दूसरी कविता में कहा है कि जिस शब्द में दुराव न हो, वह शब्द मूर्खों की भाषा में ही स्थान पा सकता है, इसलिए सामान्य शब्द भी काव्यभाषा में आकर अठपहल बना दिये जाते हैं और चूंकि विशेष शब्द का अठपहल रूप चिर अभ्यस्त है, इसलिए उसके अठपहल रूप का आकर्षण समाप्त है, पर सामान्य शब्द में अठपहल की कोर मारने की संभावना अभी शेष है। उसी का सँभल-संभल कर उपयोग काव्यभाषा के लिए अवलम्ब रह गया है।

डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

भाषा मिथक और यथार्थ

भाषा से यहाँ तात्पर्य, साहित्य-भाषा से है और 'यथार्थ' शब्द, अपने व्यापक अर्थ-क्षेत्र में, समूचे जोवन, प्रकृति और समाज को समेटे हुए है ; अर्थात् इस सम्पूर्ण दृश्यमान,अनुभूयमान् वास्तविक जगत् को, जो अणु-परमाणुओं से लेकर, मानव-चेतना तक इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा, समग्रतः चेतना द्वारा अनुभूत या ज्ञेय है, 'यथार्थ' कहते हैं या कह सकते हैं।

'यथार्थ' शब्द इतना व्यापक है, कि स्वयं चेतना (जो स्वचेतनात्मक रूप में अत्यन्त सूक्ष्म और भाषातीत सी हो जाती है) को भी यथार्थ का ही एक उच्चतर परिणमन या गुणात्मक परिवर्त्तन कह सकते हैं क्योंकि 'यथार्थ' को, चेतना से समानान्तर अथवा स्वतंत्र मानने पर द्वैतवाद का प्रवेश हो जाता है, जो असंगत है। मूलतः तत्व एक ही है और वह चेतना नहीं 'यथार्थ' है, जो पदार्थ (मैटर) की संज्ञा से अभिहित होता है और चेतना, इसी पदार्थ के अंतर्निहित तत्वों के अनवरत द्वन्द्व और संगति से, ऐतिहासिक विकास के एक विशिष्ट कालक्रम में, जैवी चेतना या प्राणसत्ता (लाइफ) के रूप में विकसित होती है अतः चेतना दिव्य नहीं, भौतिक है।

यदि चेतना दिव्य, परिभू,. स्वयंभू, शुद्ध चैतन्य, साक्षी, स्वतंत्र बुद्ध, और अनिर्वचनीय नहीं है, भौतिक है, सापेक्ष और पदार्थावलम्बित है तो चेतना के उड्डयन और स्पन्दन, द्रवण और द्रुति, स्फुरण और प्रज्ञालोक (फ्लैशिस) भी यथार्थ सापेक्ष होंगे और इसलिए चेतना की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में उसके यथार्थ के साथ सम्बन्धों को देखना होगा।

भाषा और यथार्थ के रिश्तों की सैद्धांतिक संभावना बन जाने पर भी,

इनकी पहचान करते समय सबसे बड़ी चुनौती यह उपस्थित होती है कि जागतिक- अभिव्यक्तियों और यथार्थ का रिश्ता तो स्वयंसिद्ध है पर यथार्थातीत अनुभवों, आभासों का सम्बन्ध भाषा से सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि ऐसे अनुभवों के क्षणों में ' गूगे के गुड़ ' जैसी अनुभूति होती है । यथार्थातीत या सर्वातीत अनुभवों को इसीलिए रहस्यदर्शियों ने ' अवाङ्मनसगोचर ' कहा है । प्राचीन-मध्यकालीन रहस्यवादी भाषा और यथार्थ का सम्बंध तो मान सकते हैं, व्यावहारिक यथार्थ के धरातल पर, परन्तु वे परमार्थिक सत्ता के आभासों-अनुभूतियों को भाषा का विषय नहीं, मात्र अनुभव का विषय मानते हैं क्योंकि ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त किया ही नहीं जा सकता ।

किन्तु वेदोपनिषद-तंत्रागम-बौद्ध-शैव-शाक्त-सिद्ध-नाथ-सन्त-भक्त, साधनाओं की परम्परा में रहस्यमय अनुभवों की जो भाषागत-अभिव्यक्तियां उपलब्ध हैं, उनके अध्ययन ने, भाषा और यथार्थातीत अनुभवों के सम्बंध-अन्वेषण के समय वास्तविक जीवन का भाषागत-प्रतिबिम्बन-परिप्रेक्षण ही प्रमाणित होता है ।

यह दो स्तरों पर सिद्ध हो सकता है, प्रथम, स्वयं रहस्यमय लगनेवाले अनुभवों में यथार्थ का प्रतिबिम्बन या प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) दिखाकर और द्वितीय, उनकी भाषागत अभिव्यक्ति के धरातल पर :—

(१) मनुआँ रामनाम रस पीवै (कबीर)
(२) दुलहिनी गावौ मंगलचार (कबीर)
(३) हे री मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जाने कोय (मीरा)
(४) सिंधु को क्या परिचय दें देव
बिगड़ते बनते वीचिविलास ।
क्षुद्र हैं मेरे बुद् बुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश ॥ (महादेवी)
(५) लिखा पढ़ी की है नहीं
देखमदेखी बात ।
दूल्हा दुलहिन मिलि गए
फीकी परी बरात ॥ (कबीर)

भक्त कवियों—सूर, तुलसी आदि के आध्यात्मिक आभासों (इष्टरूपदर्शन, मिलन-विरह के गीत आदि) को भी रहस्यमय अनुभवों में ही रखना होगा क्योंकि साकार ब्रह्म की उपासना में भी, आंतरिक या काल्पनिक साक्षात्कार रहस्यमय ही होते हैं । इसी प्रकार नवरहस्यवादी आधुनिक कवियों के आत्यन्तिक अनुभवों को भी इसी रहस्यवादी कोटि में रखना होगा क्योंकि 'आंगन के पार द्वार' (अज्ञेय) शून्यपुरुष और वस्तुएँ (वीरेन्द्र कुमार जैन)

'स्वर्णकिरण-स्वर्णधूलि' (सुमित्रानन्दन पन्त) जैसे आधुनिकयुगीन काव्यसंग्रहों और अमृता भारती जैसी कवयित्रियों की रचनाओं में भी पारम्परिक रहस्य-वाद का सिलसिला है, जिनमें वास्तविकता से असंतुष्ट या अतिक्रांत मानव-चेतना की ही उड़ानें या आभास हैं।

इस सम्पूर्ण सृजन में यथार्थातीत होने का दावा करने पर भी, वास्तविक जीवन, प्रकृति, सामाजिक-वैयक्तिक अनुभवों और सम्बन्धों की ही प्रतिच्छाया प्रमाणित होती है। उदाहरण के लिए कबीर, मीरा, सूर, तुलसी, सभी कवि सांसारिक भाषा और अप्रस्तुतों (रूपक, बिंब, प्रतीक, मिथक) द्वारा ही अपने अमूर्त्त अनुभवों को प्रकट करते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में 'रस' 'दुलहिन' 'दिवानी' 'दर्द' 'सिन्धु' 'वीचि' 'बुद्‌बुद' 'सृष्टि' 'नाश' 'बरात' आदि प्रत्यय यथार्थपरक हैं। चेतना की दिक्-कालातीत उड़ानों या साक्षात्कारों में वस्तुतः दिक् और काल के भीतर वास्तविक जीवन का ही आभास दिखाई पड़ता है। कल्पना, जो चेतना के भीतर छायाभास या फंटेसी खड़ी करती है, उसमें भी वास्तविक जीवन के सदृश या विपरीत रंग और रूप उभरते हैं। कल्पित जीवन में दीर्घनिमग्नता से यह भ्रम होता है कि बाह्य संसार नहीं है या कि दिक् और काल नहीं है, पदार्थ और उसके परिणाम नहीं हैं, भाषा और ऐन्द्रियता नहीं हैं। 'आत्मरमण' की इस अनुभव दशा में यह जो यथार्थातीत हो जाने का अनुभव होता है, वह इसलिए होता है क्योंकि वास्तविक जगत में सापेक्षता है अतः निरपेक्षता की ओर मन जाता है। इस तरह सोचने पर रहस्यवादी अनुभवों में प्राकृतिक ही अतिप्राकृतिक बन जाता है। मसलन् सीमानुभूति से असीमानुभूति, सापेक्ष से निरपेक्षता, स्थूल से सूक्ष्मता, जीवन्त और सक्रिय से शून्यता, गति से अगति या गत्यातिक्रमण, रूप से अरूप, अरूप से रूप, और दिक्-काल से दिक्कालातीतता का भान होता है। लौकिक भाषा इस प्रक्षेपित सत्ता (प्रोजेक्टेड रियलिटी) को संकेतों या प्रतीकों से व्यक्त करती है। लेकिन ये संकेत और प्रतीक वास्तविक जीवन संदर्भ में अर्थ पाते हैं। आध्यात्मिक संकेतों या प्रतीकों से पूर्वजीवित या अनुभूत सन्दर्भ स्मृति में अवतरित होते हैं और कल्पना की सक्रिय दशा में यथार्थ जीवन के द्वन्द्वों से दूरी के कारण प्रतीत यह होता है कि हम निर्द्वन्द्व होकर किन्हीं अलौकिक सत्ताओं, रूपों, रंगों, स्पन्दनों, अनुभवों, भावनाओं आदि का साक्षात्कार कर रहे हैं।

बुद्धि की कार्यकारणपरक भूमिका स्थगित करते ही, रहस्यवादियों की चेतना कष्टातीत स्थिति में पूर्वदर्शित अनुभूत चीजों को ही देखती है। यों उस समय जान यह पड़ता है कि वह 'दिव्यजगत', कार्यकारणातीत अलौकिक

भरातल है ।

मिथक भी, यथार्थ जीवन, प्रकृति और सम्बन्धों के संसार के प्रत्यक्षीकरण से बनते हैं। उदाहरणतः हिल्लोलित समुद्र में धूप-छाया की आँखमिचौनी के समय, उत्तुंग लहरें सचमुच शेषनाग की नागिनों जैसी लगती हैं और लहरों के हिलते आसन पर सोए हुए विष्णु-लक्ष्मी की कल्पना जाग्रत होती है। मनुष्य की चेतना, सर्वाधिक प्रभावित मानवता से ही होती है। अतः वह परि-दृश्यमान् और अनुमानित-कल्पित सत्ताओं का भी मानवीकरण करती है। मनुष्य ने पुराणों के देवताओं-असुरों की कल्पना में अपने जीवन का ही प्रक्षेपण किया है। मात्र अतिरंजना से यह सिद्ध नहीं होता कि मिथक का मूल, मानवता में नही, दिव्यदर्शन में है। जिसे 'दिव्यदर्शन' कहा जाता है, वह 'दिव्य' इसलिए लगता है कि वस्तुओं और जीवन में, जो सर्वत्र प्राकृतिक, निश्चित, परिबद्ध कारणकार्यपरक सम्बन्ध है, वह कल्पना की क्रीड़ा में विच्छिन्न हो जाता है और मनुष्य, अपने वास्तविक जीवन की बद्धताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए मानसिक, ऐच्छिक या काल्पनिक आस्फालन करता है और देवमण्डल, असुर-राक्षस-लोक, अवतार-पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि की अपनी कल्पना से रचना करता है, उनमें जीवन के अनुभव, मर्म और मूल्य भरता है और फिर उनसे चमत्कृत होकर प्रेरणा लेता है या उन्हें कला और साहित्य में प्रयुक्त कर युगानुरूप अर्थवत्ताएँ ढूँढ़ता है।

यह मिथक-संसार भी भाषाबद्ध है और महाभारत, रामायण तथा अन्य पुराणों के आद्यबिम्बों या मिथक कथाओं और पात्रों को लेकर बुनी गई रचनाओं के नैरन्तर्य, और युगानुरूप उनकी नवअर्थवाहिनी भंगिमाओं से यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि भाषा और मिथकीय यथार्थ अथवा भ्रम में यथार्थबोध का सम्बंध स्थापित हो जाता है। मसलन् सूरदास ने जो मनोराज्य रचा है, उसमें मानव के स्वच्छन्द जीवन की परिकल्पना है, जहाँ सम्बन्ध और मर्यादाएँ स्थगित हैं, केवल चेतनाविलास का मनोगत राज्य है। आदिम साम्यवादी कबीलों में प्रचलित, स्वतंत्रता और साम्य, मुक्तता और ममता ही, नागरिक जीवनके द्वन्द्वग्रस्त, आत्मनिर्वासित (एलियनेटेड) व्यक्तिनिष्ठ, विषम और विग्रहग्रस्त अस्तित्व के विरोध या विपरीतता में दिव्य प्रतीत होने लगती है।

भाषा का स्वभाव और कार्य रूप को स्मृति में लाना है। जब कबीर को सर्वत्र अपने 'लाल' की 'लाली' दिखाई पड़ती है तो पूर्वदर्शित लालों की लालिमाएँ ही कल्पना में विशदीकृत होकर सर्वत्र दिखाई पड़ने लगती हैं और प्राकृतिक संसार की कुरूपताएँ और जुगुप्साएँ अवचेतन से अदृश्य सी हो जाती

हैं। चारों तरफ सुनहला रंग बरसते देखकर कबीर किलक उठता है।

भाषा मानव अनुभव का शब्दमय रूप है अतः भाषा सर्वत्र पूर्वानुभव को चेतना में साकार करती है। निराकार या अमूर्त की अनुभूति, अनुमान या आभास, साकार, ठोस, रंगरूपमय वास्तविक जीवन के कारण होता है। अतः केवल बिम्ब ही रूप खड़ा नहीं करते, भाषा का प्रत्येक अवयव प्रतिबिंबक होता है। संज्ञा, सर्वनाम, कारक, और क्रिया सब बिम्बधर्मा होते हैं क्योंकि वे जिसे चेतना में लाते हैं वे ठोस पदार्थ, प्रकियाएँ या सम्बन्ध हैं, जो पूर्वानुभव के कारण स्मृति में कौंधते हैं और अर्थज्ञान हो जाता है। 'पुस्तक' शब्द उतना ही बिम्बधर्मी है जितना 'लाओ' शब्द अथवा 'वह' सर्वनाम या कारक चिह्न (ने, को, से आदि)। पुस्तक कहते ही पुस्तक चेतना में साकार हो जाती है और उसके गुणों का प्रभाव भी महसूस होने लगता है, उसी प्रकार जिस प्रकार 'जल' शब्द कहते ही पानी की मिठास और शीतलता अदि गुण आनुभूत होने लगते हैं।

यह कहा जा सकता है कि समाधि में भाषा के बिना ही साक्षात्कार होता है अथवा निर्द्वन्द्वता, निराकारता और शांति अनुभूत होती है। यह ठीक है कि भाषाहीन स्थिति में अनुभव हो सकता है, होता है, किन्तु अनुभव की स्मृति, भाषा के द्वारा ही संभव है, क्योंकि समाधि की स्मृति में शब्द ही उस अवाङ्मनसगोचर, इन्द्रियातीत अनुभव को साकार करता है। भाषा की मानसिक-प्रक्रिया निःशब्द होती है किन्तु अनुभव के शब्दमय बनते ही चेतना में पूर्वदर्शित, पूर्वकृत अनुभवों के सादृश्य या विरोध (कंट्रास्ट) की पद्धति द्वारा निराकार अनुभूति साक्षात्कृत होने लगती है। अतः जो सूक्ष्म यथार्थ है उसका भी मानसिक-चर्वणा भाषा के बिना अज्ञेय और अगम्य ही रहता है। चेतना भाषामय होने पर ही अनुभव बोध कर सकती है। भाषाहीन अनुभव भी, भाषाबद्ध होकर ही अपनी सत्ता प्रमाणित करते हैं और भाषा, सामाजिक विषय होने के कारण, समाजनिरपेक्ष से प्रतीत होने वाले अनुभवों या भ्रमों में जीवन यथार्थ का प्रतिध्वनन करती है। भाषा की ध्वनि यथार्थ की ध्वनि है, क्योंकि यथार्थ से ही हम परिचित है अतः मिथक का कोई ऐसा स्वरूप अभी तक नहीं मिलता, जिसमें यथार्थ की प्रतिध्वनि न हो।

भाषा और यथार्थ के वास्तविक सम्बंध को साधनात्मक साहित्य मे सिद्ध कर लेने के पश्चात् मूर्त्त संसार के प्रतिबिम्बक ललित साहित्य और कलाओं में यह सम्बंध सरलता से सिद्ध हो जाता है। यदि यथार्थ और भाषा में प्राथमिकता का प्रश्न हो तो यथार्थ ही प्राथमिक महत्त्व की वस्तु है। भाषा यथार्थ के कारण है और उसी को व्यक्त करती है। भाषा के परिवर्त्तन का

अध्ययन यथार्थ के परिवर्त्तन का अध्ययन है। काव्यभाषा के यथार्थ (काव्यार्थ) को ध्यानवृत्त से बहिष्कृत कर केवल शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, समग्र अध्ययन के लिए एक घटक के विषय में मात्र कुछ सूचनाएं देते हैं। यथार्थ के सन्दर्भ में भाषा का अध्ययन करते समय, ऐसे एकांगी किन्तु विशिष्ट अध्ययन, सामग्री जुटाते हैं, वे काव्य भाषा के विषय में अंतिम मत नहीं दे सकते। अंतिम मत काव्य (यथार्थ) और भाषा अथवा अर्थ या प्रकरण और अभिव्यक्ति के सामग्रिक अध्ययन द्वारा ही निश्चित हो सकता है। व्याकरणिक विश्लेषण अंततोगत्वा सामग्रिक अध्ययनों में सहायक ही होते हैं, यों उनकी सामग्री को यथावत् नहीं लिया जा सकता।

वस्तुतः भाषा और यथार्थ का प्रश्न समकालीन साहित्य क्षेत्र में, यथार्थ के परिवर्त्तन की परिकल्पनाओं से जुड़ा हुआ है। मसलन् परम्परावादी विचारक सर्जक, आज भी शब्द को ब्रह्म मानते हैं और उनकी योगपरक व्याख्या करते हैं। बैखरी वाणी में परावाणी व्यक्त होती है जो मूलतः अकारकेय और अगोचर है। उसका स्फोट होता है जो स्थूल शब्द में सुनाई पड़ता है। आधुनिक नवयथार्थवादी, विवेक संगत व्याख्या करना चाहते हैं किन्तु सामाजिक-परिवर्त्तन के क्षेत्र में वे पूर्ण परिवर्त्तन या उग्र परिवर्त्तन का समर्थन नहीं करते। नवरहस्यवादी पन्त-अज्ञेय-वीरेन्द्र कुमार जैन, अमृता भारती आदि भी भाषा का साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्त्तनों का माध्यम बना कर प्रयुक्त नहीं करते। वे क्रमशः यथार्थ का अतिक्रमण करते हुए अयथार्थ की भूमिका में पहुँचते हैं, जहाँ निर्द्वन्द्वता है और जहां वास्तविक जीवन के व्यक्ति और वर्ग संघर्ष बचकाने, व्यर्थ और भ्रमात्मक प्रतीत होने लगते हैं। यह संभव है कि ऐसे कवि सामाजिक आंदोलनों के मध्य किसी एक या दूसरे का समर्थन कर दें किन्तु उनकी आत्माएँ यथार्थातीत, वैयक्तिक अनुभूतियों-आभासों में रमती हैं और उन्हें लगता है कि वे उच्चतर झरोखों से इस निम्नस्तरीय जागतिक प्रपंच को ताक और भोग रहे हैं। यह भी नहीं है कि इनमें वास्तविक मानव यथार्थ की झलकें न मिलें, अमृता भारती और वीरेन्द्र कुमार जैन तो उग्र परिवर्त्तन के भी समर्थक हैं, किन्तु अपनी मनोगतता अथवा अपने निजी विश्वबोध के कारण यथार्थ से सीधे नहीं टकराते।

अकवि समझते हैं कि अस्तित्वगत पारदर्शिता, वैयक्तिक अहं, स्वच्छन्दता और तोड़फोड़ से मनुष्य यातनामुक्त हो सकता है। यथार्थ की यह समझ अकवियों को उद्धत, अजीब और अराजक बनाती है। उन्हें सामाजिक यथार्थ के प्रति निराशा और समानान्तरता की ओर ले जाती है। अतएव उनकी काव्य-भाषा भी उद्धत, अश्लील, निषेधपरक और नग्न है, वीभत्स भी। मानव

यथार्थ की वीभत्सता दिखाकर वे झटके की पद्धति से उसमें विद्रोह जगाना चाहते हैं, जिसकी परिणति किसी सामाजिक कर्म या संघर्ष में नहीं होती, आदिम धरातलों पर उतर कर आत्मविस्मृति और अन्त में आत्मविनाश में होती है। मनुष्य का बौद्धिक रूप गायब होकर चेतन पर अचेतन का उच्छृंखल शासन हो जाता है और ध्यान मे सिर्फ अपनी विचलनजन्य थ्रिलों और थरथराहटों का ही संस्कार उनके सृजन मे रह जाता है। बौद्धिक आलोक, कार्यकारण-परम्परा और मूल्यगत लगाव स्थगित होते चलने से, अन्त में एक शिथिलेन्द्रिय व्यक्ति रह जाता है जो निराशाओं में ध्वंस की धुनें सुनाता रहता है।

अकविता की भाषा में बोलता यही यथार्थ है, जिसकी पहचान के बिना अकवियों की काव्यभाषा में मात्र भाषागत प्रयोगशीलता मिलेगी। प्रयोग, रचनाकार के सचेत या अचेत प्रयोजनों, दृष्टियों या मनोगतियों के परिणाम होते हैं।

सप्तम दशक में उभरे अन्य व्यवस्था-विरोधी कवियों की काव्य भाषा में बढ़ते दुहराव का कारण रचनाकारों का, सामाजिक संघर्ष से कट कर अलग रहना है। विद्रोह की वाणियां बिलों से आ रही हैं, सुसज्जित कक्षों से, कुर्सियों पर जमी, सुखी शख्सियतों से, आक्रोश और वर्गघृणा का चाप क्रमशः चढ़ता नहीं जान पड़ता; उसके आरोह और अवरोह बहुत साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं। परिवर्त्तक शक्तियों की दुर्बलता या दिग्भ्रम से लेखकों का अधिकांश हिस्सा, हिरावल में नहीं, अपनी सुखद नीड़ में तूफान की प्रतीक्षा करता है। अतः उसकी मनोगतता निरंकुश, निराश और व्यक्तिग्रस्त हो जाती है।

समकालीन काव्यभाषा की मनमानी फलॉगों, फंतासियों, शब्द अपव्ययों अर्थहीनताओं और सपाटबयानियों का एक यह भी कारण है और भी कारण हैं। कवि जिसे यथार्थ में चाहता है, यदि वह नहीं हो रहा है तो उसकी कल्पना में निमग्न तो रहा ही जा सकता है और यथास्थितिजन्य वेदना का अनुभव भी होता रह सकता है।

क्या कारण है कि चे गुवेआरा के गद्य में पारदर्शिता है, नपातुलापन है, एक दूसरे से गँसे हुए शब्द हैं। कारण यह है कि चे गुवेआरा का गद्य उनके कार्यबद्ध जीवन से जन्मा है। एक संघर्षशील व्यक्ति के संघर्ष और कल्पना-निमग्न व्यक्ति की मानसिकताओं में बहुत अंतर होता है। यही अंतर उनकी रचनाओं में भासता है। औसत लेखक के सृजन में जो आज एक असहायता और अपराधभाव है, वह संघर्षशील शक्तियों या व्यक्तियों की कमजोरी के कारण है। प्रबल सामाजिक प्रतिरोध अपने प्रवाह में मनोजीवी व्यक्तियों को

स्वतः समेटता है, यथा राष्ट्रीय आंदोलन में।

वामपंथी शक्तियों के विभाजन और विखंडन से आठवें दशक के पिछले वर्षों में मुद्दा आपात्कालीन संकटों को दूर करने का हो गया है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया में जन्मे 'जनता आन्दोलन' को आपसी बिखराव और परस्परविरोधी विचारधाराओं से, सफल होने का अवसर नहीं मिला। इस स्वतंत्रता और जनतंत्री व्यवस्था और पद्धति की रक्षा के संघर्ष में सप्तम दशक के अन्त में उग्रता के साथ अनुभूत मुद्दा, संरचनात्मक मूल परिवर्त्तन का ज्वलन्त प्रश्न, गौणता पा गया है। अतएव आठवें दशक की काव्यभाषा में वह ज्वार नहीं रहा जो १९६५ के बाद कविता में आया था। जनपक्षधरता की बुनियाद पर तानाशाही और साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध डट कर लड़ाई साहित्यिक पत्रकारिता द्वारा नहीं लड़ी गई। उसका व्यवस्था-विरोध कायम है पर वह अमूर्त्त और अस्पष्ट है, उत्साहहीन भी।

विद्रोह-क्रान्ति के समर्थकों का साहित्य, साहित्यिक-प्रतिष्ठान का अंग बन कर प्रतिष्ठित हो गया है और यही उसके दब्बूपन और अवरोह का कारण है। सृजन की भाषा की तेजस्विता को इससे हानि पहुँची है। कलाकौशल में पूर्ववर्ती 'नई कविता' के कवियों को पछाड़ देने के व्यसन में नवप्रगतिशील कई कवियों की अनेक कविताओं में लोकसघर्ष नहीं, लोक की छवियां या परिदृश्य अधिक हैं। इससे सौन्दर्यबोध बढ़ता है, लेकिन समकालीन संघर्षशील कविता की भाषा में जीवन संघर्ष का वह अटपटापन या अनगढ़पन क्यों नहीं है, जो सप्तम दशक के प्रारम्भ, मध्यम और अन्त में तीव्रता से उभरा था?

यथार्थ के चित्रकर्मी कवि में यथार्थ की गतिशील तस्वीर व्यक्ति या घटनाओं के चित्रण के माध्यम से उभरती है, मात्र मनोगतता की प्रतिध्वनियों के प्रसार से नहीं। कविता में सूक्ष्म सामूहिक अहसासों को, अपने माध्यम से बिम्बित करना जरूरी है, लेकिन उससे भी अधिक जरूरी है कि कविता को निरवलम्ब या मात्र आत्म-उत्खनन तक सीमित करने के स्थान पर, यथार्थ मानव और उसकी वैयक्तिक और सामूहिक गतिशीलताओं को पकड़ा जाए। यह मात्र 'मोचीराम' की तरह व्यंग्य या विद्रूप से नहीं हो सकता। यह यथार्थ मानव के साक्षात् बोध या जीवन संघर्ष और सामाजिक संघर्ष में मग्न व्यक्ति के पर्यवेक्षण या सहभागिता से हो सकता है।

भाषा के पोलेपन, तरलता, उड़ाऊपन और अमूर्त्तन एवम् वाक्छल के यही कारण हैं। कथा साहित्य में भाषा यथार्थ से सीधे जुड़ी हुई है। किन्तु यहाँ भी यथार्थ की परिकल्पना निर्णायक भूमिका अदा करती है। जगदम्बा

प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर' की भाषा यथार्थ पर पड़े भ्रम का विदारण करती है जबकि 'ययाति' की भाषा क्लासिक स्थिरता के साथ स्थितियों का बखान करती है।

'नगर पुत्र हँसता है' (धर्मेन्द्र गुप्त) के लेखक एक प्रत्यक्षवेधक भाषा का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें तीक्ष्णता के साथ प्रचलित व्यवस्था, जिसमें सम्बन्धों का पुरानापन भी शामिल है, को अनावृत करना है, अतएव लहजा आक्रोशी है। 'गोबर गणेश' (रमेश चन्द्र शाह) में भी उच्चाटक भंगिमा है। दोनों उपन्यास यथार्थ से परदा उठाते हैं और दोनों के नायक संघर्ष-शील हैं, जो अन्त में कहीं नहीं पहुँचाते। लेकिन दोनों उपन्यासों में जो आसपास चल रहा है, व्यक्ति के विकास की जो समस्या है उसकी चुनौती का सामना करने के कारण भाषा पारदर्शी है। फिर भी सवाल उठता है कि धर्मेन्द्र गुप्त के उपन्यास में भाषा का तेवर लड़ाकू क्यों है जबकि रमेश चन्द्र शाह के उपन्यास में चुटीली भाषा नहीं है।

इसका कारण यह है कि लेखकों का यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण, रचना और भाषा का रूपनिर्धारक होता है। यदि दृष्टि नहीं है तो भाषा का निर्धारण कोई मनोदशा करेगी। 'नगर पुत्र हँसता है' में लेखकीय दृष्टि एक विद्रोही की है जो सामाजिक-राजनैतिक संरचना और तज्जन्य जीवन-पद्धतियों का विरोधी है। इसके विपरीत रमेश चन्द्र शाह में कोई सामाजिक-दृष्टि नहीं है, परिवर्तन का कोई इरादा लेकर, उस परिवर्तन की बेचैनी और बोध में जीता हुआ नायक यहाँ नहीं है। यहां, अपने विकास का संघर्ष है और वैयक्तिक प्रामाणिकता पारदर्शिता के कशमकश है। इन दो भिन्न दृष्टियों या एप्रोचों के कारण, दोनों उपन्यासों की भाषा में अंतर आया है।

प्रेमचन्द भाषा की बुनावट की जगह क्यों सर्वदा, सर्वत्र, कथ्य या वर्ण्य पर निगाह टिकाए रखते हैं ? क्योंकि उन्हें यथार्थ का चित्र देना था, चित्र के लिए यथार्थ का अयथार्थीकरण या यथार्थ का विकृतीकरण उन्हे प्रिय नहीं था। अत: उनकी यथार्थवादी रचनाएं, यथार्थ की शक्ति के कारण प्रतीकात्मक महत्व धारण कर लेती हैं। भाषा की यथार्थ-प्रतिबिम्बक भूमिका इस कार्य में सहायता करती है। प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी' एक यथार्थवादी रचना है किन्तु जीवन्त यथार्थ की सफल कृति होने के कारण वह आज भी व्यसन और मूल्य के सनातन संघर्ष में, व्यसनप्रिय व्यक्ति के पतन की प्रतीक बन जाती है। यथार्थवाद को स्थायी महत्व स्वत: मिल जाता है यदि लेखक यथार्थ के अंकन में, अतिरंजना या अतिकल्पना को अलग रखकर, जीवन - वास्तविकता के किसी भास्वर अंश का

यथावत् अंकन करे।

कई विशेषज्ञ, कथा कहने के ढंग को, यथार्थ के चित्रण में बाधक मानते हैं। वह प्रेमचन्द के 'नैरेशन' की पारम्परिक विधिको अनाधुनिक मानते हैं, किन्तु क्या कारण है कि कई आधुनिक प्रयोगों की कृतियाँ, कुछ समय ध्यान खींच कर अस्त हो जाती हैं और कई यथार्थवादी रचनाएं अपनी यथार्थदिग्दर्शक शक्ति के कारण, सर्वदा के लिए प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती हैं? भाषा की अनमोल नृत्यकुशलता और नवीनता, जीवन यथार्थ के प्रति उपेक्षा या अमूर्त्तन से, माँसमज्जाहीन, शब्द-रंगशाला सी लगने लगनी है और अयथार्थता के कारण ऐसी आधुनिक किस्म की रचनाएं सिर्फ चकित करती हैं, प्रभावित नहीं करतीं; न बाद में उन्हें कोई पढ़ना चाहता है।

अज्ञेय रच-रच कर शब्द निर्माण करते हैं। इस मामले में वह नई कविता के पूरे नन्ददास या केशव हैं, किन्तु सूरदास, नन्ददास से और तुलसी केशव से बड़े कवि हैं। भाषा को, जीवन्त भाषा के करीब बनाए रखने के लिए सूर, तुलसी जनभाषा के मुहावरों वाक्यांशों, और लहजों को नया विन्यास देकर प्रयुक्त करते हैं। यह सामर्थ्य नन्ददास और केशव में कम है।

इसी तरह मुक्तिबोध की भाषा बौद्धिक भाषा का ऐसा रूप है, जिसमें अनगढ़ता, अटपटापन है। उसे कला से चिकना नहीं बनाया गया। मुक्ति-बोध, अपनी परिवर्त्तनकामी, क्रान्तिकारी चेतना के अंतर्द्वन्द्वों, बेचैनियों, यथार्थबोध की जटिलताओं, सामाजिक-वैयक्तिक आकांक्षाओं और अर्थो के ऊहापोहों को यथावत् प्रस्तुत करने के लिए पुस्तकीय, गैरपुस्तकीय शब्दों का मिश्रण तैयार करते हैं। वहाँ यथार्थ का बोध ही नहीं, उसका भय भी है। सामंती-पूंजीवादी समाज में, व्यक्ति को, मुक्तिबोध के दीमक और पक्षीवाली कहानी के पक्षी की तरह भोजन के लिये अपने पंख देने पड़ते हैं; व्यक्तित्व का विकास, मात्र अस्तित्वधारण के लिए बलिदान करना पड़ता है। यह भयंकर स्थिति है।

इस कटु यथार्थ के भय को, व्यवस्था से विकृत व्यक्तियों की क्रूरताओं के भय को मुक्तिबोधीय फंतासी और परिदृश्यचित्रण की भाषा ही प्रकट कर सकती थी, जो साधन है, साध्य नहीं। भाषा साध्य वहाँ होती है, जहाँ मात्र 'रूप' का या मात्र मनोगतता का चित्रण होता है जैसे, कलावादियों की भाषा में। आस्कर वाइल्ड की भाषा (नाटकों को छोड़ कर) संघर्षशील मनोदशाओं, उग्र संवेगों और आत्म-द्वन्द्वों का सामना

नहीं कर सकती, क्योंकि—द्वन्द्वात्मक भाषा में, शब्द-संघर्ष के क्षेत्रों से लेने पड़ते हैं और अकोमल, जानलेवा सामाजिक यथार्थ को अंकित करने के लिए चिकनी, बनी-ठनी, और तरल भाषा काम नहीं दे सकती।

बौद्धिक भाषा ('एलीट' की भाषा) में कविता लिखते समय मुक्तिबोध ने बीच-बीच में उसे तोड़ा है और सहज बोलचाल की भाषा से बांधा है—यहाँ तक कि एक ही पंक्ति में एक शब्द बौद्धिक है, एक प्रचलित—ऐसी ट्रेजडी है नीच।

अज्ञेय आसपास के बोले जानेवाले मुहावरे से बचकर, प्रबुद्ध-मुहावरा रचते हैं जबकि मुक्तिबोध प्रबुद्ध मुहावरे के साथ पूरी मनमानी करते हैं। उसे कवितात्मक न बना कर कथ्य या वर्ण्य का माध्यम बनाने के लिए ईंट-रोड़ों का अप्रत्याशित स्थापत्य आजमाते हैं।

अज्ञेय की सूत्रात्मक शैली में तत्ववेत्ता का अनुकरण रहता है, जबकि धूमिल की भाषा के सूत्र यथार्थबोधक हैं। अतः सूत्रात्मकता अपने में महत्वपूर्ण नहीं है। वह सही जीवन-यथार्थ के बोध के कारण महत्व पाती है। वास्तविक जीवन संघर्ष में धूमिल और जगूड़ी के कवितात्मक सूत्र प्रासंगिक लगते हैं, किन्तु अज्ञेय के परम विशिष्ट दूरदराज प्रतीत होते हैं। अज्ञेय समाज के केन्द्रीय अंतर्विरोध को नजरन्दाज कर, अपनी निजी अनुचिन्तनात्मकता में उतरते-उड़ते हैं। अतः वह आकर्षक तो लगते हैं पर प्रभावक नहीं। भाषा की अदाबाजी सम्मोहित कर सकती है पर वह मनुष्य को मुक्त नहीं कर सकती अतएव अभाव, शोषण, अन्याय और वैषम्य से नुक्तिदात्री भाषा, यथास्थिति-रक्षक भाषा से भिन्न होती है। यहां भी यथार्थ के प्रति दृष्टि, तज्जन्य सृष्टि और उसकी भाषा का नियमन करती है।

कुतक ने भाषा का सम्बन्ध कृतिकारों के स्वभाव से जोड़ा था। स्वभाव, विचारों से बदल जाते हैं लेकिम बहुतों के नहीं भी बदलते या वे स्वभाव-रक्षा के लिए विचार और चिंतन से अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। मसलन् गीत-कारों में अधिकांशतः स्वभाव की मृदुलता मिलती है। गीतात्मक प्रकृति गीति और गीत की सृष्टि करती है। भाषा भी इसी कारण गीतात्मक हो जाती है जो केवल कोमल भावनाओं को ही वहन कर पाती है। इसके विपरीत अहंवादी रचनाकारों की भाषा में ऐंठन और ग्रन्थिपरकता दिखाई पड़ती है।

अवांछनीय-अमानवीय सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ के कारण अधिकांशतः लोग दुःखी हैं। अतएव उनका पक्ष लेकर, यानी जनकरुणा या जन सहानुभूति के कारण लिखे गए लेखन की भाषा, विश्लेषक, उच्चाटक, विद्रूपकारिणी और

विरूपाक्ष होगी। वह यथार्थ के केवल सुंदर पक्षों तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि वह असौन्दर्य, और अन्याय के आधिक्य के कारण सुंदर के चित्रण को परिवर्तन की चेतना के जागरण में बाधक मानती है। इसी लिए रोमानी भाषा अप्रासंगिक हो गई। यथार्थ को चुटीले लेकिन अंतर्विरोध-बोधक रंग के साथ पेश करना आज एक आवश्यकता है। और इस कार्य में यथार्थवादी भाषा ही उपयुक्त हो सकती है।

यथार्थपरक भाषा वहां है, जहाँ थाना-अदालत हैं, व्यापार-बाजार हैं, खेत-खलिहान हैं। जीवन के दबाव से जनसमूह में लाखों नए शब्दविन्यास होते हैं किन्तु उन्हें पकड़नेवाले कम हैं। अतः वे अपनी शब्द-संरचना से काम चलाते हैं और वैयक्तिकता की सीमाओं के कारण उनका कथ्य सम्प्रेषित नहीं हो पाता अथवा वह 'समान धर्मिओं' तक सीमित रह जाता है।

अतएव, मेरी समझ से, बौद्धिकों और अबौद्धिकों को, भाषा के एक धरातल पर जो लेखक मिला सकता है अर्थात् जिसकी सृजनभाषा में इस खाई को भरने की जितनी अधिक क्षमता होती है, वह उतना ही अधिक सार्थक लेखक हो जाता है। भक्त कवियों में यह शक्ति बहुत अधिक थी। प्रेमचन्द ने कथा साहित्य में रास्ता दिखाया था। मुक्तिबोध बौद्धिकों के कवि हैं, किन्तु धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, भवानी प्रसाद मिश्र और अनेक कवि-लेखक हैं, जिनकी भाषा एकसाथ बौद्धिकों और अबौद्धिकों दोनों को प्रभावित करती है और वे व्यापक रूप में सम्प्रेषित हो पाये हैं।

इसप्रकार, भाषा और यथार्थ के समाधान में हमें यथार्थ को समझ कर तब भाषा को समझना होगा।

परमानन्द श्रीवास्तव

काव्यभाषा और काव्यवस्तु

काव्यभाषा और काव्यवस्तु को आमने-सामने रखने का यह अर्थ नहीं की इनकी प्राथमिकता, विशिष्टता या महत्व को लेकर हम कोई तुलनात्मक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ऐसी कोशिश बौद्धिक विलास के लिए तो ठीक है, पर कविता की गहरी समझ में इससे कोई मदद नहीं मिलनेवाली है। काव्यभाषा के अध्ययन को इन दिनों समीक्षा में महत्व दिया जा रहा है, तो केवल इसलिए कि कविता की आलोचना काव्येतर संदर्भों से इस तरह सीमित और सरलीकृत होती आयी है, कि एकबार कविता की पठनीयता ही गायब हो गयी। एफ० आर० लीविस ने रेने वेलेक की इस माँग-कि कविता में दर्शन सरीखा स्पष्ट-सिद्धान्त निरूपण भी किया जाय—के विरोध में टिप्पणी की है कि 'कविता के आलोचक को एक समूचा पाठक होना चाहिए : आदर्श आलोचक आदर्श पाठक भी होता है।' (१) 'कविता के शब्द हमें आमंत्रित करते हैं, सोचने और निर्णय लेने के लिए नहीं, बल्कि भीतर तक महसूस करने के लिए—एक जटिल अनुभव को उपलब्ध करने के लिए-जो शब्दों में प्रत्यक्ष है। (२) इस तर्क से यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आलोचक यह अनुभव किसके आधार पर पुनः उपलब्ध करता है। काव्यवस्तु के आधार पर या काव्यभाषा के आधार पर और यह कि क्या इस अनुभव की संरचना में यह द्वैत-सत्ता बनी रहती है या काव्यवस्तु और काव्यभाषा का अभेद सम्बन्ध इतना अनिवार्य हो उठता है कि हम उसे एक संश्लिष्ट इकाई में ही जान पाते हैं। काव्य की रचना-प्रक्रिया जिनके अनुभव का विषय है, या जो काव्य की रचना-प्रक्रिया के प्रति संवेदनशील हैं,

वे जानते हैं कि काव्यानुभव पहले चरण में ही एक भाषिक स्वरूप या संगठन लेकर आता है।' अर्थात् चिंतन के स्तर पर भी काव्यवस्तु भाषा से निरपेक्ष नहीं होती। मानवीय बोध और कल्पना की विशिष्टता ही है—वस्तुओं को नाम देना, सम्बोधित करना, धुंधले अमूर्त को भी प्रतीकीकरण के दायरे में खींच लेना। सृजनात्मक कल्पना इस दिशा में दूर या निकट के जो सम्बन्ध निर्धारित करती है, जिस अपरिचित या नये आवेग को पकड़ना चाहती है, वह सब जाने-अनजाने एक भाषाई व्यवस्था के भीतर ही होता है। यहाँ काव्यवस्तु और विषयवस्तु के बीच भेद कर लेना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव अपने निबंध 'शाब्दिक सौन्दर्य, काव्यवस्तु और शैली विज्ञान' (आलोचना : ४३) में लिखते हैं—'विषयवस्तु, काव्यवस्तु के कथ्यपक्ष का सामान्य भाषा में सामान्य कथन है और काव्यवस्तु, काव्य-प्रतीक (कृति) के कथ्यपक्ष का वह अंश है, जो काव्यभाषा के गर्भ से जन्म लेता है और जो काव्यभाषा से अलग होकर अपना अस्तित्व पा ही नहीं सकता।' (३) कविता से तत्काल सीधे और निश्चित अर्थ की मांग करने वाले विषयवस्तु से ही सरोकार रखते हैं। विषयवस्तु काव्यवस्तु होते ही जो निजता प्राप्त कर लेती है; जिस निजी अनुभव की दीप्ति से सम्पन्न हो उठती है, उसको एक सीधे सरल अर्थ में घटाना मुश्किल हो सकता है।

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही

शमशेर की इन पंक्तियों में सीधे कथन का ही पक्ष लिया गया है, पर क्या यह उक्ति उतनी ही सामान्य या सरल है, जितनी अंततः जान पड़ती है। प्रेषणीयता की मांग को जो सरलीकरण की दिशा में खींचना चाहते हैं, वे चीजों के साथ मनुष्य के अपने स्वतंत्र सम्बन्ध के ही विरोधी हैं—भाषा की दुनियां में वे एक तरह के तानाशाह हैं। काव्यभाषा और सामान्य भाषा के बीच का अन्तर ही प्रमाणित करता है कि काव्यभाषा में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक और अनेक का है, जबकि सामान्यभाषा में एक और एक का है। काव्यभाषा के स्तर पर कई बार सरलता भी धोखे में डालनेवाली होती है। इसीलिए लीविस ने कविता के आलोचक का पहला सरोकार काव्यवस्तु से समग्र साक्षात्कार बताया है।' (४) सभी जानते हैं कि कविता को उसकी समग्र बनावट और बुनावट में, तनाव और जटिलता में, सघनता और व्याप्ति में उपलब्ध करने का अर्थ है, जरिया है—काव्यभाषा से समग्र साक्षात्कार। इसे

एक कविता के उदाहरण से स्पष्ट करना उपयोगी होगा। केदारनाथ सिंह बहुत दिनों तक बिम्बों के अलंकरणधर्मी कवि के रूप में जाने गये हैं। इधर उनकी एक कविता 'मुक्ति' अपनी बनावट और व्यंजना में अलग है—

मुक्ति का जब कोई रास्ता नहीं मिला
मैं लिखने बैठ गया हूं
मैं लिखना चाहता हूं 'पेड़'
यह जानते हुए कि लिखना पेड़ हो जाना है
मैं लिखना चाहता हूं 'पानी'
'आदमी' 'आदमी' मैं लिखना चाहता हूं
एक बच्चे का हाथ
एक स्त्री का चेहरा
मैं पूरी ताकत के साथ
शब्दों को फेंकना चाहता हूं आदमी की तरफ
यह जानते हुए कि आदमी का कुछ नहीं होगा
मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूं वह धमाका
जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है
यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा
मैं लिखना चाहता हूं।

किसी घोषित जनवादी कविता से कम प्रखरता इस कविता में नहीं है, पर यह पूरी कविता अपने सीधे विन्यास में क्या एक नयी मार्मिक भंगिमा से सम्पन्न नहीं—जो सामान्य के अतिक्रमण को भाषा की ताकत बता रही है। कवि जो लिखना चाहता है, वह उसका निजी अद्वितीय सत्य है—लिख जाते ही जहां वह सामान्यीकृत होता है, कवि उसे छोड़कर नये, अपरिचित, अप्रत्याशित की खोज में आगे बढ़ जाता है। कविता के पाठक अनुभव करेंगे कि कवि को मुक्ति जिस नयी भाषा में मिल रही है, वह साधारण बोलचाल की भाषा से अनिवार्यतः बाहर या अलग नहीं है, पर मुक्ति साधारण के ढांचे में साधारण के अतिक्रमण की ही दिशा में है। तात्पर्य यह कि भाषा का मायावस्त्र ही अतिक्रमण नहीं है, भाषा का यथार्थ भी एक तरह का अतिक्रमण है। अब क्या उपर्युक्त कविता में काव्यवस्तु और काव्य-भाषा का स्थूल विभाजन संभव है—शायद नहीं—और काव्यवस्तु को समग्रता में प्राप्त करने के लिए काव्यभाषा ही प्रामाणिक साधन है।

'काव्यभाषा और सृजनशीलता' शीर्षक निबन्ध में काव्यकृति की वस्तु-निष्ठता के प्रश्न पर विचार करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं—'कविता की

सापेक्ष स्वतंत्रा अनिवार्य है। यह अनिवार्यता प्रत्येक मूल्यांकन की भी सीमा है। आलोचक की वस्तुनिष्ठता इस बात में है कि वह किसी कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में उसके रूप की जो पुनः सृष्टि अपने लिए करता है, वह यथा-सम्भव अधिक से अधिक मूलकृति के निकट हो। इस प्रयास में एकमात्र अवलम्ब उस कविता की भाषा है।" (६) कविता की 'सापेक्ष स्वतंत्रता' में काव्यवस्तु, काव्यार्थ या काव्यमर्म का निषेध नहीं है, जबकि एक खास तरह के शैलीवैज्ञानिक आलोचक कविता को शाब्दिक सामग्री भर मान कर शब्द सत्ता या वाक्य-व्यवस्था को सांख्यिकीय गणितीय इकाइयों या सांचों में सीमित करना चाहते हैं। ऐसी ही मांग के विरुद्ध कभी फ्रांसीसी संरचनावादियों ने संघर्ष किया था और कृति की स्वनिष्ठता की व्याख्या इसी 'सापेक्ष स्वतंत्रता' की अवधारणा के भीतर की थी। उनके यहां भी रूप को वस्तु से अलग करने और वस्तु-रूपों की व्याख्या की जो कोशिश की गयी, वह अलग ही विवाद का विषय है। कविता की आलोचना के प्रसंग में हम बल इस बात पर दे रहे हैं कि काव्यभाषा ही काव्यवस्तु को जानने का विश्वसनीय आधार है—बल्कि काव्यवस्तु काव्यभाषा में ही उपलब्ध है—काव्यभाषा के बाहर उसे निर्धारित नहीं किया जा सकता। मुक्तिबोध ने भाषा को 'द्वितीय संकेत व्यवस्था' जरूर कहा है, पर साथ ही यह भी संकेत किया है कि विशिष्ट तथा जटिल साधनों के उपयोग से यह द्वितीय संकेत व्यवस्था ही प्रथम संकेत व्यवस्था (बाह्य और प्रकृति से प्राप्त संवेदनाएं और उनको विभिन्न गुत्थियां आदि) को उद्दीप्त और उत्तेजित कर पाती है। (७) विशिष्ट तथा जटिल साधनों के उपयोग का प्रस्ताव—यही वह सूत्र है, जो सामान्य भाषा को काव्यभाषा अर्थात् सर्जनात्मक भाषा बनाता है। अनेकार्थता, अमूर्त्तन, दुरूहता, विडम्बना, जटिलता, अस्पष्टता आदि विषय सूत्रों का उपयोग करते हुए नयी समीक्षा में सृजनशील काव्यभाषा की इसी विशिष्टता को प्रतिष्ठा दी गयी है। आधुनिक रूपवादियों के यहां विचलन को महत्व देने का आधार भी यही विशिष्ट पहलू है। सौमित्र मोहन की एक छोटी कविता 'आमंत्रण' पर ध्यान दें—

जहां बालू सूख जाती है
लेटा है वहीं एक
चीता
'तुम कभी आना मेरे मन में' (८)

प्रेम और हिंसा के इस अप्रत्याशित तनावपूर्ण सम्बन्ध में 'चीता' के अर्थ विचलन की जो विशिष्टता है, उसे साध्य और साधनकोटियों में परिभाषित काव्यवस्तु और काव्यभाषा के विभाजन के मुहावरों में जांचना कठिन है।

छायावादी कविता तक के मूल्यांकन में इस विभाजन से जिन भ्रान्तियों का जन्म हुआ, उनसे काव्यसमीक्षा के पाठक परिचित हैं। इस दिशा में चूक आचार्य शुक्ल तक से हुई है, हालांकि काव्यभाषा पर ही उनका अध्ययन अत्यन्त विचारोत्तेजक सिद्ध हुआ है। कृति को प्रधान वस्तु मानने के पीछे शुक्ल जी ने व्यक्तिवाद के ख़तरे का अनुभव किया था – इस मान्यता को आत्यन्तिक सीमा तक खींच ले जाने और अर्थ से काव्यवस्तु को अथवा कृति को अलग करने में यह ख़तरा है भी, पर कृति की वस्तुनिष्ठता की जांच करने की जगह उस पर अपने अभीष्ट संदर्भ का आरोपण भी एक तरह का ख़तरा है—यह भी अभिरुचि या विचारों की उसी तानाशाही से प्रेरित है, जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं।

काव्यभाषा और काव्यवस्तु की संश्लिष्ट सत्ता को स्वीकृति देने वाली आभ्यतरिक आलोचना को हम सर्जनात्मक आलोचना कहना चाहेंगे। इस प्रकार की आलोचना के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न ही बेमानी हो जाता है कि काव्य की काव्यात्मकता कहां है—क्योंकि इस प्रश्न के उत्तर में जब कहा जाता है – काव्यभाषा में, तो एक पूरी संश्लिष्ट संरचना विचार के केन्द्र में होती है। नगेन्द्र जी आज भी यदि कह रहे हैं कि 'साहित्य के विधान में ऐसे अनेक जीवंत तत्व हैं, जिनका विवेचन भाषा के आधार पर नहीं किया जा सकता' (१०) तो केवल इसलिए कि वह उन विभाजन-आग्रह से मुक्त नहीं हो पाए हैं जो छायावाद युग की आलोचना में सबसे प्रबल था। आश्चर्य नहीं कि इस आग्रह से सर्वाधिक मुक्त थे निराला—जिन्होंने कविकर्म या काव्य-विश्लेषण दोनों स्तरों पर इस मुक्ति को प्रमाणित किया। 'तोड़ती पत्थर' कविता पर उनकी टिप्पणी इसका उदाहरण है।

> कोई न छायादार
> पेड़, वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
> श्याम तन, भर बंधा यौवन,
> नत नयन, प्रिय-कर्म रत मन,
> गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार—
> सामने—तरु मालिका—अट्टालिका, प्राकार।

जानकीवल्लभ शास्त्री के नाम पत्र में निराला लिखते हैं-'जो गहन भाव सीधी भाषा में चाहता है, वह धोखेबाज है।.........यहां सीधा वर्णन होने पर भी, हथौड़े की चोट पत्थर पर पड़ने पर भी, देखिए किस तरह 'अट्टालिका' पर पड़ती है। लेखक के वर्णन-प्रकार के कारण और निर्देश से। वह जहां बैठी है वहां पेड़ छायादार नहीं है और अट्टालिका तरुमालिका है।—अट्टालिका

भी तरमालिका है, फिर आदमी कितनी छांह में है।........'मैं तोड़ती पत्थर'—का अन्त स्वभावतः समझ में आ जायगा—'मैं तोड़ती पत्थर-हृदय'। यह विश्लेषण काव्यभाषा में ही काव्यवस्तु को अन्तर्भुक्त मनाने वाली सर्जनात्मक दृष्टि का परिणाम है।

केदारनाथ सिंह की ही एक अन्य कविता 'जाड़ों के शुरू में आलू' (पश्यन्ती, जुलाई-सितम्बर ७८/पृ० १६०) का उदाहरण लें—जिसकी विषयवस्तु मध्यवर्गीय समाजशास्त्र, आर्थिक ढाँचे और उत्पादन, उत्पादक और उपभोक्ता समाज के रिश्तों को छूती है, पर काव्यवस्तु (जो अपने आपमें एक पूरा संगठनहै, काव्यात्मक संयोजन है) एक विशिष्ट काव्यभाषा में अधिक बड़ी दुनिया में चीजों के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष करती है —

वह जमीन से निकलता है
और सीधे बाजार में चला जाता है

यह उसकी एक ऐसी क्षमता है
जो मुझे अक्सर दहशत से भर देती है

वह आता है और बाजार में भरने लगती है
एक अजीब-सी धूम
अजीब-सी अफवाहें

मैं देर तक उसके चारों ओर घूमता हूँ
और अंत में उसके सामने खड़ा हो जाता हूँ
मैं छूता हूँ किले की तरह ठोस उसकी दीवारें

मैं उसका छिलका उठाता हूं
और झांक कर पूछता हूँ—मेरा घर
मेरा घर कहाँ है

वह बाजार में ले आता है आग
और बाजार जब सुलगने लगता है
वह बोरों के अंदर उछलना शुरू करता है
हर चाकू पर गिरने के लिए तत्पर
हर नमक में घुलने के लिए तैयार

जहाँ बहुत-सी चीजें लगातार टूट रही है
वह हर बार आता है
और पिछले मौसम के स्वाद से
जुड़ जाता है

व्याख्या—वह मैं नहीं करूंगा—चाहूँगा कि आप कविता के पाठ की संरचना-संवेदना के स्तर पर इसकी अनेकार्थता और जटिलता को जानें और यह भी कि यह सारा जानना एक अत्यन्त परिचित यथार्थ को घनिष्ठ तनावपूर्ण ढंग से जानना भी है। सबसे पहले कविता के पाठक का ध्यान वह, उसकी, उसके इन सर्वनाम शब्दों की प्रत्यक्षता, ठोसपन संदर्भ-सापेक्ष वास्तविकता की ओर जाना चाहिए। 'वह' शब्द की आवृत्ति के साथ उसका होना, यथार्थ होना और भी उजागर होता है। मध्यवर्गीय सामाजशास्त्र से, अर्थशास्त्र से आलू का रिश्ता व्याख्या की जरूरत नहीं रखता—'जहाँ बहुत-सी चीजें/लगातार टूट रही हैं/वह हर बार आता है/और पिछले मौसम के स्वाद से/जुड़ जाता है।' टूटना और जुड़ना—इन शब्दों की अर्थवत्ता का जो निश्चित भेद है वह एक सामाजिक सच्चाई के अधीन है। पर सचमुच क्या समाजशास्त्र में चीजें जिस तरह परिभाषित की जाती हैं—वस्तुसत्य की काव्यात्मक संरचना में चीजों को उसी तरह परिभाषित किया जा सकता है ? ये काव्य शब्द यथार्थ को धुंधला और अमूर्त किये बिना भी अपनी अर्थसत्ता का विस्तार करते हैं—अपने को दूर तक जाने देते हैं। इसी अर्थसत्ता के विस्तार में इनकी अस्पष्टता के अर्थ खुलते हैं और फैलते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि कविता का अर्थ नहीं होता, उसे बस होना चाहिए। केदारनाथ सिंह की इस कविता में कुछ शब्दों का संदर्भगत सम्बन्ध देखें—जमीन, बाजार की संदर्भ-संगति स्पष्ट है—स्पष्ट है यह संकेत कि वह जमीन से निकलता है और सीधे बाजार में चला जाता है, पर 'घर'—इस तीसरे शब्द संदर्भ की क्या अर्थवत्ता है —

> मैं उसका छिलका उठाता हूँ
> और झाँककर पूछता हूँ—मेरा घर
> मेरा घर कहाँ है।

उत्पादन, उत्पादक और उपभोक्ता के बीच के सम्बन्धों के भीतर ही कहीं न कहीं 'घर' की अर्थसत्ता है, शायद एक भ्रामक अर्थसत्ता है, पर इसी भ्रामकता के कारण वस्तुओं से वह संवाद सम्बन्ध बन पाया है, जो इससे पहले शायद संभव नहीं होता और कविता भी सभव न होती। इसलिए काव्यवस्तु और काव्यभाषा के बीच युक्तिपरक तार्किक विभाजन का कोई अर्थ नहीं है—न केवल कविता के विश्लेषण में उसकी सार्थकता नहीं है—कविता की पहली पहचान, पहले पाठ, आस्वाद में भी इस भेद के अतिरिक्त आग्रह से बाधा पड़ सकती है। इसीलिए काव्यभाषा के सीधे, घनिष्ठ, गहरे साक्षात् को महत्व देने की उपयोगिता यह है कि हम इस विभक्त अवधारणा से छूट कर काव्यवस्तु की विशिष्टता या विशिष्ट अनिवार्य संगठन-संयोजन को काव्यभाषा में ही पह-

चान पाते हैं। कहना न होगा कि यही—काव्यभाषा ही-वह पारदर्शी दर्पण है, जिसमें शब्द ही नये अर्थों के संकेत नहीं देते, अर्थ भी नये अर्थस्तरों की उद्भावना की प्रेरणा देते हैं। (१२) कविता का समग्र भाषिक संगठन शब्द और अर्थ का ऐसा सजीव अन्तस्संगठन है, जिसकी जाँच शुरू होती है, इसी संगठन के प्रत्यक्ष आधार से—और समाप्त होती है, उस संसार को ही रचना में उपलब्ध करके—जिसे हम काव्यसंसार कहते हैं।

संदर्भ

(१) एफ० आर० लीविस, द कॉमन परस्यूट, पृ० २१२

(२) वही, पृ० २१२

(३) आलोचना, अक्तूबर-दिसम्बर, ७७ पृ० ४९

(४) एफ० आर० लीविस, द कॉमन परस्यूट, पृ० २१३

(५) मुक्ति, केदारनाथ सिंह, पहल (१३) समकालीन कविता विशेषांक, पृ० ४-५

(६) कविता के नये प्रतिमान, दूसरा संस्करण, पृ० १०८

(७) नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६९

(८) लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ, पृ० ८२

(९) 'अब तक कवि के व्यक्तित्व के नाम पर भेद प्रदर्शन होता था, अब उसकी कृति के व्यक्तित्व के नाम पर होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। अब तक किसी कविता मे उसके कवि के व्यक्तित्व को प्रधान वस्तु कहने की चाल थी। पर अब 'कृति' ही प्रधान वस्तु कही जाने लगी है और उसकी सत्ता कवि और श्रोता (या पाठक) दोनों से स्वतन्त्र ठहराई जाने लगी है। कवि के व्यक्तित्व का परिहार यह कह कर किया जाने लगा है कि जैसे पुत्र का व्यक्तित्व पिता के व्यक्तित्व से अलग विकसित होने के लिए छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार किसी काव्य रचना का व्यक्तित्व उसके कवि के व्यक्तित्व से पृथक और स्वतन्त्र होना चाहिए। इस पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यक्तिवाद' बना हुआ है, केवल उसने अपनी जगह बदल दी है।'
—रस मीमांसा, पृ० २७१-७२

(१०) शैली विज्ञान, नगेन्द्र, पृ० ३२

(११) साहित्य, पटना, वर्ष १, अंक ३, अक्तूबर ५० में प्रकाशित।

(१२) लालित्य-सर्जना और विविक्त वर्णभाषा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, आलोचना, अक्तूबर-दिसम्बर, ६७, पृ० ३४

राजीव सक्सेना

काव्यभाषा और जनभाषा

सबसे प्रारम्भिक कविता लोकगीत थी जिसका रचयिता कोई एक व्यक्ति नहीं, एक व्यक्ति समूह या समाज था जो अपनी तात्कालिक रागात्मक आवश्यकता के अनुरूप उसको रचता था। अधिकांशतः वह व्यक्ति के लिए ही नहीं, पूरे समाज के लिए एक जादुई सूत्र या मंत्र था जिसके शब्दों में ध्वन्यात्मक और रूपक की हद तक चित्रात्मकता विशिष्ट गुण हुआ करती थी। तब काव्यभाषा आम बोलचाल की भाषा से तनिक भी भिन्न नहीं थी।

समाज में तमाम तरह के आर्थिक श्रम विभाजन के साथ ही साथ बौद्धिक श्रम विभाजन भी हुआ और शासक-शासित, शोषक-शोषित, सम्पन्न-विपन्न, परजीवी और श्रमजीवी वर्गों की विभिन्न तहों के जन्म के साथ ही साथ एक साहित्यिक श्रेणी का जन्म हुआ जो संरक्षण की अनिवार्यतावश प्रभुत्वशील वर्ग के निकट था और अपनी प्रतिभा से उसकी सेवा करता था। भाषा सामूहिक रागात्मकता सर्जित करने का साधन न रहकर प्रभुत्वशील वर्गों की रागात्मक आवश्यकता की पूर्ति करने लगी। जब काव्य रचना ने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच रचनात्मक और शासकों का संरक्षण प्राप्त करने की प्रतियोगिता का रूप ले लिया तो स्वाभाविक था कि रचनाकार भाषागत विशिष्टता स्थापित करते जो उनके अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण और यथार्थ के संवेदन की आवश्यकता से भी प्रेरित था।

यहीं काव्यभाषा और जनभाषा के बीच खाई पैदा हुई जो बराबर बढ़ती गयी। काव्यभाषा का प्रतिमानीकरण किया गया-उसको व्याकरणीय शृखलाओं में बाँधा गया। इस मामले में किसी स्वतंत्रता की छूट नहीं रखी गयी। अतः

काव्य प्रतिभा परीक्षा थी अभिव्यक्ति के संक्षिप्तीकरण, अर्थ विस्तार और भाव तथा कल्पना प्रवणता की और इसको भी छंदों, अलंकारों आदि के रूप में प्रतिमानीकृत करने का प्रयास किया गया।

किन्तु रचनात्मकता का इतिहास प्रतिमानीकरण के रूढ़ि तक विकास के बाद उसके विरुद्ध रचनाकार के विद्रोह और नवसर्जन के नवचरण का इतिहास है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, रचनाकार ने अपने शब्द भण्डार को सदा जन-भाषा से समृद्ध किया है। यहाँ एक संस्कृत सुभाषित स्मरण आता है :

अपशब्द शतं माघे भारवौ तु शतत्रयम्।
कालिदासे न गण्यन्ते कविरेको धनंजय : ।।

कवि माघ में 'अपशब्दों' (यानी जन-भाषा के या तदभव शब्दों) की सख्या सौ मिलती है तो भारवि में तीन सौ और कालिदास में तो उनकी गिनती ही नहीं है। अगर एक विशुद्ध कवि है तो धनंजय। किन्तु इस सुभाषित के बावजूद महाकवि का पद कलिदास को प्राप्त है, धनंजय को नहीं। यही बात तुलसी के बारे में कही जाती है :

तुलसी गंग दुवौ भये कवियन के सरदार।
जिनकी कविता में मिले भाषा विविध प्रकार।।

यह 'विचित्र प्रकार' जन-भाषा से प्राप्त होता है जिसको न कोई साहित्यकार रचता है जैसा कि दम्भ आज कुछ साहित्यकार करते हैं और न इसके लिए रचनाकार किसी वैयाकरण के पास जाता है। महर्षि पतंजलि ने 'महाभाष्य' में इस विषय में कहा है कि जैसे घड़े का उपयोग करने वाला कोई व्यक्ति कुम्भकार से यह नहीं कहता कि मुझे एक घड़ा बना दो, मुझे घड़े से काम करना है, उसी प्रकार कोई वैयाकरण के घर पर जाकर यह नहीं कहता कि तुम शब्द बना दो, मुझे उसका प्रयोग करना है।

किन्तु मध्ययुग में जन-भाषा से अपनी अभिव्यक्ति समृद्धि करने वाले साहित्यकारों में भी साहस नहीं था कि वे शासक वर्ग की भाषा की तुलना में जन-भाषा की महत्ता स्वीकार कर सकते। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक में, जब तुलसी अपनी बात को आम जनता तक पहुँचाने के लिए 'भाषा' का सहारा लेने की ओर मुड़े, तब भी उन्हें इसके लिए क्षमा-याचना करनी पड़ रही थी। 'मानस' में बालकाण्ड के प्रारम्भ में दिये गये विस्तृत स्पष्टीकरण से यही भाव प्रकट होता है। संस्कृत में रचना न करने के संकोच के भार से वे इतने दबे जाते हैं कि उन्हें 'भाषा भनिति मोरि मत भोरी। हंसिबे जोग हंसे नाहिं खोरी,' कहना पड़ता है। उनके ही समकालीन कवि केसवदास ने सफाई दी कि वे नर होने के कारण नर-भाषा का उपयोग कर रहे हैं : संस्कृत तो देव भाषा है :

देव देवभाषा करी नाग नागभाषानि।
नर होई नर भाषा करी गीताज्ञान प्रभानि॥
(विज्ञान-गीता, १—७)

'नरभाषा' में रचना कर केसव बड़े बेचैन हैं। मगर अपने कुल की महत्ता बताने के लिए यह कहना नहीं भूलते कि उनके कुल में तो दास भी 'भाषा' बोलना नहीं जानता: इसलिए अगर वे खुद 'भाषा' का प्रयोग नहीं कर रहे हैं तो 'मंदमति' के कारण:

भाषा बोलि न जानईं जिनके कुल को दास।
भाषा कवि सो मंद मति तिहिं कुल केसवदास॥
(कविप्रिया, २—१७)

जनभाषा की महत्ता स्वीकार न कर पाने का मुख्य कारण था कि वे सभी पण्डितों में और उच्चवर्गों में अपना सम्मान बनाये रखना चाहते थे। केसवदास राज कवि थे और अगर राजदरबार में संस्कृत ही राजभाषा होती तो शायद वे भाषा में रचना करने की धृष्टता कर कुल 'कलंकित' न करते। तुलसीदास के लिए राजाश्रय की विवशता न थी: बल्कि वे जनाश्रय प्राप्त करना चाहते थे, इसलिए रचना-भाषा के चुनाव में उन्हें बाहरी बाध्यता न थी; फिर भी परम्परागत विचारधारा से वे मुक्त नहीं हो सके थे। संस्कृत तब भी उनकी राय में पाण्डित्य और आभिजात्य की भाषा थी। किन्तु उन्होंने अपनी रचना के श्रोता और मननकर्ता के रूप में पण्डितों और उच्च वर्गों को नहीं, जन साधारण को चुना था जिसको कुछ अपढ़ लोग जटाजूट धारण कर साधु-महात्मा के रूप में 'बरगला' रहे थे और रूढ़िगत समाज व्यवस्था के विरुद्ध भड़का रहे थे। जन साधारण से संवाद स्थापित करना है तो इसकी भाषा में बात करनी पड़ेगी। इस संवाद का उद्देश्य था प्रभुत्वशील शासक वर्गों-ठाकुर-ब्राह्मणों-के प्रति आम जनता का रुख नरम करना, उसको वफादार सेवक बनने का उपदेश देना और साथ ही शासक वर्गों को भी दीन-हीनों पर दया करने का सबक सिखाना। संक्षेप में, समाज के तनावों को ढीला करना। दुर्भाग्य से कुछ पण्डित अपने इस वर्गहित को नहीं समझ रहे थे और संस्कृत में ही रचना करने की माँग कर रहे थे। पण्डितों की इस चुनौती का जवाब देने के लिए उन्होंने एक ओर अपनी 'भाखा' को साहित्य के शास्त्रीय शिखरों तक ऊँचा उठाया तो दूसरी ओर उन्होंने स्पष्ट कहा कि असली महत्व भाषा का नहीं: उसके माध्यम से सम्प्रेषित संदेश का है:

का भाखा का संसकिरत प्रेम चाहिए सांच।
काम जु आवे कामरी का लै करिअ कुमाच॥
(दोहावली, ५७२)

सम्प्रेषितवस्तु-तत्व महत्वपूर्ण है, भाषा नहीं, इस पर बल देते हुए तुलसी मध्यम-मार्ग चुना, फिर भी उनका झुकाव भाषा के आभिजात्य पर ही अधिक रहा। मानस के काण्डारम्भों में संस्कृत पद मिलते हैं जिनसे तुलसी पण्डितों के सामने यह सिद्ध कर देते हैं कि रचना तो वे संस्कृत में भी कर सकते थे, किन्तु इस कलि काल में संदेश क सम्प्रेषित करने के लिए भाखा का सहारा लेना आवश्यक है। विनय-पत्रिका में तुलसीदास के अनेक पद हैं जिनसे संस्कृत का भ्रम होता है, यद्यपि वे संस्कृतनिष्ठ या संस्कृतबहुल शैली का ही उदाहरण हैं, जैसे :

> तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्व कृतं कर्म जालं।
> ये श्रीराम नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं॥
>
> (पद ४६)

तुलसी से सौ वर्ष पहले कबीर हुए। कबीर को सामन्तों-पण्डितों में मान्यता प्राप्त करने का कोई मोह नहीं था, बल्कि वे ठाकुर-ब्राह्मण की जाति-गत श्रेष्ठता के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे और वेद-शास्त्रों को आधिकारिक ग्रन्थ मानने से इनकार कर रहे थे। इसलिए वे भाषा के आभिजात्य से त्रस्त नहीं थे और उन्होंने साफ कहा, 'संसकिरत है कूप जल भाखा बहता नीर'। भाखा को बहते नीर के रूप में कवि कबीर ही देख सकते थे जिनके लिए भाखा दीन-हीनों को उच्च वर्गों के उत्पीड़न से मुक्त करने के संघर्ष का अंग थी। स्पष्ट ही जन-भाषा के सौन्दर्य और महत्व को जनता से प्रेम करने वाला कवि ही समझ सकता है।

इतने से ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वर्गों में विभक्त समाज में प्रभु-त्वशील वर्ग की छत्रछाया में काव्यभाषा आभिजात्य की ओर बढ़ती है और बहता नीर न रह कर अंध कूप बन जाती है। कुशल रचनाकार का इसके विरुद्ध विद्रोह करना स्वभाविक है : एक तो इसलिए कि शोषक और शोषित के बीच रहते हुए उसका मन शोषक पर अपने आश्रित होने की स्थिति के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है और शोषित की ओर उन्मुख होता है : अक्सर पहले तो रचना-कार आभिजात्य की ओर बढ़ता है—मान्यता की प्राप्ति के लिए—और मान्यता-प्राप्ति के बाद वह इस ढकोसले से खीज कर फिर शोषितों की ओर देखने लगता है। कलाकार की यह स्थिति एक मानसिक द्वन्द्व बन कर अभिव्यक्ति पाती है। दूसरे, कलाकार पूर्वगामी कलाकारों की अनुकृति मात्र से या सर्जन क्षेत्र में उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चल कर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह कलात्मक नवोन्मेष का सहारा ले कर सर्जन की नयी लीक बनाने का या आधु-निक आलोचकों की भाषा में कहें तो अपने कृतित्व का व्यक्तित्व स्थापित

करने का प्रयत्न करता है। इस नवीकरण प्रक्रिया में जहाँ तक भाषा के नवी-करण का प्रश्न है, उसके लिए समुचित सामग्री जन-भाषा से ही मिलती है : यथार्थ जगत में या परिवेश में जो परिवर्तन हो चुके होते हैं, उनका बोध देने वाली शब्दावली आभिजात्य जगत की भाषा से नहीं मिल सकती, क्योंकि वह स्वभावतः रूढ़िपरक या यथास्थितिवादी होती है। इसलिए जब रचनाकार यथार्थ को प्रभुत्वशील वर्गों की दृष्टि से नहीं, परिवर्तनकामी दमित वर्गों की दृष्टि से देखता है तो उसकी भाषा जाने-अनजाने ही जन-भाषा से नव संवेदन के उपयुक्त नये शब्द जुटा लेती है।

इस तथ्य को निराला के एक उदाहरण से देखा जा सकता है। छायावादी कवियों ने हिन्दी को शासक वर्गोचित सम्पन्नता प्रदान करने के लिए संस्कृत का सहारा लिया और काव्यभाषा को जनभाषा से बिल्कुल काट दिया। निराला जी का इसमें कोई कम योगदान नहीं था। किन्तु वही निराला जब पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन को देख कर एक गहन व्यथा से भर उठते हैं तो नए प्रकार के संवेदन की अभिव्यक्ति के लिए उनकी काव्यभाषा जन-भाषा से मुहावरे संजोती है। यथा, 'दोपहरी की लू में रूई ज्यों जलती हुई भू गर्द-चिनगी छा गयी' ; फिर भी 'वह तोड़ती पत्थर' और कवि को लगा कि उसने 'देखा मुझे उस दृष्टि से जो मार खा रोई नहीं।' पंत की 'ग्राम्या' में भी इस तरह के प्रयत्न मिलते हैं। निराला ने इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया और न आये वीर जवाहर लाल' जैसी कजली और कुछ अत्यन्त सरल गीत लिखे जो निश्चय ही प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन और रघुपति सहाय फिराक जैसे उर्दू कवियों की हिन्दी कवियों को भाषा सम्बन्धी चुनौती के जवाब देने के लिये प्रकट हुए। निराला के निम्नलिखित गीत का मुहावरा शुद्ध जन भाषा से और जन-क्रान्ति के बोध से पैदा हुआ :

> आज अमीरों की हवेली
> किसानों की होगी पाठशाला
> धोबी पासी चमार तेली
> खोलेंगे अंधेरे का ताला
> एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ।

पंत फिर अपने आभिजात्य में लौट गये, क्योंकि उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया 'अरविंदीय ऊर्ध्वोन्मुखी आध्यात्मिकता' उपलब्ध करना—जन क्रान्ति की चेतना से अपने को जोड़ना नहीं।

प्रगतिवादी युग में काव्य-भाषा को जन-भाषा से जोड़ने का काम बड़े पैमाने पर हुआ। उसमें से कुछ अंश ही आज जीवित बच रहा है या पढ़ने योग्य रह

गया है तो इसका कारण यह है कि जिन रचनाओं में जन-भाषा के माध्यम को मजदूर-किसान आन्दोलन के एजिट-प्रोप (आन्दोलन-प्रचार) की आवश्यकता के लिए उपयोग किया गया, उनका समयोचित उपयोग के बाद कोई उपयोग नहीं रह गया। किन्तु जिन रचनाओं में बुनियादी जीवन-मूल्य और श्रमजीवी जन की बदलती हुई संवेदना प्रतिफलित होती है, वे आज भी सजीव हैं। केदार, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह सुमन, शील आदि अनेक कवियों की ऐसी रचनाएँ कलान्तर जीवित हैं और रहेंगी।

प्रगतिवाद के प्रभाव में कमी के बाद छठवें दशक में 'नयी कविता' के नाम से जो आन्दोलन शुरू हुआ, उसमें एक बार फिर कवि के आभिजात्य पर (थोड़े-से सुरुचि सम्पन्न पाठकों के लिए लिखने के बहाने) बल दिया जाने लगा और छायावादी भाषा की ओर लौटने का प्रयास किया गया। किन्तु 'नयी कविता' (जिसको मैं नव-छायावाद कहता हूँ) के कवियों के लिए पूर्णतया छायावादी भाषा की ओर लौटना असम्भव था (जगदीश गुप्त अवश्य 'हिमविद्ध) में लौट गये), क्योंकि छायावाद और 'नयी कविता' के काल के बीच प्रगतिवादी युग था जिसने हिन्दी का मिजाज ही बदल दिया था। इसलिए भाव-भूमि में छायावाद की ओर लौटने के बावजूद 'नयी कविता' के कवि भाषा के क्षेत्र में पूर्णतया पीछे नहीं लौट सके।

सातवें दशक में हिन्दी काव्य भाषा को एक नया रूप मिला, क्योंकि अनेक विद्रोहसूचक नामों के अन्तर्गत, जैसे अकविता, न-कविता, अगीत, विद्रोही पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी आदि, जो नये काव्यान्दोलन उठे, उनका मुख्य नारा कविता में आभिजात्य को तोड़ना और मौजूदा समाज व्यवस्था को चुनौती देना था जिसमें भाषागत आभिजात्य तोड़ने का प्रयत्न भी शामिल था। इस दशक में हिन्दी की काव्यभाषा आम बोलचाल की भाषा के काफी नजदीक पहुँच गयी और ऐसे शब्दों तक का उपयोग होने लगा जिनको अब तक भदेसपन का चिह्न माना जाता था और कविता से दूर रखा जाता था।

छायावादी काव्यभाषा और आज की कविता की भाषा में कितना अन्तर आ गया है, इस पर मुझे एक मजाक याद आये बिना नहीं रहता। स्व० सुमित्रानन्दन पंत ने एक बार चुटकी लेते हुए कहा, 'राजीव, तूने कविता को इतना भ्रष्ट कर दिया है कि नयी पीढ़ी को मेरी कविता समझ में ही नहीं आती।' उस पर मेरा जवाब था, 'पंत जी, घबराइये नहीं, मैं शीघ्र ही आपकी कविताओं का हिन्दी अनुवाद कर दूंगा तब नयी पीढ़ी उनको समझने लगेगी।' पंत जी हँस दिये। मगर क्या यह सच नहीं है कि छायावादी पीढ़ी जो भाषा लिखती थी, उससे आज लिखी जाने वाली साहित्य भाषा

इतनी भिन्न है कि सचमुच उसका 'अनुवाद' करने की आवश्यकता महसूस होती है ? इस पर एक और घटना याद आती है। एक युवा कवि अपनी बड़ी 'बोल्ड' कविता ले कर मेरे पास आये (वे यौन सम्बन्धों की खुली चर्चा के कारण कविता के 'बोल्ड' होने का दावा कर रहे थे)। मैंने उनसे कहा कि विचार कोई मौलिक नहीं है तो वे स्तम्भित रह गये। मैंने पंत जी की 'कला और बूढ़ा चाँद' में से एक कविता पढ़ कर सुनायी जिसका भाव लगभग वही था, हालांकि वह छायावादी भाषा के कुहासे में छिपा हुआ था।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि काव्यभाषा का स्वरूप बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वह किसको सम्बोधित है। राजाश्रय में पली कविता अलंकारों से समृद्ध हुई जिसमें कल्पना की उड़ान (अतिशयोक्ति) और पद-ललित्य (मुख्यतः अनुप्रास और श्लेष आधारित) के नियोजन के सौन्दर्य चमत्कृत करने पर जोर दिया जाता रहा। राजवैभव की छाया में पद्य-वैभव पलता रहा और अर्थ-वैभव उसकी दुरूहता या सूक्ष्म सांकेतिकता में निहित माना जाता रहा। पूंजीवादी समाज में रचना की अनन्यता और अद्वितीयता (जिसको लेखकीय ट्रेडमार्क की तरह प्रकाशक विज्ञापित कर सके, आलोचकों के माध्यम से) पर बल दिया जाने लगा और भाषा-प्रतीक अत्यन्त निजी स्वरूप ग्रहण करने लगे। इस कविता को चुनौती मिली मध्य वर्ग के बिगड़े हुए कवि-पुत्रों से जिन्होंने आवारागर्दों की भाषा में से ऐसे शब्द चुने जिनको सुन कर अभिजात वर्ग दांतों तले ऊँगली दबा कर हैरानी भी प्रकट करे और मन ही मन रस लेता हुआ इन कवि पुत्रों के दैन्य पर दयाभाव दिखाये तथा संरक्षण दे। यह चौंकाने वाला मुहावरा अक्सर बड़ा क्रांतिकारी लगता है जबकि उसका सार-तत्व मेहनतकश जनता के आक्रोश को एक गाली में ढाल कर मिट्टी का ढेला मात्र बना देता है। सातवें दशक की कविता में यह बहुत हुआ है। फिर भी इस कविता का यह योगदान कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उसने जन-भाषा से कविता को समृद्ध किया। इससे आगे कविता का वह स्वरूप होगा जो मजदूर-किसान जनता को सम्बोधित करने की अनिवार्यता से पैदा होगा। अभी इसका मुख्य योगदान एजिट-प्राप के रूप में ही है, मगर नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन की कुछ कविताओं से यह आभास मिलता है कि आम जनता को सम्बोधित जन-भाषा को काव्य भाषा के स्तर तक उठा कर साहित्य के आसन पर बैठाया जा सकता है।

फिलहाल आधुनिक कविता अपने मध्यवर्ग द्वारा रचित और मध्यवर्ग को सम्बोधित स्वरूप में भाषा के आभिजात्य से जुड़ी रहेगी, हालांकि जनवादी कवि मेहनतकश जनता से अपने को सम्बद्ध करने की अनिवार्यता के कारण जन-

भाषा से शब्द लेने की प्रक्रिया से ही अपनी अभिव्यक्ति को समृद्ध करता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण मुक्तिबोध हैं। उनकी कविता छायावादी शब्दावली से ही नहीं, तांत्रिक तथा रहस्यवाद के प्रतीकों तक को ले कर पूँजीवादी व्य-वस्था की आलोचना करने में समर्थ है और मध्यवर्ग को मेहनतकश जनता से जोड़ती है (जिसे मार्क्सवादी 'डिक्लास' यानी वर्गच्युत होने की प्रक्रिया कहते हैं) । इसलिए मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए मुक्ति-बोध की कविता कोई कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

वर्ग-विभक्त समाज में जहाँ मध्यवर्ग और निम्न वर्ग के भाषा संस्कार में काफी बड़ी खाई होती है, कविता का जनवादी वस्तुतत्व उसकी भाषा के जन-भाषा के निकट होने मात्र पर निर्भर नहीं करता। वह मुक्तिबोध की भाषा भी हो सकती है और नागार्जुन की भी। इस अर्थ में तुलसीदास का यह कहना आज भी संगत लगता है कि 'का भाखा का संसकिरत, प्रेम चाहिए साँच' यानी सच्चे जनवादी तत्व पर बल दिया जाना चाहिए। मगर जनवादी कवि कबीर के इस मत्र को नहीं भूल सकता कि अभिजात वर्ग का मुहावरा कुएँ के बँधे जल की तरह है जो गन्दा हो सकता है—स्वच्छता के लिए जन-भाषा के बहते नीर का सहारा लेना आवश्यक है।

डा० सूर्यदेव शास्त्री

मिथक और भाषा

भाषा मानव-मन का अचेतन सृजन-व्यापार है, जो सहज क्रिया (रिफ्लेक्श एक्शन) के रूप में स्वतः घटित और रूढ़ होता जाता है। अन्य सृजन-क्रियाओं के साथ सत्य यह है कि वह वैयक्तिक हैं, परन्तु भाषिक सृजनक्रिया समवायगत और सामूहिक है। विभिन्न भाषाओं में गठनगत और अभिव्यक्तिगत पार्थक्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि भाषाएँ विभिन्न प्रकार की कुलीन निष्ठाओं में बंधी हैं और कुलीनता ही उनकी वैयक्तिकता का बोध उत्पन्न करती है। इस समवाय निकाय को मनोवैज्ञानिकों ने जातिगत चेतना (कम्युनिटी कांशसनेस) और सामूहिक चेतना (कलेक्टिव कांशसनेस) कहा है। नृतात्विकों ने इसे जाति, कुल या (कम्युनिटी) कहा है। व्यक्ति स्तर पर इसमें भी मिश्रण और संश्लेष पाया जाता है, जिसे विश्लेषित करने का प्रयास मनोवैज्ञानिकों और समाजवैज्ञानिकों द्वारा किया जा रहा है। वस्तुतः यह एक कठिन कार्य-व्यापार है।

मिथक और भाषा के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण वस्तुतः समवाय मन और भाषा के उभयनिष्ठ सम्बन्धों का विश्लेषण करना है। क्रोचे ने प्रात्ययिक इतिहास के विश्लेषण के क्रम में इसे कलागत और सौन्दर्यगत सृजन व्यापार के समानान्तर देखने का प्रयास किया था और यह सिद्ध करना चाहा था कि भाषा के सारे प्रत्यय मौलिक मन (आरिजिनल माइन्ड) से स्वतः प्रवाहित होते रहते हैं। परन्तु स्वच्छन्दतावादी कवियों—वर्ड्स्वर्थ, शेली और कीट्स के लिए यह एक सांवेदनिक (इमोटिव) संगोपन या गुह्यता के रूप में स्वीकृत है। यही कारण है कि इन्होंने प्राक्तन और श्रेण्य (क्लासिकल) शब्दों के

चयन के द्वारा सहज और प्राकृत चित्रों की सृष्टि का प्रयास किया है। हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी कवियों ने तत्सम और देशज शब्दों के प्रयोग के माध्यम से इसी प्रकार की समानान्तरता की सृष्टि करना चाहा है। पर ईट्स, इलियट और पाउण्ड ने इन शब्दों को मिथक और प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। अतः उनके शब्द अभिधा न हो कर व्यंजक कथ्यविधान हैं। क्रोचे और भारतीय उत्प्रेक्षावाद में यही काव्यगत अलंकरण के उपादान हैं। फ्रांसीसी कवि वेलरी ने आजीवन इसी प्रयास में अपने स्रष्टा को एक भाषाकार के रूप में प्रस्तुत किया है। आधुनिक भाषाविज्ञान में व्होर्फ, स्किन्नर, सैपिर और चोम्स्की ने भाषा और मिथक के इसी संश्लेष की व्याख्या का प्रयास किया है। मनस्तत्व और मिथकीयता के इसी संश्लेष के विश्लेषण का प्रयास युंग ने किया है। अन्य मनोविश्लेषकों से पृथक उन्होंने विभिन्न संस्कृतियों में प्रयुक्त प्रतीकों का विश्लेषण किया और उनकी कालगत एवं सामयिक मियकीयता के अन्वेषण का प्रयास किया। यूरोपीय और हिन्दी युद्धोत्तर कविता में निहित इस भाषिक मिथकीयता के विश्लेषण का प्रयास अब तक नहीं किया गया है। वस्तुतः कविता या अन्य अभिव्यक्ति में मिथक के तत्वों का प्रयोग आर्थिक गाम्भीर्य और समवाय चेतना के अन्वेषण की दिशा में मूल्यवान संकरण है।

तार्किक सकारवाद (लाजिकल पाजिटिविज्म) ने भाषा के इसी समवाय तत्व को नकारात्मकता (निगेसन) और सकारात्मकता (पाजिटिविज्म) के दो रूपों में देखा है। यही कारण है कि शब्दों से संश्लिष्ट गुह्यता और मिथ्यात्व को इन्होंने भाषा के बोझिल उपादान के रूप में देखा है। आर्थिक संश्लेष के विभिन्न स्तर हमारी प्रेषणीयता को पंगु बना देते हैं और हमारी सहज अभि-व्यक्ति विकृत हो जाती है। दार्शनिकों के लिए यह तथ्यों के प्रेषण की समस्या है, पर साहित्यकारों के लिए यह अभिधान की समस्या है। मोराविया ने इसी समस्या को दूसरे रूप में देखा है और यह माना है कि शब्दों का मिथ्यात्व और गुह्यता भावोद्रेक या अभिव्यक्ति में बाधकरूप में काम करता है। मोराविया के अनुसार मनुष्य का कामुक जीवन निजी और गुह्य है। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा इसी गुह्यता के कारण शिथिल और निष्प्राण है। हम विषय-वस्तु में खुलेपन के माध्यम से इस शिथिलता की समस्या का समाधान कर सकते हैं। साठ के बाद के हिन्दी के कुछ साहित्यकारों और कवियों ने अपशब्दों के प्रयोग और ग्राम्यता (वलारिटी) के माध्यम से इस समस्या का समाधान करना चाहा। वस्तुतः अभिव्यक्ति की समस्या शब्दों की समस्या न हो कर वाक्यिक गठन की समस्या है। अतः शब्दों में अराजकता ला कर इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। यह एकप्रकार से सृजनात्मक दरिद्रता है जो साहित्यिक

मूढ़ता ही कही जा सकती है । सार्त्र जैसे अस्तित्ववादियों ने भी अपशब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु उनके शब्द वाक्यिक गठन के उपादान हैं । सादे, बाल्जाक और आंद्रे जीद ने अपने शब्दों में ग्राम्यता नहीं आने दी, अतः उनके अपशब्द शब्द न हो कर मिथकीय उपादन भर हैं । आदिकाल में सिद्धों और साधक कवियों ने अपने गीतों में प्रायः शब्दों का मिथकीय प्रयोग किया है और गुह्यता की सृष्टि का प्रयास किया है । डोमिन, धोबिन आदि शब्द प्रतीकगत हैं जो प्रवृत्तियों के प्रतिपादन के रूप में व्यक्त हुए हैं । यही इन कवियों के आर्थिक गांभीर्य का कारण है जिसका रीतिकाल के कवियों में अभाव है । उलट-बांसियों के प्रयोग के द्वारा आदिकालीन कवियों ने इसी प्रक्रिया के द्वारा मिथ्यात्व या गुह्यता की सृष्टि का प्रयास किया है । साहित्यिक भाषा में प्रयुक्त मिथ्कीयता के विश्लेषण के लिए प्रत्येक भाषा की मूल प्रकृति के अध्ययन की आवश्कता है । भाषा की मूल प्रवृत्ति और सृजन प्रक्रिया के परिचय के अभाव में हिन्दी साहित्य में अनेक प्रकार की ऐतिहासिक त्रुटियां घटित हुई हैं । जो संस्कृत साहित्य के घट-न्याय और पट (वस्त्र) - न्याय से अपरिचित हैं उन्होंने कबीरदास को जुलाहा मान लेने की भूल की । वस्तुतः स्रष्टा घट (घड़े) और पट (वस्त्र) के सृजन की प्रक्रिया की तरह सृजन का कार्य-व्यापार सिद्ध करता है । कबीर ने उसी दर्शन की पुष्टि अपनी कविता के माध्यम से की है । यह दर्शन उनकी कविता मे स्पष्ट है । यही कारण है कि विधाता-प्रजापति कुम्भकार और जुलाहा हैं । मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि कबीर नाम के एक दार्शनिक साधक हुए जिन्होंने अद्वैत-वेदान्त का प्रतिस्थापन लोकदर्शन या सामाजिक भूमि पर किया । बाद में किसी कवि ने उस दर्शन को आधार मान कर साहित्य का सृजन किया । मीरा साधिका और मीरा कवयित्री में यही अन्तर स्पष्ट है । मीरा के प्रभु गिरिधर कहनेवाला कोई पुरुष कवि या गायक भी हो सकता है । संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि और व्यास को ले कर यही भूल घटित हुई है । वस्तुतः सस्कृत और हिन्दी के बहुत-से मौलिक साहित्य लुप्त हैं । सहिता (कलेक्शन) सग्रह है, अतः यह स्पष्ट है कि वेदव्यास ने वेदों का व्यास या वर्गीकरण किया । बाद में विभिन्न पण्डितों ने उनके चुने गये अंशों का सकलन किया । हमारे वर्तमान चार वेद इन्हीं संकलनों के रूप हैं । महाभारत और रामायण में व्यास और वाल्मीकि की जीवन चर्या इन महाकाव्यों के मूल रूप में संदेह की सृष्टि करती है । महाभारत मे ही महा-भारत की जिस विशाल काया की अनुक्रमणिका का वर्णन किया गया है, वह निश्चित ही पृथक है । यह स्पष्ट है कि परवर्ती किसी कवि ने रामायण, महा-भारत और पुराणों को संक्षिप्त किया । हो सकता है, इस प्रकार के कई संक्षेप

रहे हों, जो कालक्रम से लुप्त हो गए हों। मैंने यह चर्चा इसलिए की है कि साहित्य और भाषा के संदर्भ में मिथकों की चर्चा के विश्लेषण में इन सारे उपादानों की व्याख्या की आवश्यकता है।

भाषा के मिथकीय तत्व के विश्लेषण के लिए उसकी आन्तरिक प्रकृति और काव्य की परम्परा के अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता है। भाषा-विज्ञान में वस्तु-विश्लेषण (कान्टेन्ट-एनालीसिस) और गहन-गठन-विश्लेषण (डीप स्ट्रक्चरल एनालीसिस) आज यही प्रयत्न कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन का प्रयास प्रारम्भ में मूलतः विदेशी विद्वानों के द्वारा ही किया गया। इन्होंने अवध और ब्रज को क्रमशः राम और कृष्ण की लीला भूमि के रूप में देखा और यह मान लिया कि राम चरित्र के वर्णन की भाषा अवधी और कृष्ण चरित्र के वर्णन की भाषा ब्रज है। हिन्दी साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों ने विदेशी इतिहासकारों की इसी भूल को यथार्थ के रूप में स्वीकारा और इन कृतियों की भाषा को भाषिक प्रकृति के प्रतिकूल अवधी और ब्रज का नाम दे दिया।

साहित्य और भाषा के विश्लेषण में वस्तुतः इस प्रकार की भूलें सनातन से ही होती आ रही हैं। स्वयं वेद के विभिन्न भाष्यकारों ने इस प्रकार की भूलें की हैं। सायण ने 'कः अद्धावेद' और चर्बुरी-खर्बुरी जैसे मन्त्रों और शब्दों को नहीं समझा। ऐसा उन्होंने स्वतः स्वीकार किया है। वस्तुतः अद् धातु का अर्थ अन्न या पुष्टि है। उसके साथ 'धा' के प्रयोग से अद्धा का अर्थ पुष्टि या पोषण का धारण करनेवाला ब्रह्म या स्रष्टा है। इसी मंत्र में उसका प्रश्नोत्तर है। (पोषक कौन है ?) जानो—वेद (ज्ञान) ही पोषक हैं यही उत्तर है। इसी तरह 'चर्बुरी-खर्बुरी' के अर्थ भी कायात्मक और प्रवृत्तिपरक हैं। चर का अर्थ चंचल तो खर का अर्थ गर्दभ है। वेद में भी देशज शब्द लिए जाते थे, जिनका विश्लेषण आवश्यक है।

अन्तर्जातीय भाषिक प्रकृति और मिथकीय तत्त्वों को न जानने के कारण कई घातक परिणाम घटित हुए हैं। एक अमरीकी विद्वान ने दो विशाल खण्डों में प्रकाशित इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दुइज्म में भाषा और मिथकीय तत्व के ज्ञान के अभाव में इसी तरह की भूल की है। वस्तुतः संवर (शंवर) शब्द सम और वर के योजन से सिद्ध हुआ है। इसका अर्थ कामभोग की वैसी प्रकृति है जिससे सदृशलिंग वाले के प्रति आकर्षण हो। इसके लिए वेदों और पुराणों में भाषिक मिथक की सृष्टि की गई है। शिव सनातन पुरुष का प्रतीक है और पार्वती सनातन नारी रूप का प्रतीक है। शिव या पुरुषतत्व नारीतत्व में वियुक्त या विभक्त रहना चाहता है। यह सृष्टि के सामने बहुत बड़ी समस्या है। देवत्संव

ने इन्द्र (मन) को अनाहूत किया है और कामदेव ने पुरुष-तत्व (शिव) की पाँचो इन्द्रियों (पाँच पुष्प) को व्यथित किया। पुरुषतत्व उद्विग्न हो जाता है, पर विवेक (शिव की तीसरी आँख) के खुलने पर शरीरी कामतत्व (फीजीकल-सेक्सुअल एलिमेन्ट) भस्मीभूत हो जाता है। रति (स्त्री विषयक कामुक इच्छा) अकेली हो जाती है। यह उद्वेग का कारण है। अन्त में द्वापर में युगीन द्वन्द्व के रूप में पुरुषतत्व संवर (होमो-सेक्सुअल) और प्रदुम्न (हेट्रो-सेक्सुअल) दो रूपों में व्यक्त होता है। नारी मायावती और शुद्धरति दो रूपों में रहती है। संवर का नाश होता है और द्वन्द्व परक त्रेता की ओर अग्रसर होता है। वस्तुतः यह भाषिक मिथक या प्रतीक कामतत्व के विश्लेषण के लिए गठित किया गया था। पर अमरीकी विद्वान ने इसे एक कथा के रूप में ग्रहण किया और लिख दिया कि कृष्ण का एक पुत्र स्त्रैण (होमो-सेक्सुअल) था जो ऋषियों के पास स्त्री के वेश में जाता था। वस्तुत. इस प्रकार का प्रस्तुतन अज्ञान और अराजकता का रूप है।

भाषिक उपादान के रूप में किम्बदंतियों का प्रयोग सदा से होता रहा है। लोकोक्ति और किंवदंति में मिथकीय तत्व का गहन समावेश है। साहित्यिक विधा में इसका प्रयोग बड़ा ही साधक है। परन्तु भाषा की प्रकृति को न जानने के कारण इनके अर्थ लुप्त हो गये हैं। इसका एक उदाहरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूं। संस्कृत में पार तेज या मूल को कहा गया है। इसमें द और स प्रत्यय के योग से पारद और पारस शब्द घटित होते हैं। 'पारस परस कुधातु सुहाई'—कहने का तात्पर्य यह है कि पारस धातुओं का मूल है, अतः उसका पुट देने से अशुद्ध धातु का शोधन हो जाता है और उसका मूल तेज या शुद्धता आ जाती है। परन्तु यह सत्य कथन मिथकीय तत्व की सृष्टि के कारण किंवदंति में बदल गया है और साधारणतः यह भ्रान्त विश्वास बन गया है कि पारस नाम का एक पत्थर है जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है।

ऊपर अपनी संक्षिप्त चर्चा में मैंने मिथ्यात्व का प्रयोग किया है। वस्तुतः मिथ्या और मिथक शब्द दोनों एक-दूसरे से जुड़े हैं। मिथ्या असत्य नहीं है। असत्य का अर्थ अस्तित्व का अभाव है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसे असत्य कहा जाता है, परन्तु तथ्य को गोपन रखने के उद्देश्य से जो विधान किया जाता है, उसे मिथ्या कहा जाता है। इस दृष्टि से मिथ्या की सृष्टि करने वाले सारे तत्वों या उपादान को मिथक कहा गया है। रहस्य, गोपन या गुह्यता मिथक के ही तत्व हैं। वस्तुतः भाषिक रूप-विधान में इनका ऐसा योग है कि भाषा को मिथक के रूप में ही देखा जा सकता है।

शब्दों के रूप में भाषिक मिथक परम्परागत मूल्यों के साथ हमारी भावना

को जोड़ते हैं। यही कारण है कि किसी भाषा के शब्द जाति विशेष की समग्रता को समेट कर चलते हैं। पर्यायवाची शब्दों के अर्थ-विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनके अर्थों का गठन सांस्कृतिक और सामाजिक भाव विन्यास के भिन्न स्तरों पर घटित होते हैं। यही कारण है कि एक भाषा से दूसरी भाषा में किया गया अनुवाद प्रायः मूलभाषा की चेतना को व्यक्त करने में असमर्थ रह जाता है। पर्यायवाची शब्दों का भी अपना पृथक क्षेत्र है, अतः उनसे व्यक्त होने वाला अर्थ हमें किसी प्रत्यय के विशिष्ट अंश से ही परिचित करा पाता है। यही कारण है कि किसी एक व्यक्ति की भाषा को भाषा के पूर्णरूप में नहीं देखा जा सकता। वह आंशिक को ही व्यक्त कर पाता है। भारतीय दर्शन में अपोहवाद इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। इसे ही कुरलोविच ने (सीमैंटिकफिल्ड थियोरी) आर्थिक क्षेत्र के सिद्धान्त के रूप में व्यक्त किया है। इस दृष्टि से अर्थ अपने आपमें एक प्रकार का मिथक बन जाता है। शब्द संकाय में निहित इस मिथकीयता को स्पष्ट करने के लिए हमें शब्द निर्माण की प्रकृति और धारणा से परिचित होना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब हम भाषा के मूल में प्रवेश करें और उसके विधायक तत्वों का विश्लेषण करें। वस्तुतः यह बड़ा ही कठिन कार्य है, क्योंकि कालविशेष में आर्थिक और धारणागत भाषिक चेतना परिवर्तित होती जाती है और हमारे पास उसे जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

भारतीय भाषाओं की चेतना का जब हम विश्लेषण करना चाहते हैं तो उस अवस्था में हम प्रायः वर्तमान के आधार पर ही अतीत का विश्लेषण करना चाहते हैं। यह बड़ी ही घातक स्थिति है। विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत के अधिकांश शब्द अर्थगत धातुओं के आधार पर गठित किये गए हैं। यही कारण है कि वर्ण को ही हमारे यहां मुख्य माना गया है और उसे शब्द ब्रह्म की सज्ञा दी गई है। ऐसी अवस्था में वर्णों का विश्लेषण करना बड़ा ही कठिन कार्य है। शब्द प्रायः पात्र बन गए हैं और उनके आधार पर मिथककथा की सृष्टि की गई है। यही कारण है कि भारतीय भाषाओं के तत्सम शब्दों के वर्णगत विश्लेषण के बिना हम भारतीय मिथकों को सही रूप में नहीं समझ सकते।

मिथकों के विश्लेषण के लिए हमें सर्वप्रथम भाषिक शब्दों के मिथकीय तत्वों का विश्लेषण करना चाहिए।

नरेन्द्र कोहली

पौराणिक लेखन की प्रासंगिकता

ऐतिहासिक कथा, पुरा-कथा तथा लोक-कथा एक ही वर्ग की कथाएं हैं, जिन्हें हम प्रख्यात कथा कहते हैं। संभवतः कुछ और प्रकार की कथाएं भी इस वर्ग में आ सकती हैं; किन्तु उन सबका विस्तृत विवेचन करना मेरा लक्ष्य नहीं है। अपने निबन्ध में मैंने कुछ लेखकों तथा कृतियों के नाम लिये हैं, पर मेरी दृष्टि पुराकथाओं पर आश्रित साहित्य पर ही केन्द्रित है। सैद्धांतिक चर्चा कम से कम कर, मैंने लेखक के रचना-संसार को ही सामने रखा है: वस्तुतः लेखक की रचना प्रक्रिया से गुजर कर ही अपनी बात कही है।

अपनी बात तक पहुँचने के लिए मैं हिन्दी के तीन लेखकों—वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा जयशंकर प्रसाद—की चर्चा करना चाहूँगा। वृन्दावनलाल वर्मा के अपने वक्तव्यों के अनुसार उनके ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के कुछ सामान्य और कुछ विशेष कारण हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सर वाल्टर स्काट के उपन्यास पढ़ कर उनके मन में यह बात आयी थी कि वे भी भारत के इतिहास के उन गौरवपूर्ण पृष्ठों को लेकर वैसे ही उपन्यास लिखेंगे, जिनसे भारत के सम्मान की प्रतिष्ठा हो सके। इस सामान्य कारण के साथ-साथ उन्होंने एक विशेष कारण देते हुए एक घटना की चर्चा की है। बुंदेलखंड में बसे हुए एक पंजाबी-परिवार के यहां एक विवाह के अवसर पर वे आमंत्रित थे। वहां उस पंजाबी-परिवार के अनेक रिश्तेदार और सगे-सम्बन्धी आए हुए थे। उन लोगों में होनेवाली बातचीत वर्मा जी ने भी सुनी, जिसमें वे लोग बुंदेलखंड की निर्धनता, पिछड़ेपन तथा अशिक्षा के विषय में अपमान-जनक ढंग से बातचीत कर रहे थे और इस क्षेत्र तथा यहां के लोगों के विषय में

अपनी घृणा अभिव्यक्त कर रहे थे। वर्मा जी ने स्वीकार किया है कि यह सब उन्हें बहुत अपमानजनक लगा और उन्होंने संकल्प किया कि वे बुन्देलखण्ड के गौरव को स्थापित करने के लिए उपन्यास लिखेंगे।

'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी', 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़कुंडार' इत्यादि उपन्यासों का विश्लेषण स्पष्ट कर देता है कि उन्होंने अपनी क्षमतानुसार अपने अभीप्सित काल के इतिहास की छानबीन की। अपने कथ्य के लिए प्रमाण जुटाए और थोड़े-बहुत ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि भी की। परिणामतः अनेक स्थानों पर उनके उपन्यास उपन्यास न रह कर 'इतिहास' होकर रह गए हैं। वे किसी समस्या अथवा थीम से जूझते दिखाई नहीं पड़ते, वे केवल गौरव की प्रतिष्ठा करते हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के भी उनके अपने लेखन के सम्बन्ध में कुछ वक्तव्य मिल जाते हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास के विषय में उन्होंने कहा है कि कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के उपन्यास 'जय सोमनाथ' को पढ़ कर उनके मन में आकांक्षा जगी कि वे मुंशी के नहले पर अपना दहला मारें और उन्होंने 'सोमनाथ' लिखा। 'वयं रक्षामः' की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने कुछ नवीन सत्यों की खोज की है जिन्हें वे पाठक के मुंह पर मार रहे हैं। परिणामतः नहले पर दहला मारने के उग्र प्रयास में 'सोमनाथ' अधिक से अधिक चामत्कारिक तथा रोमानी उपन्यास हो गया है; तथा अपने ज्ञान के प्रदर्शन तथा अपने खोजे हुए तथ्यों को पाठकों के सम्मुख रखने की उतावली में वे उपन्यास विधा की आवश्यकताओं की पूर्ण अवज्ञा कर, 'वयं रक्षामः' तथा 'सोना और खून' में पृष्ठों के पृष्ठ अनावश्यक तथा अतिरेकपूर्ण विवरणों से भरते चले गए हैं। किसी विशिष्ट कथ्य अथवा थीम के अभाव ने उनके इस अनर्गल प्रलाप में विशेष सहायता की है।

इन दोनों लेखकों के विपरीत जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में मुझे एक विशेष पैटर्न दिखाई पड़ता है। उन सारे नाटकों का अलग-अलग विश्लेषण बहुत विस्तृत हो जाएगा; किन्तु उनकी कुछ सामान्य बातों पर विचार किया जा सकता है। उनके प्रायः ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में बात वहाँ से आरम्भ होती है, जहाँ देश का शासक अत्याचारी, विलासी, क्रूर तथा प्रजा-शत्रु है अथवा किसी विदेशी आततायी आक्रमणकारी शत्रु के कारण देश की प्रजा दुःखी है। प्रायः नाटकों में ये दोनों स्थितियां साथ-साथ ही आयी हैं। 'विशाख' में बाहरी आक्रमणकारी नहीं है, किन्तु राजा अत्याचारी है—उसके शासन में जन-सामान्य का न धन सुरक्षित है, न सम्मान और न प्राण। वह किसानों के खेत छीन कर मठों के धूर्त महन्तों को दे देता

है तथा स्वयं प्रजा की कन्याओं का अपहरण करता फिरता है। 'राज्यश्री' में राजा अत्याचारी नहीं है, किन्तु बाहरी आक्रमणकारी दुष्ट, धूर्त तथा अत्याचारी है। यहां प्रजा के प्रतीक के रूप में स्वयं 'राज्यश्री' दुखी है, दूसरी ओर मालिन सुरमा भी कम पीड़ित नहीं है। 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में एक ओर भीतरी षड्यंत्रकारी, राज्य के बाहर के शत्रुओं की सहायता कर, देश की स्थिति कमजोर बना रहे हैं तथा दूसरी ओर जनमेजय तथा नागों की साम्प्रदायिक क्रूर राजनीति दोनों ओर की सामान्य प्रजा को पीड़ित कर रही है। 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में देश के शासक क्रूर, अत्याचारी और विलासी भी हैं तथा दुर्बल भी। इन सबका सर्वेक्षण किया जाए तो प्रसाद के अनुसार प्रजा के शत्रु दो प्रकार के हैं—भीतरी और बाहरी। अधिकांशतः स्वयं देश का शासक तथा उसके समर्थक स्वार्थी षड्यन्त्रकारी ही देश के भीतरी शत्रु हैं जो अपनी स्वार्थ-लोलुपता तथा विलासी वृत्ति के कारण देशहित तथा प्रजाहित के विरुद्ध कार्य करते हैं। और बाहरी शत्रु वे आक्रमणकारी हैं जो इस देश को अपनी बर्बर, हिंसात्मक लूट का लक्ष्य बनाना चाहते हैं—वह सिकन्दर भी हो सकता है और शक-हूण कबीले भी। उनके नाटकों में भीतरी शत्रुओं के उत्पातों से देश के दुर्बल हो जाने के कारण बाहरी शत्रुओं का आक्रमण होता है; अथवा बाहरी शत्रुओं के आक्रमण के कारण देश के भीतरी शत्रु पनपने लगते हैं। प्रायः दोनों स्थितियां एक-दूसरे की पूरक हैं।

प्रसाद के नाटकों का यह पैटर्न सीधे-सीधे उनकी समसामयिक राजनीतिक स्थितियों की ओर इंगित है। विदेशी शासन, स्वार्थवश उनका समर्थन करने वाले धनी-मानी, सेठ-साहूकार, जमींदार, उद्योगपति तथा उनके संयुक्त शोषण से पीड़ित प्रजा प्रसाद के सामने थी। प्रसाद में वर्ग-चेतना तथा मार्क्सवादी दृष्टि का सर्वथा अभाव है। किन्तु अपने पीड़ित देश के लिए राष्ट्रीय तथा मानवीय दृष्टि उनके पास थी। इस आधार पर निश्चित रूप से प्रसाद की कृतियां वृन्दावनलाल वर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री जैसे ऐतिहासिक कृतिकारों से भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित होती हैं। उनमें एक थीम है, अपनी युगीन समस्याएं हैं और उनसे वे अपने ढंग से जूझ रहे थे।

अपनी युगीन समस्याओं को लेकर राहुल सांस्कृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, दिनकर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा धर्मवीर भारती ने भी सफल प्रख्यात-कथाश्रित कृतियां रची हैं जो यह प्रमाणित करती हैं कि अपने युग के लिए प्रासंगिक हुए बिना, प्रख्यात कथाओं पर आधृत कृतियां कोई अर्थ नहीं रखतीं। प्राचीन तथा प्रख्यात

कथानक होने पर भी जो कृति अपने युग तथा अपने परिवेश के लिए जितनी अधिक प्रासंगिक होगी, वह उतनी ही सफल कृति होगी। लेखक अपने या अपने समाज के जीवन की किसी समस्या से उद्‌भूत सर्जनात्मक तनाव के बिना यदि कोई कृति रचना है तो वह चाहे सुन्दर अतीत की रचना करे या रोमांस का सृजन करे, वह अपनी समस्याओं से जूझे बिना न तो स्वयं ही उस कृति में उतर पाता है, न अपने पाठकों को ही कृति से जोड़ पाता है।

यहां इस वर्ग की कृतियों के विषय में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि लेखक को अपने ही युग की यथार्थ समस्याओं का चित्रण करना है तो फिर उसे प्रख्यात कथाओं की क्या आवश्यकता है ? वह उन समस्याओं का अपने ही यथार्थ परिवेश में जीवन्त चित्रण क्यों नहीं करता ?

१९७२ में मेरा उपन्यास 'आतंक' प्रकाशित हुआ था, जिसमें समकालीन जीवन के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आतंक के नीचे डरे-सहमे लोगों का चित्रण किया गया था और यह बताया गया था कि उस आतंक का मूल स्रोत सत्ताधारी राजनीतिक दल है। उस उपन्यास को पढ़ कर मित्रों ने शिकायत की थी कि उस उपन्यास में शोषण चक्र चलानेवाली दमनकारी राजनीतिक सत्ता का चित्रण तो है, किन्तु उसके विरोध में शस्त्र लेकर उठ खड़े होनेवाले लोग नहीं हैं।

इसी प्रकार उस उपन्यास पर हुई एक गोष्ठी में एकाधिक वक्ताओं ने उपन्यास पर यह आरोप लगाया था कि नायक के हताश हो जाने तथा जूझनेवाले व्यक्ति का स्थानांतरण कर दिये जाने के कारण उपन्यास को समाप्त कर, पाठक के मन में निराशा छा जाती है। उनका कहना था कि उस निराशा के विरुद्ध संघर्ष करनेवाला एक ऐसा नायक होना चाहिए जो पाठक को अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने का बल दे, उसे प्रेरित करे, उकसाए।

ऐसा नहीं था कि मैं यह नहीं जानता था या नहीं मानता था; किन्तु यथार्थवादी उपन्यासकार अपने उपन्यासों में उन चरित्रों को कैसे प्रस्तुत करे जो उसके समाज के समकालीन जीवन में हैं ही नहीं। आज के युग में लोगों के विश्वास का भाजन, जैसा जुझारू चरित्र हमें चाहिए, वैसा है ही नहीं—अतः लेखक को उसका निर्माण करना होगा। समकालीन जीवन का यथार्थ चित्रण करते हुए, लेखक ऐसे चरित्र की रचना करेगा तो वह प्रामाणिक नहीं हो पाएगा। ऐसी स्थिति में लेखक का मन या तो फंतासी की ओर मुड़ता है, या मिथक, पुरा कथाओं अथवा इतिहास की ओर। फंतासी का प्रयोग मैंने अपने उपन्यास 'आश्रितों का विद्रोह' में किया था; किन्तु उस पर आई प्रतिक्रि-

थाएं ऐसी नहीं थीं; जो मुझे उस प्रयोग को दोहराने के लिए प्रोत्साहित करतीं। फंतासी का लोक सामान्य पाठक के लिए एक अविश्वसनीय अपरिचित क्षेत्र है, जिसके सत्य के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो पाता और परिणामतः न तो सामान्य पाठक गंभीर फंतासियों को रुचि से पढ़ पाता है, न उसका प्रभाव ग्रहण कर पाता है। मेरे अनेक सहानुभूतिपूर्ण पाठकों ने भी इस फंतासी को पूरा पढ़ पाने में अपनी अक्षमता के लिए मुझसे क्षमा मांग ली थी। फंतासी की सूक्ष्मता कथा-रस खोजनेवाले पाठक को रास नहीं आती और उसकी आशावादिता पाठक को अविश्वसनीय लगती है। परिणामतः वह कृति या तो अपठनीय मानी जाती है या चमत्कारों को प्रस्तुत करनेवाली अथवा उपहासास्पद।

तब मेरा मन ऐसे संघर्षशील नायकों को खोजता हुआ अपने वर्तमान ससार में लेनिन, माओत्से तुंग, फीदल कास्त्रो तथा होचि मिन्ह तक गया; किन्तु उनका परिवेश तथा मेरा परिवेश भिन्न था। बुद्धि को ग्राह्य होते हुए भी मेरा सर्जक मन उस परिवेश पर कलम उठाने में स्वयं को असमर्थ मानता था और कहीं मुझे यह भी लगता था कि पाठक की संवेदना भी वातावरण की भिन्नता, नवीनता अथवा अपरिचय के कारण उन नायकों के साथ शायद न जुड़ पाए। आज सोचता हूँ कि यदि इन विदेशी नायकों पर उपन्यास लिखता भी, तो वह भी प्रख्यात कथा पर ही आधृत होता और आज उनके विषय में भी सफाई दे रहा होता। अततः मेरा सर्जक मन अपनी जानी-पहचानी पुराकथाओं तक पहुँचा और 'आतंक' के संवेदनशील, किन्तु कर्म-असमर्थ बुद्धिजीवी डा० कपिला के रूप में रामकथा के विश्वामित्र को खोज लाया। डा० कपिला कर्म के धरातल पर कुछ नहीं कर सके, विश्वामित्र भी कर्म के रूप में स्वयं कुछ नहीं सके, किन्तु वे राम को बुला लाए—शस्त्रधारी योद्धा राम को। मुझे भी एक शस्त्रधारी राम की आवश्यकता थी ; किन्तु समकालीन परिवेश में राम यथार्थ नहीं था—वह पुराकथा से ही लाया जा सकता था। तत्काल डा० कपिला का कालेज, या आज के समस्त विश्वविद्यालय, सिद्धाश्रम में परिवर्तित हो गए; और आज के धन तथा सत्ता-संपन्न वर्ग की गुन्डागर्दी ताड़का, सुबाहु तथा मारीच की गुन्डागर्दी में बदल गई। आज के विश्वविद्यालय के लिए मैं विश्वसनीय रूप में शस्त्रधारी डा० कपिला का निर्माण नहीं कर सकता था, किन्तु सिद्धाश्रम में राम सरलता से जन-वाहिनी का निर्माण कर, राक्षसों पर सशस्त्र आक्रमण कर सकते थे। तब मैंने अनुभव किया कि पौराणिक नायक, हमारे आदर्शों का नीड़, एक ऐसा काल्पनिक पात्र है, जिसे वास्तविक पात्र की

मान्यता प्राप्त है। वह वस्तुतः हमारी इच्छाओं और कामनाओं का प्रतिरूप है।

बिहार के एक गांव में धन तथा सत्ता-संपन्न राजपूतों द्वारा हरिजन कन्याओं के साथ बलात्कार करने तथा कुछ हरिजन पुरुषों को जीवित जला देने के समाचार आए थे। उन राजपूतों के आतंक के कारण न किसी डाक्टर ने घायल हरिजनों का उपचार करने का साहस किया और न किसी पुलिस अधिकारी ने रपट ही लिखी थी। मेरे मन में उस घटना का रूप बदला। वे हरिजन गहन केवट के परिवार में बदल गए। राम से साहस पाकर वे सेनापति बहुलाश्व के पुत्र देवप्रिय को पकड़ लाए और राम ने भ्रष्ट सत्ताधारी के विलासी पुत्र को मृत्युदंड देते हुए लक्ष्मण को आदेश दिया कि वे उसका वध कर दें और पुत्र को बचाने के लिए सैनिकों सहित आए हुए सेनापति बहुलाश्व को उन्होंने स्वयं अपने हाथों मार डाला।

रचना-प्रक्रिया लम्बी है—घटनाएं अनेक हैं; किन्तु तथ्य एक ही है कि वर्तमान काल में भ्रष्ट सत्ताधारियों के विलासी पुत्रों की हत्या दिखाना अयथार्थ होता (उनमें से किसी को भी, किसी भी रूप में दंडित नहीं किया जा सका है)। किन्तु सर्जक मन अपनी इच्छा, आक्रोश, योजना तथा समाधान को मिथक के पर्दे में स्पष्ट कह गया।

पुराकथा के माध्यम से अपनी बात कहने का लालच सर्जक मन को एक और कारण से भी आकर्षित करता है। लेखक ही नहीं, संप्रेषण का माध्यम ढूंढनेवाले प्रत्येक कलाकार अथवा संगठनकर्ता के सम्मुख प्रत्येक पग पर यह प्रश्न उठता है कि वह पूर्वनिर्मित माध्यमों तथा मंचों का उपयोग करे अथवा अपने लिए नए माध्यमों तथा मंचों का आविष्कार करे। दोनों प्रकार के माध्यमों के अपने-अपने हानि-लाभ हैं। किन्तु वृहत् पाठक-दर्शक वर्ग पाने के लिए बहुत बार पूर्वप्रचलित माध्यमों तथा पूर्व-निर्मित मंचों का अवलंब आकर्षक भी होता है और सुविधाजनक भी। आधुनिक कला-कृतियों में लोक-माध्यमों का आकर्षण भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। हमारी प्रचलित पुराकथाएं वस्तुतः हमारे समाज की सबसे लोकप्रिय लोक-कथाएं ही हैं। यह तथ्य आज का नहीं, बहुत पुराना है। जो कथानक जन-सामान्य के मन में बैठा हो, उसे उखाड़ कर, उसके स्थान पर अपना कथानक जमाया जाए और तब अपनी बात कही जाए, इससे कहीं आसान और प्रभावकारी मार्ग यह है कि उसी कथानक के माध्यम से अपनी बात पाठक के गले से उतार कर, मन में बैठा दी जाए। अनेक लेखकों ने अपनी विचारधारा इसी प्रकार जन-सामान्य तक पहुँचाई है। हिन्दी का सूफी-काव्य इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। प्राख्यात कथाएं—

जिनमें पुराकथाएं भी सम्मिलित हैं—वस्तुतः कच्चा माल है। वे ईंट, मिट्टी और गारा हैं। उनका अपना रूप इतना लचीला होता है कि उन्हें किसी भी आकार में ढाला जा सकता है। यह लेखक की अपनी क्षमता पर निर्भर करता है कि वह उस ईंट, गारे और मिट्टी से आवास बनाता है, मंदिर बनाता है, कारखाना बनाता है या समाधि बना देता है, और जो कुछ भी बनाता है, उसे कितना सुन्दर बनाता है। हमारे देश में अनेक अन्य पुराकथाओं तथा लोककथाओं का इस रूप में उपयोग हुआ है; किन्तु मेरा अनुमान है कि राम-कथा का विभिन्न विचारधाराओं के प्रचार के लिए अधिकतम प्रयोग हुआ है। यहां तक कि यदि समस्त राम-कथाओं का क्रमिक समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाए तो सुविधा से इस देश की सामाजिक नैतिकता का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

वाल्मीकि की रामायण के, अनेक विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त माने जानेवाले बाल कांड तथा उत्तर कांड छोड़ दिए जाएं, तो वह कवि मानवीय क्षमता का अद्भुत विश्वासी प्रतीत होता है। वहां इश्वर नहीं है। एक मनुष्य है—राम, जो घर से निकाल कर वन भेजा गया है। गंगा नदी पार कर राम फूट-फूट कर रोते हुए कहते हैं कि अयोध्या में वे लोग मेरी मां को मार डालेंगे; लक्ष्मण, तुम लौट जाओ। वन में सीता-हरण के पश्चात् राम फिर वैसे ही दुखी होकर रोते हैं तो लक्ष्मण उन्हें डांट कर समझाते हैं। वही राम घर से दूर, निर्वासित, बिना शासन और सेना के, बिना रथ और हथियारों के—बंदर-भालू के धरातल पर जीनेवाली, पिछड़ी हुई, अविकसित आदिम जातियों का संगठन कर, रावण की समस्त सुविधाओं से संपन्न साम्राज्यवादी सेना से जा टकराते हैं। राम और लक्ष्मण दोनों को ही, रावण मार-मार कर इतना घायल कर देता है कि उन्हें मृत समझ कर युद्धक्षेत्र में छोड़ चला जाता है और गिद्ध-चीलों से बचा कर वानर उन्हें अपने शिविर में लाते हैं। किन्तु राम अपना साहस नहीं छोड़ते। एक महत्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा—रावण तथा मेघनाद अभिचार, पशु-बलि तथा तांत्रिक यज्ञों का विधान करते हैं; किन्तु बाल्मीकि के राम और लक्ष्मण स्वयं तो कोई पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र-विधान नहीं ही करते—राक्षसों के अभिचार का भी ध्वंस करते हैं। और अंततः विजय राम की होती है। इस कवि की कृति में न ईश्वर दिखाई पड़ता है, न नरक और स्वर्ग, न मंत्र-तंत्र अथवा अन्य मानवेतर शक्तियां; यहां तो मनुष्य है और मनुष्य का संगठन और साहस। सीता के प्रति सम्मान का भाव तो सभी कवियों का रहा है, किन्तु वाल्मीकि की सीता अद्भुत है।

सीता राम को परामर्श तो देती ही हैं, जब-जब अवसर आया प्रबल विरोध ही नहीं करतीं, उन्हें पर्याप्त डांट भी बताती हैं।

बौद्धों ने राम-कथा का अपने ढंग से प्रयोग किया। 'दशरथ-जातक' में राम-कथा का ढांचा सर्वथा बदला हुआ है। उसमें राम शस्त्रधारी वीर न होकर बौद्ध धर्म के आदर्श पर चलनेवाले तपस्वी बौद्ध भिक्षु हैं, जो बोधिसत्व का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। बोधिसत्व की पत्नी नहीं होनी चाहिए, अतः सीता वहां उनकी बहन हैं।

अध्यात्म रामायण में कथा में विशेष नवीनता न लाते हुए भी उसमें आध्यात्मिकता पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी है।

इस शृंखला में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ भवभूति का 'उत्तर रामचरितमानस' है। कथ्य की दृष्टि से इसमें सर्वाधिक महत्व शंबूक की हत्या और सीता-वनवास को दिया गया है। निश्चित रूप से यह ब्राह्मणत्व की पतनोन्मुखी धारणाओं की बद्धमूलता की पराकाष्ठा का युग रहा होगा, जिसमें नारी के सतीत्व तथा शूद्र के दमन की धारणाओं को जीवन का चरम मूल्य मान लिया गया। चमत्कार यह है कि जो राम निषाद को गले लगते हैं, इन्द्र से पीड़ित अहल्या के चरण छूते हैं तथा शबरी के जूठे बेर खाते हैं, वे यहाँ एक आक्षेप के कारण अपनी प्रिया-पत्नी को त्यागते तथा तपस्या करते हुए शूद्र की हत्या करते दिखाई पड़ते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से ये तथ्य मुझे अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

जैन राम-कथा की तो अपनी स्वतन्त्र परम्परा ही है। रविषेण, विमल सूरि तथा स्वयंभू की रामकथाएँ इसी परम्परा की कड़ियाँ हैं। 'पऊमि चरिउ' में प्रख्यात कथानक की सर्वथा उपेक्षा करते हुए स्वयंभू ने जैन मान्यताओं की स्थापना की है। पग-पग पर राम को जैन मुनि उपदेश करते दिखाई पड़ते हैं, स्थान-स्थान पर अनेक राजा युद्ध में पराजित होकर अथवा कुछ अन्य कारणों से जीवन से विरत होकर सन्यास लेते दिखाई पड़ते हैं और साथ-साथ कवि के युग के प्रभाव में लक्ष्मण अनेक विवाह तथा प्रेम करते भी मिल जाते हैं।

रामचरितमानस के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। आप जानते है कि तुलसी ने राम को ब्रह्मत्व प्रदान किया, प्रत्येक वस्तु को दैवी दृष्टि से देखा और राम के नेतृत्व में आदिम जातियों द्वारा रावण के विरुद्ध लड़े गए युद्ध को ईश्वर-लीला बना दिया। सीता की पवित्रता की रक्षा के लिए उन्हें अग्नि में निवास करवा, माया-सीता का हरण करवाया। इत्यादि। संक्षेप में, उन्होंने अपने युग की ब्राह्मण धारणाओं को पूर्णतः प्रतिष्ठित किया।

साकेत में गुप्त जी ने अपने वैष्णव गांधीवादी विचारों को परम्परागत भक्ति-भावना में समाहित कर अपने युग की नैतिकता को चित्रित किया—इससे भी आप पूर्णतः परिचित हैं।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मेरा सर्जक मन भी राम-कथा को अपने परिवेश में देख रहा था। उसे इस कथा के माध्यम से अपनी बात कहने की अद्भुत संभावनाएं दिखाई पड़ रही थीं। परिवर्तन की आवश्यकता मुझे नहीं थी—केवल देखने की, अपनी दृष्टि को बनाए रखने की बात थी। बंगला देश में अमरीकी संगठन सी० आई० ए० की सहायता से वहाँ के बुद्धिजीवियों की योजनाबद्ध हत्याएं रावण द्वारा ऋषियों की हत्याओं का अर्थ स्पष्ट कर रही थीं। उन्नत सैनिक शक्ति, धन, प्रभुता तथा सत्ता से सम्पन्न और शिव और ब्रह्म के वरद हस्त के नीचे सोने की लंका में सुरक्षित बैठा रावण किसी भी साम्राज्यवादी-पूंजीवादी महाशक्ति से भिन्न नहीं था। राक्षसों की छाया में पलनेवाले, उनके हस्तक्षेप से पीड़ित वानर-राज्य उन पिछड़े हुए छोटे देशों का रूप थे, जो महाशक्तियों के हस्तक्षेपों तथा अत्याचारों से परेशान रहते हुए भी कुछ कर नहीं सकते। ताड़का वन, चित्रकूट, दंडकवन तथा पंचवटी के राक्षस सैनिक स्कंधावार आज के दुर्बल देशों, छोटे द्वीपों और अधीनस्थ राज्यों में स्थापित साम्राज्यवादी सैनिक अड्डों से एकरूप थे। इन्द्र तथा देव शक्ति एक ऐसी विकसित तथा उन्नत महाशक्ति थी, जो अपनी प्रतिबद्धता के विरुद्ध, अपने स्वार्थी तथा विलासी दृष्टिकोण के कारण मित्रता की आड़ में शोषण करती थी।

इस दृष्टि से मेरा सर्जक मन राम के युवराज्याभिषेक के प्रसंग से भी बहुत जूझता रहा। दशरथ की राम को युवराज बनाने की व्याकुलता तथा उसमें असफल होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाना—यह सारा प्रसंग जिज्ञासु मन में अनेक प्रश्न ही नहीं उठाता, सर्जक मन को सृजन के लिए पर्याप्त अवकाश भी देता है। मुझे वर्तमान राजनीतिक स्थिति के प्रकाश में देखने पर इसका कुछ और ही स्पष्टीकरण मिला। वाल्मीकीय रामायण में दशरथ संध्या समय राज सभा में राम को युवराज बनाने की इच्छा प्रकट करते हैं, सभा का अनुमोदन पाकर राम को बुला कर आदेश देते हैं कि वे अभिषेक करवा लें और गुरु वशिष्ठ की आज्ञा का पालन करें। किन्तु थोड़े ही देर पश्चात राम को पुनः बुलाकर कहते हैं कि तुम्हारे मित्र और सुहृद तुम्हें घेर कर सोएं, ताकि रात को कोई तुम्हारा अहित न कर सके। प्रश्न है कि दशरथ इतने भयभीत क्यों थे और राम के वन जाने पर वे जीवित क्यों नहीं रह सके।

कैकेयी तथा दशरथ के वय का अन्तर यह संकेत देता है कि यह विवाह कैकेयी की इच्छा से नहीं हुआ होगा। निश्चित रूप से यह राजनीतिक संधि के रूप में विवाह हुआ है, जो दशरथ की सैनिक शक्ति के दबाव में हुआ है। और अब विवाह के पश्चात् अयोध्या के राज-प्रासादों में बार-बार केकय-नरेश तथा उनके पुत्र युधाजीत की चर्चा तथा भरत का अधिकांशतः ननिहाल में रहना संकेत करता है कि अब कैकेयी के मायके का प्रभाव और शक्ति अयोध्या में बढ़ रही है। मेरे सर्जक मन ने इस सारी स्थिति की कल्पना आज की राजनीतिक परिस्थितियों और मनःस्थिति के प्रकाश में की है। अपने प्रबल सैनिक अभियानों के दिनों में दशरथ ने केकय-नरेश को पराजित किया—सैनिक दबाव में कैकेयी से विवाह किया और उस परिवार को अपमानित किया। क्रमशः दशरथ वृद्ध होते गए और कैकेयी का भाई युधाजीत शक्तिशाली होता गया। दुर्बल होते हुए दशरथ का शंकालु मन अयोध्या में कैकेयी-युधाजीत की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत है और उसे लगता है कि किसी भी दिन राज-सत्ता उसके हाथ से छीन सकती है। हाथों से सत्ता के निकल जाने का भय दशरथ में एक आतंक और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप क्रूरता को जन्म देता है। दशरथ जानते हैं कि उन्होंने अनेक अत्याचार किए हैं—सत्ता से वंचित होते ही, उन अत्याचारों के लिए जवाबदेही करनी होगी। अतः सत्ता को बचाए रखना ही अपने प्राणों को बचाए रखना है। सत्ता को बनाए रखने के लिए दशरथ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करते हैं, जिनमें प्रजा के अनेक नागरिक अधिकार एक-एक कर छिनते जाते हैं। किन्तु उसके साथ विरोध भी भड़कता है। जब दशरथ को लगता है कि वे किसी भी प्रकार सत्ता को अपने हाथ में बनाए नहीं रख सकेंगे, तो उनका प्रयत्न आरम्भ होता है कि सत्ता उस व्यक्ति को सौंपी जाए, जो उनका अहित न करे। भरत कैकेयी का पुत्र तथा युधाजीत का भांजा है और उनके प्रभाव में है, वह अपनी मां और मातृकुल के साथ किए गए अत्याचार का प्रतिशोध ले सकता है—शत्रुघ्न भरत के प्रभाव में है। लक्ष्मण सुमित्रा का पुत्र है और वे माँ-बेटा दोनों ही दशरथ की विलासिता, कामुकता और अनाचारों से नाराज बैठे हैं। केवल राम ही ऐसा व्यक्ति है जिसके हाथ में सत्ता देना सुरक्षित है। राम समर्थ है और कौशल्या का बेटा है। उसके राजा बनने से दशरथ का अहित न होगा।

इसी प्रकार मेरे सर्जक-मन ने राम-कथा में आधुनिक सामाजिक नैतिकता के प्रश्न को अपने ढंग से सुलझाने का पर्याप्त अवकाश पाया। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध हमारी सामाजिक नैतिकता के मूल में है। राम-कथा में अहल्या की कथा नारी-संबंधी अनेक प्रश्नों के समाधान का अवकाश देती

है। मेरे सामने प्रश्न सीधा था। या तो अहल्या दोषी थी या दोषी नहीं थी। दोषी थी तो राम-लक्ष्मण ने जाकर उसके चरण क्यों छुए और निर्दोष थी तो गौतम ने उसका त्याग क्यों किया ? पति-पत्नी का वह कौन-सा प्रच्छन्न समझौता था, जिसके अन्तर्गत बिना दोष के भी त्यागे जाने पर अहल्या अपने पति के पास जाने को उत्सुक थी अथवा त्याग कर भी दोषी पत्नी को पुनः प्राप्त करने के लिए गौतम उत्सुक थे ? इन सारे प्रश्नों के आस-पास नारी-पुरुष संबंधी अनेक प्रश्नों के साथ-साथ दुर्बल, किन्तु ईमानदार बुद्धिजीवी गौतम तथा विलासी तथा अन्यायी शासक इन्द्र का द्वन्द्व भी उभर कर मेरे सर्जक मन के सामने आया।

सबसे अधिक जटिल समस्या आर्थिक संबंधों की है। प्रख्यात कथा के उस काल में आधुनिक मार्क्सवादी विचारधारा का पूर्ण रूप प्रस्तुत करना दूर की कौड़ी लाना होता, किन्तु आर्थिक वितरण की समस्या, उत्पादन पर उत्पादकों के अधिकार तथा मानवतावादी, शोषण-विहीन अर्थव्यवस्था की बात अवश्य की जा सकती थी। इसमें सबसे अधिक सहायक है सीता का चरित्र। धरती-पुत्री सीता निभ्रांत रूप से जानती हैं कि वह या तो अवैध संतान होने के कारण माता द्वारा खेत में फेंक दी गई थीं अथवा बच्चे के पालन-पोषण में असमर्थ निर्धन पिता उन्हें अपने मूक विरोध के रूप में राजा के खेत में छोड़ आए थे। अतः मेरे सामने सीता का वह रूप था जो किसी किसान अथवा श्रमिक को देखते ही पिघल उठता था और उन्हें अपने अब तक वृद्ध हो गए माता-पिता का ध्यान आता है। निर्धनता की मार से पीड़ित बच्चों को देख कर उनके मन में यह बात आए बिना नहीं रहती कि यदि सीरध्वज जनक ने उन्हें पुत्री के रूप में स्वीकार न किया होता तो वे भी इन्हीं बच्चों के समान भूख और शोषण की क्रूर चक्की में पिस कर जाने किस रूप में बड़ी हुई होतीं।

सामूहिक रूप से आर्थिक प्रश्नों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने का अवकाश दंडक में रहनेवाली निर्धन, अविकसित वानर, ऋक्ष, भील-निषाद इत्यादि जातियों के संदर्भ में आया है जहां अपने शासकों के स्वार्थ के साथ-साथ वे विकसित राज्यों तथा उन्नत जातियों—राक्षसों तथा देवों—दोनों से ही पीड़ित हैं और जाति के रूप में शोषण के पात्र बने हुए हैं।

इस विषय में सृजन-प्रक्रिया के एक अन्य पक्ष की ओर भी संकेत करना चाहूंगा। चिरपरिचित पुराण कथाओं का पुनर्लेखन वस्तुतः लेखक के उस पर रीझने और खीझने की संयुक्त प्रक्रिया से आरंभ होता है। वह उसके सौन्दर्य पर रीझता है और उसके माध्यम से अपनी बात कहने की सुविधा पाता है, किन्तु साथ-ही-साथ उसकी अनेक मान्यताओं से असहमत तथा उसके कथानक,

शिल्प अथवा चरित्रों से असंतुष्ट हो उसके नवसृजन की बात सोचता है और परिणामतः पुरानी भूमि पर, पिछले भवन के मलबे की सहायता से एक नए भवन का निर्माण होता है। यहां हमें इस सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि लेखक यदि उस प्रख्यात कथा के सौन्दर्य पर रीझ कर उससे जुड़े नहीं; तो वह उसके नवसृजन की ओर उन्मुख नहीं होगा।

अपने शैशव में कथा के रूप में सुनी गई तथा पाठ्यक्रम में पढ़ी गई राम-कथा को मैंने भी अपनी इच्छा से फिर कभी नहीं पढ़ा था। किन्तु अपने दो बच्चों की अकाल मृत्यु तथा तीसरे बच्चे की निरंतर रुग्णावस्था के सम्मुख मानव बुद्धि जब हार खा गई तो मैंने भक्तिभाव की दीनता से प्रेरित होकर 'रामचरित-मानस' का दैनिक पाठ आरंभ किया था। मेरा यह क्रम छोटे-मोटे अपवादों के साथ सात वर्षो तक प्रायः निर्विघ्न चला। आरम्भ में मैं बन्द बुद्धि से, भक्ति भाव से प्रार्थना के रूप में केवल पाठ करता था। किन्तु समय के साथ-साथ बच्चा अपने रोग से सघर्ष करता हुआ स्वस्थ होता गया और अपनी घबराहट तथा परेशानी के ह्रास के साथ मेरी भक्ति भी क्षीण होती गई। किन्तु मैं अपने संकल्प तथा अभ्यास के अनुसार अपने दैनिक पाठ का क्रम चलाता चला गया। तब मेरा ध्यान इस ओर भी गया कि मैं क्या पढ़ रहा हूँ। बीच से भक्ति हट गई थी, इसलिए मेरे लिए वह पुस्तक 'साहित्य' हो गई। तुलसी के काव्य पर मन रीझता रहा, किन्तु मेरा उपन्यासकार मन उस कथानक पर, उसके चरित्रों पर, उसके संदेश पर बहुत खीझा। इस टकराहट से उसका एक नया रूप मेरे सामने प्रकट हुआ, जैसे उसका वास्तविक अर्थ कुछ और हो। कदाचित तभी से मेरे मन ने अपनी नई राम-कथा का सृजन आरंभ कर दिया था—जो मेरे वर्तमान की कथा थी, जो मानव की यातना, उसके शोषण तथा शोषण के विरुद्ध संघर्ष की कथा थी।

आज अपने तीन पौराणिक उपन्यास (१) पूरे तथा चौथा (२) तीन-चौथाई लिख लेने के बाद मैं सृजन के आनन्द तथा लेखकीय तुष्टि की भी चर्चा करना चाहूंगा। इस सृजन में लेखक को अपनी परंपरा को आधुनिक संदर्भ देने का जो आनन्द मिलता है वह अन्य प्रकार के लेखन के आनन्द से कुछ भिन्न है। आखिर आधुनिकता केवल नवीनता अथवा समकालीनता का ही तो नाम नहीं है। आधुनिकता तो उस दृष्टिकोण का नाम है, जो प्रत्येक पुरातन मान्यता

१—'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की ओर'

२—'युद्ध'

पर प्रश्नचिह्न लगाती है। इसीलिए आधुनिकता की प्रत्येक लहर के साथ अपने पौराणिक प्रसंगों को साहित्यकारों ने नए संदर्भ तथा नए अर्थ दिए हैं।

सृजनानन्द के साथ-साथ इस प्रसंग में लेखन की सुविधा की चर्चा भी आवश्यक है। यही कारण है कि विभिन्न देश-काल के लेखक विभिन्न पुरा-कथाओं की ओर आकृष्ट हुए हैं। हिन्दी साहित्य में ग्रीक पुराकथाएं प्रवेश पा गई हैं। अभी हमारे लेखक अन्य देशों की पुराकथाओं तक शायद नहीं पहुंचे हैं, अन्यथा उनका प्रभाव भी दिखाई देने लगता। वस्तुतः पुराकथा के माध्यम से लिखने पर एक विशेष घटना के लिए उसकी पूर्व-मान्यता के कारण पाठक को अधिक 'कन्विन्स' नहीं करना पड़ता। और अनेक बार कम ज्ञान के आधार पर भी पुराकथा के सहारे किसी जीवन-विशेष का चित्रण किया जा सकता है। भारत की आदिम जातियों के साथ मेरा परिचय इतना प्रगाढ़ नहीं है कि मैं उन पर उपन्यास लिखने का साहस करता, किन्तु राम-कथा के प्रवाह में उनके विषय में बहुत कुछ कह सका हूं।

पुरा-कथाधृत लेखन मूलतः बंधी कलम का लेखन है। प्रत्येक कृति पर यह बात चाहे लागू न हो, किन्तु अधिकांश के विषय में यही सत्य है। अंग्रेजों के राज्यकाल में जयशंकर प्रसाद मुखर होकर यह नहीं कह सकते थे कि अंग्रेज विदेशी आक्रमणकारी हैं, अतः उनका सशस्त्र विरोध किया जाए ; किन्तु उनके नाटकों का मूल कथ्य पूर्ण उग्रता से अंग्रेजों तथा उनका समर्थन करनेवाले भारतीय लोगों का सशस्त्र विरोध करने का संदेश ध्वनित करता है। किन्हीं परिस्थितियों के कारण लेखक खुले रूप से यदि यह नहीं कह सके कि सत्ताधारी तथा उनके पुत्र क्रूर अत्याचारी राक्षस हो गए हैं, तो प्रख्यात कथा की आड़ उसकी सहायक होती हैं। इंद्र का पुत्र जयंत इसी प्रकार के भ्रष्ट सत्ताधारी का कामुक पुत्र था। उसकी कामुकता का चित्रण सीता के साथ जबर्दस्ती का प्रयत्न तथा राम के द्वारा उसे दंडित करने के लिए उसका अंग-भंग कर देना-उसे काना कर देना इत्यादि चित्रित करने में कोई बाधा नहीं है।

अपनी कुर्सी पर आंच आने की सम्भावना के उठते ही किसी भी शासक का क्रूर हो उठना तथा प्रत्येक संभावित-असंभावित विरोधी को पकड़ कर यातना शिविरों में बन्द कर उसकी हत्या के प्रयत्न तथा वास्तविक हत्याओं का चित्रण खुले रूप से साहित्यकार के लिए संभव नहीं भी हो सकता। किन्तु दशरथ द्वारा विशिष्ट स्थिति की घोषणा तथा एक-एक कर नागरिक अधिकारों का छीन लेना—चित्रित करना संभव है जो मैंने 'अवसर' में किया। ठीक वैसे ही बाली जब मायावी को मार कर वापस किष्किंधा लौटा तो उसने सुग्रीव को शासक के रूप में वहां प्रतिष्ठित देखा। यद्यपि सुग्रीव ने

तुरंत सत्ता वाली को सौंप दी, किन्तु सत्ता छिन जाने की सम्भावना से वाली उसी प्रकार विचलित हुआ होगा, जैसे कोई भी तानाशाह सत्ता छिन जाने के भय से हो उठता है। परिणामतः वाली ने सुग्रीव के साथियों को मार डाला अथवा बंदी बना लिया; सुग्रीव अपने प्राण बचाने के लिए अपनी पत्नी तक को छोड़ कर भाग गया और वाली ने उसकी पत्नी रूपा का अपहरण कर उसे अपने घर में डाल लिया। इस सारी घटना में वाली के अत्याचारों का वर्णन-चित्रण करने में किसी भी देशकाल में लेखक अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र है।

केवल शासन के आतंक के कारण ही नहीं, अनेक बार कुछ अन्य राजनीतिक-सामाजिक कारणों से भी कलम बंध जाती है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक-सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिए हम हिंसा के प्रयोग का प्रश्न ले सकते हैं। सामान्यतः राजनीतिक विरोधियों अथवा समाज शत्रुओं को समाप्त करने के लिए हिंसा के प्रयोग के सिद्धांत को साधारण शांतिप्रिय भीरु भारतीय स्वीकार नहीं करेगा। यहां तो अंग्रेजों के राज्यकाल में, अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष करनेवाले क्रांतिकारियों तक को गांधी जी का समर्थन नहीं मिला। किंतु कृष्ण द्वारा शत्रुओं का वध करने के दृश्यों के वर्णन को सभी पाठक सहर्ष स्वीकार करेंगे। राम तथा लक्ष्मण को अपना धनुष-वाण उठाये वन में विचरण करते तथा स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रकार के आततायी-अत्याचारियों का वध करते हुए दिखाने में किसी धर्म-भीरु अहिंसक वैष्णव को भी आपत्ति नहीं होगी। चित्रकूट से चल कर पंचवटी तक पहुँचने के बीच में राम ने दस वर्षों तक दण्डक वन में घूम-घूम कर राक्षसों का हनन किया। वाल्मीकि ने शरभंग के आश्रम में ठहरे हुए राम को मुनियों द्वारा पीड़ितों की हड्डियों का ढेर दिखाए जाने का चित्रण कर, राम को यह अधिकार दिया कि वे अत्याचारियों का वध ग्लानिविहीन मन से करें। उस स्थल पर हिंसा-विरोधियों का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए, वाल्मीकि ने सीता से राम की प्रतिज्ञा का विरोध भी करवाया है—राम सीता के तर्कों का खंडन करते हैं, शंकाओं का समाधान करते हैं और जीवन के कलुष को धोने के लिए हिंसा के प्रयोग का प्रबल प्रतिपादन करते हैं। इस स्थल पर आज के किसी भी लेखक के लिए पर्याप्त अवकाश है कि वह अपनी उर्वर, किन्तु संयत कल्पना द्वारा इन दस वर्षों में, अपने काल के अनुरूप राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्र के राक्षसों का राम के हाथों एक-एक कर वध करवाए। राम-कथा द्वारा अनुकूलित पाठक का मन इस हिंसा को न केवल स्वीकार करेगा, वरन् उससे उल्लसित होकर उसका समर्थन करेगा; और कदाचित् जीवन में भी ग्रहण करने की बात सोचे।

सामाजिक क्षेत्र में बावजूद अपनी आधुनिकता, प्रगतिशीलता तथा बौद्धिकता के हमारा सामान्य जन पत्नी द्वारा पति, पुत्र द्वारा पिता, गुरु तथा अन्य सम्मानित जन का विरोध बहुत प्रसन्नता से स्वीकार नहीं करता, चाहे वह पति, पिता तथा गुरु अनाचारी, दुराचारी, व्यभिचारी तथा अत्याचारी ही क्यों न हो। किन्तु परम्परागत राम-कथा में लक्ष्मण दशरथ तथा परशुराम के दोषों, सीमाओं तथा दुर्बलताओं का उग्र विरोध करते हैं। कुछ ऐसे ही और चरित्र भी हैं, जिनका सामाजिक न्याय के लिए सम्बन्धों की इन रूढ़ियों के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है। मैंने अंगद, तारा तथा मन्दोदरी का इसी प्रकार प्रयोग किया है। अंगद तथा तारा दोनों ही वाली के हत्यारे राम तथा हत्या करवानेवाले सुग्रीव के अनुकूल हैं। स्पष्टतः वे लोग वाली की कामुकता, क्रूरता तथा मूढ़ता से प्रसन्न नहीं थे। वे वाली के दोषों का विरोध खुल कर कर सकते हैं और पाठक का मन उसके विरुद्ध नहीं उठेगा। ठीक वैसे ही मन्दोदरी द्वारा रावण की मृत्यु के पश्चात् विभीषण का वरण करना रावण की क्रूर व्यभिचारिता के विरोध के रूप में देखा जा सकता है, और मैंने उसे उसी रूप में स्वीकार किया है। पीढ़ियों के संघर्ष के साथ-साथ नारी की स्वतन्त्रता के प्रश्न को इन प्रसंगों के माध्यम से पाठक के मन में दूर तक धंसाया जा सकता है।

संसार में हो रहे वैज्ञानिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों से अधिकतम लाभान्वित होने के लिए भी आवश्यक है कि हमारे समाज में वैचारिक स्तर पर भी क्रान्ति हो। उसके लिए आवश्यक है कि उन स्रोतों का भी आधुनिकीकरण किया जाए, जिनसे हमारा समाज अपने चिन्तन, व्यवहार, आदर्श तथा जीवन पद्धति के समर्थन प्राप्त करता है। मेरा संकेत उन पुरा-कथाओं की ओर है, जिन्हें हमारा समाज धार्मिक प्रमाणपत्र मान कर चलता है। वैज्ञानिक स्तर पर समाज अंतरिक्ष युग में प्रवेश कर जाए और दूसरी ओर वह पूरी ईमानदारी से विश्वास करता रहे कि जब विन्ध्याचल ऊंचा उठ रहा था तो अगस्त्य के कहने पर उसने अपना बढ़ना रोक दिया था और वह आज भी अगस्त्य की वापसी की प्रतीक्षा में अपना ऊंचा उठना स्थगित किए हुए है; वह अब भी यही मानता चला जाए कि गौतम के शाप से अहल्या पत्थर हो गई थी और राम के चरणों की धूल के स्पर्श से पुनः नारी बन गई; जनसंख्या की अबाध-असन्तुलित वृद्धि को रोकने के लिए प्रत्येक सोचने-समझनेवाला व्यक्ति व्याकुल हो रहा हो और दूसरी ओर समाज के सम्मुख राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के बाल-विवाह का आदर्श हो तो समाज के चिन्तन और व्यवहार में संगति कैसे बैठेगी? निश्चित रूप से तर्कसंगत रूप से उन्हें

समझाना होगा कि विन्ध्याचल के ऊपर उठने का अर्थ पर्वत का ऊँचा उठना नहीं, विन्ध्याचल के उत्तर और दक्षिण में बसे हुए लोगों के बीच विरोध के विन्ध्याचल का ऊँचा उठना है और उसे रोकने का श्रेय अगस्त्य को है। अहल्या वस्तुतः शिला नहीं, जीवन के कष्टों से अकेली जूझती-जूझती शिलावत् हो गई थी; और राम उन्हें वापस सामान्य जीवन की ओर लौटा लाए थे। इस समाज को यह भी बताना होगा कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम पचीस वर्ष की अवस्था से पूर्व गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के आर्य ऋषियों के निषेध का उल्लंघन नहीं कर सकते थे।

प्रख्यात कथाधृत कृति-लेखन के साथ कुछ विकट कठिनाइयाँ भी जुड़ी हैं। मैं जिसे कठिनाई कह रहा हूँ, अनेक लोगों ने उसे 'निरर्थकता' अथवा अनौचित्य की संज्ञा भी दी है। मैं राम-कथा को उपन्यास रूप में लिख रहा हूँ, यह सुन कर एक मित्र ने वक्रता से मुस्कुराते हुए कहा था, 'उपन्यास का कथानक तर्काश्रित होता है, इसे याद रखना।' एक अन्य मित्र ने कहा था, 'तो तुम आर्य-द्रविड़ घृणा को उभारोगे।' और तीसरे ने कहा था, 'सामन्ती नैतिकता स्थापित करने का अच्छा प्रयत्न है।'

वस्तुतः पुराकथाओं के प्रति अनेक लोगों की वितृष्णता के कारण हम तीन तथा इसी प्रकार की कुछ अन्य प्रतिक्रियाओं में अभिव्यक्त होते हैं। कुछ पुराकथाएं तो इतनी जटिल तथा असंगत कथाओं से भरी पड़ी हैं कि उन्हीं के कारण कुछ लोगों की यह धारणा ही बन गई है कि पुराकथाओं में समझदारी की किसी बात की संभावना ही नहीं है। कदाचित् इसीलिए मेरे मित्र ने चेतावनी दी थी कि उपन्यास का कथानक तर्काश्रित होता है। दूसरी ओर, पुराकथाएं अपने रचना-काल के चिंतन तथा अपनी समकालीन नैतिकता का वहन करती हैं। अतः अनेक लोग उन कथाओं को न केवल पसंद नहीं करते, वरन् उसे एक प्रकार का शत्रु साहित्य मानते हैं। इसीलिए मेरे उस मित्र ने कहा था कि मेरी रचनाए सामंती नैतिकता को स्थापित करने का अच्छा प्रयत्न हैं। एक अन्य कारण से भी कुछ पाठक पुराकथाओं अथवा उन पर आधृत साहित्य से तादात्म्य नहीं कर पाते, क्योंकि संदर्भ का पूर्व ज्ञान न होने के कारण वे उस साहित्य का आस्वादन नहीं कर पाते। इस क्षेत्र संबंधी उनका अपना अज्ञान उनकी सबसे बड़ी बाध्यता है। यहां हमें प्रचलित तथा अप्रचलित पुराकथाओं का भेद कर लेना चाहिए। अप्रचलित पुराकथाएं सामान्य पाठक के लिए फैंटेसी का-सा प्रभाव रखती हैं—फैंटेसी भी ऐसी, जिनका पूर्व ज्ञान पाठक के लिए आवश्यक है। अतः वे तादात्म्य के लिए अतिरिक्त बोझ अथवा

विघ्न हैं; जबकि प्रचलित पुराकथा पाठक का जाना-पहचाना क्षेत्र होने के कारण अतिरिक्त आकर्षण है।

मेरे मन ने भी स्वीकार किया कि जो कथा सामंती विचारधारा में पूरी तरह ढाली जा चुकी है, उसे लिखते हुए सतर्कता में तनिक भी चूक हुई तो सामंतीनैतिकता के समर्थन का भयंकर अपराध हो जाएगा। ऐतिहासिक कृतियों के लेखन में कदाचित् यह कठिनाई अधिक है। उसमें कथानक संबंधी प्रमाण पर अधिक बल होने के कारण घटनाओं के परिवर्तन के लिए तो अवकाश होता ही नहीं—चरित्रों को भी कदाचित् अधिक तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता; किन्तु पौराणिक आख्यान अपने आत्मविरोधी तत्वों, अस्पष्टता तथा शिथिलता के कारण कच्चे माल—ईंट-गारे के समान हैं, जिनका प्रयोग लेखक अपनी इच्छानुसार कर सकता है। राम-कथा के विभिन्न रूपों के तुलनात्मक विश्लेषण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उसमें लेखक की अपनी नैतिकता, अपनी विचारधारा स्थापित कर पाने की संभावना किस मात्रा तक विद्यमान है। कथा की ओर से मुझे कोई दुश्चिंता नहीं थी; हां, मेरी अपनी समझ में ही कहीं कोई कमी, अस्पष्टता अथवा आत्मविरोध हो तो उससे हानि हो सकती है।

जातीय विरोध फैलाने का अपराध और भी भयंकर है। उस पर भी मुझे सोचना पड़ा। किन्तु राम-कथा को लेकर आर्य-द्रविड़ विरोध की बात मेरी समझ में कभी नहीं आई। परंपरागत राम-कथा में भी रावण आर्य देवता ब्रह्मा का प्रपौत्र है, यक्ष कुबेर का भाई है, फिर उसे द्रविड़ कैसे माना जाए? फिर अनेक राक्षसों के अपने वक्तव्य के अनुसार भी पहले कोई यक्ष था, कोई गंधर्व, कोई कुछ और। राक्षस एक जाति नहीं, एक विचारधारा के आस-पास जुट आया आततायी लोगों का एक दल ही दिखाई पड़ता है। राम-कथा में यदि द्रविड़ किसी को माना जा सकता है तो वह वे वानर-ऋक्ष जातियां ही हो सकती हैं, जो राम के नेतृत्व में रावण के विरुद्ध लड़ीं। अगस्त्य रावण तथा अन्य राक्षसों के विरुद्ध लड़ रहे थे, जिन्होंने विंध्याचल के उत्तर और दक्षिण के लोगों में मेल कराया था और तमिल का व्याकरण लिखा था। तो फिर राम और रावण का युद्ध आर्य और द्रविड़ लोगों का युद्ध कैसे हो सकता है?

मुझे लगता है कि इस संदर्भ में हमारा चिंतक वर्ग पुराकथाओं से कुछ अधिक ही भयभीत है और व्यर्थ ही उसे अपना शत्रु माने बैठा है। ये पुराकथाएं बहुत ही पालतू चीज हैं। इन्हें मित्र बनाने की आवश्यकता है। 'शंबूक-वध' का प्रसंग लेकर वर्ण-भेद की समस्या पर सबसे तीखे प्रहार हुए हैं और हो सकते हैं। सीता-त्याग के आधार पर स्त्री-पुरुष संबंधों तथा समाज में

स्त्री की स्थिति तथा स्त्री के सतीत्व आदि के प्रश्नों पर अपने मत को प्रस्तुत करने का अच्छा अवकाश है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रसंग हैं, जो कुप्रथाओं तथा पुरानी समयातीत मान्यताओं पर प्रहार करने के लिए सुविधाजनक मंच प्रस्तुत करते हैं।

और फिर उपन्यास के कथानक के तर्कसंगत होने की बात तो थी ही। उसी लक्ष्य से तो यह विधा चुनी थी कि इस कथा की असंगतियों को यथाशक्ति दूर कर उसे कुछ तर्कसंगत औपन्यासिक रूप दिया जा सके। किन्तु एक कठिनाई जिसकी ओर मित्रों ने ध्यान नहीं दिलाया था, स्वयं उभर कर मेरे सामने आ खड़ी हुई—वह रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रख्यात कथा में भी मौलिक हो पाने की समस्या थी। प्रख्यात कथा में मौलिक होने का अर्थ हुआ कि आप नया कुछ भी न कहें और फिर भी जो कुछ कहें, वह नया हो। लिखने की प्रक्रिया के बीच में ही मैंने अनुभव किया कि प्रख्यात कथा में भी मौलिकता के अनेक आयाम हैं। घटनाओं को बदलना संभव नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि राम वन नहीं गए थे, अथवा अहल्या के साथ इंद्र ने बलात्कार नहीं किया था, अथवा कैकेयी वय में दशरथ के ही समान थी। किन्तु ये मोटी रेखाएं हैं—यह फ्रेम-वर्क है। इसमें महीन रेखाएं भरना लेखक का काम है। इस रूप में मेरे सर्जक मन ने 'दीक्षा' में आए अहल्या-प्रसंग की कल्पना की। गौतम के आश्रम में उत्सव था। उसमें अनेक ज्ञानी ऋषि, मुनि, पंडित आमंत्रित थे। देवराज के रूप में इन्द्र भी उपस्थित था। किन्तु देवराज ज्ञान के लिए नहीं, ऋषि-पत्नी के सौन्दर्य से आकर्षित होकर आया था। वह अहल्या के साथ बलात्कार करता है और भाग जाता है। गौतम अहल्या का पक्ष लेकर इन्द्र का विरोध करना चाहते हैं। किन्तु कोई उनका साथ नहीं देता। एक-एक कर सब लोग चले जाते हैं और गौतम तथा अहल्या अपने पुत्र शतानन्द के साथ अकेले रह जाते हैं। गौतम के मित्र प्रयत्न कर सीरध्वज जनक की सहायता से एक नए आश्रम की स्थापना कर गौतम को कुलपति के रूप में बुलाते हैं। भ्रष्ट अहल्या वहां स्वीकृत नहीं हो सकती, अतः अहल्या अपने पति तथा पुत्र के भविष्य के लिए, साथ-ही-साथ इंद्र से प्रतिशोध लेने के लिए स्वयं अकेली पुराने आश्रम में रह जाती है। गौतम सीरध्वज जनक का आश्रय पाकर कुलपति बन इंद्र की पूजा का निषेध कर देते हैं और शतानन्द अध्ययन कर सीरध्वज का राजपुरोहित बनता है। इन दोनों के लिए तपती है अहल्या—तब तक, जब तक स्वयं राम आकर उसे सामाजिक मान्यता नहीं दिला देते।

इसी प्रकार कैकेयी और दशरथ के सम्बन्धों में पर्याप्त अवकाश है। बलात् ब्याही गई कैकेयी दशरथ के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए राम और

कौसल्या से अपनी शत्रुता निभाती है । बालक राम को अपनी दासी से पिट-
वाती है तथा अन्य प्रकार से भी माता तथा पुत्र को पीड़ित करने का प्रयत्न
करती है । दशरथ के अपने प्रति अविश्वास को पहचान उसके कारण रोज होने-
वाले पति-पत्नी के झगड़ों के दूषित प्रभाव से भरत को बचाने के लिए उसे
ननिहाल भेजे रखती है । इसी प्रकार अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, किंतु
बात लम्बी हो जाएगी ।

मौलिकता के सम्बंध में घटनाओं वाली बात चरित्रों पर भी लागू होती
है । प्रसिद्ध चरित्रों के मूलभूत गुणों को नहीं बदला जा सकता । राम को
कायर और लक्ष्मण को धीर-प्रशांत नहीं दिखाया जा सकता । किन्तु प्रसिद्ध
चरित्रों के इन्हीं गुणों का प्रयोग अपने ढंग से किया जा सकता है । अपने उपन्यास
में अनेक स्थानों पर वृद्धों की जड़ता का उपहास करने का काम मैंने लक्ष्मण से
लिया है । युद्ध में उग्रता के साथ लक्ष्मण ही आगे रखे जा सकते हैं । दूसरी
ओर जिन चरित्रों की रेखाएं बहुत गाढ़ी नहीं हैं उनके निर्माण में सर्जक मन
बहुत स्वतंत्रता लेता है । उदाहरण के लिए निषादराज गुह, सुग्रीव की पत्नी
रूमा, वाली की पत्नी तारा, रावण की पत्नी मंदोदरी, अंगद, स्वयं सुग्रीव, नल,
नील, विभीषण तथा ऐसे ही अनेक अन्य पात्र लिए जा सकते हैं जिन्हें लेखक
पूरी तरह से अपने तौर पर गढ़ सकता है ।

किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण है लेखक का अपना दृष्टिकोण जिससे वह स्वयं
को मौलिक प्रमाणित करता है । अपने दृष्टिकोण के आधार पर ही वह निष्कर्ष
निकालता है । अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं आपके सामने महाभारत
के प्रसिद्ध पात्र कर्ण का उदाहरण रखना चाहूंगा । दिनकर के 'रश्मिरथी' के
कर्ण को लें या शिवाजी सावंत के उपन्यास 'मृत्युंजय' के कर्ण को—उसका
उदार, वीर, दानी, उपेक्षित, जातिवाद का शिकार तथा अन्य अनेक प्रकार से
पीड़ित रूप उभर कर सामने आता है । इन कृतियों के कर्ण से अत्यधिक सहा-
नुभूति तथा उसके विरोधियों से घृणा होने लगती है । किन्तु १९७७ में
देश में हुए लोकसभा के चुनाव को मेरा मन महाभारत के युद्ध के साथ जोड़ता
है तो कर्ण की कथा में से अनेक नए निष्कर्ष निकलते दिखाई पड़ते हैं । मुझे कुछ
लोग ऐसे मिले थे—संभव है कि आपको भी मिले हों—जो यह मानते थे कि इस
चुनाव में कांग्रेस को तो हारना ही चाहिए था, किन्तु फिर भी कुछ अच्छे
कांग्रेसियों के हारने का उनको दुख था । वे क्यों हारे ? यदि यह प्रश्न व्यास
से पूछा जाए तो वे कर्ण और भीष्म की ओर संकेत कर देंगे । बात बड़ी स्पष्ट
है, व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त उत्कृष्ट मानव होने पर भी सामाजिक और राज-
नीतिक न्यायान्याय के युद्ध में यदि हम अन्यायी, अत्याचारी, दमनकारी और

शोषक का पक्ष लेते हैं तो न्यायान्याय के युद्ध में हमारा परिणाम भी वही होगा जो भीष्म, कर्ण या तथाकथित अच्छे कांग्रेसियों का हुआ। व्यक्ति-गुण अन्याय के समर्थक को बचा नहीं सकते। अच्छा व्यक्ति होना ही पर्याप्त नहीं है, न्याय का पक्षधर होना भी आवश्यक है। यहां दृष्टिभेद से ही निष्कर्ष बदल जाता है और कथा की ध्वनि कुछ और हो जाती है।

मैं मौलिक होने के लिए नई उद्भावनाओं अथवा प्रख्यात कथा में परिवर्तन के लेखकीय अधिकार के प्रश्न की चर्चा करना चाहूंगा। जयपुर में 'दीक्षा' पर हुई एक गोष्ठी में मुझसे एक प्रश्न पूछा गया था कि उस उपन्यास में स्थापित अपनी मान्यताओं के लिए मेरे पास कोई प्रमाण है? वस्तुतः यह मौलिक बन पाने के अधिकार का ही प्रश्न है। मेरा उत्तर था कि यदि मुझसे पूर्व किसी ने वैसी कल्पना कर ली तो वह प्रमाण हो गया और कल्पना मैंने की तो वह अप्रमाणित रह जाएगी? फिर भी मैं अनुभव करता हूं कि कोई आधार कहीं मिल जाए तो अच्छा ही है। यह आधार दो रूपों में मिलता है—एक संकेत तथा दूसरा तर्काश्रित अनुमान।

पहले हम संकेत की बात लें। राम-कथा में इंद्र की चर्चा पहले अहल्या प्रसंग में है, फिर उसका पुत्र कामुक जयंत आता है, तीसरी बार वह शरभंग तथा सुतीक्ष्ण के आश्रमों में दिखाई पड़ता है, जहां राम के आने से पहले ही वह भाग जाता है। पहली तथा दूसरी घटना में पिता-पुत्र के चरित्रों के मिलान से इंद्र का कामुक और विलासी रूप स्पष्ट हो जाता है, किन्तु शरभंग और सुतीक्ष्ण के आश्रमों में इंद्र के वर्तमान होते हुए भी ऋषियों-मुनियों को खाकर राक्षस उनकी हड्डियों का ढेर लगा दें और मुनि अपनी रक्षा की प्रार्थना राम से करें—इन तथ्यों को देख कर मेरा मन खटक गया। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि इंद्र मुनियों से पूजा तो चाहता था, किन्तु उनकी रक्षा नहीं करता था या कर नहीं पाता था? क्या इसका अर्थ है कि इंद्र भी तपस्वियों तथा सामान्य वनवासियों के उत्पीड़न में किसी-न-किसी रूप में सहायक था? सर्जक मन इस निष्कर्ष पर पहुंच गया था कि इंद्र भी उत्पीड़क था, किन्तु आलोचक मन इतनी जल्दी ऐसी परंपरा विरोधी स्थापना कैसे मान ले? उसे तो कोई-न-कोई प्रमाण चाहिए था। सर्जक मन अपनी बात पर तो टिका रहा, किन्तु तर्क खोजता रहा। उसी खोज में तमिल के महाकवि कंबन की रामायण में मुझे एक वाक्य मिला। शरभंग के आश्रम के आगे राक्षसों द्वारा खाए जा चुके मुनियों की हड्डियों का ढेर दिखाते हुए मुनि-समूह राम से कहता है, 'अब इंद्र भी राक्षसों को प्रसन्न करने के लिए उनकी इच्छानुसार चलता है।' यह संकेत सर्जक मन के लिए पर्याप्त था।

अनेक अन्य स्थानों पर संकेत से नहीं, तर्काश्रित अनुमान से काम लेना पड़ता है। यदि एक बार हम मान लें कि कैकेयी अवस्था में दशरथ से बहुत छोटी थी तो अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि यह विवाह कैकेयी की इच्छा से नहीं हुआ होगा। यह अवश्य ही राजनीतिक विवाह होगा, अत. कैकेयी ने उन सब लोगों से घृणा की होगी, जिनसे दशरथ को प्रेम था। अयोध्या के राजमहलों में कैकेयी के मायकेवालों का हस्तक्षेप रहा होगा। वहां कौशल्या और सुमित्रा के मायकेवालों की उपेक्षा होती रही होगी। इसी प्रकार चारों भाइयों का परस्पर व्यवहार देख कर यह कहा जा सकता है कि राम अपने तीनों भाइयों से बड़े थे। राम के वन-गमन के समय तक उनके तीनों भाई अविवाहित थे। दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ अपने अनेक विवाहों पर पर्दा डालने का झूठा प्रचार था। जिस संशय, आशंका तथा राजनीतिक प्रतिहिंसा के वातावरण में राम को वन जाना पड़ा था, उसमें वे यह देखे बिना वन जा ही नहीं सकते कि भरत का रुख क्या होगा? अतः चित्रकूट में रुक कर भरत की नीति तथा व्यवहार का प्रमाण पाए बिना वे आगे नहीं बढ़े। जिन भयंकर परिस्थितियों में उनलोगों ने वन में चौदह वर्ष बिताए, उनमें साथ देनेवाली सीता कोमलांगी, भीरु तथा निःशस्त्र नहीं रही होगी। राम ने सीता को शस्त्र-शिक्षा अवश्य ही होगी और आवश्यकता होने पर उन्होंने भी आत्मरक्षा के युद्धों में भाग लिया होगा। और समग्रतः रावण के वध के लिए किया गया यह युद्ध रावण की पूंजीवादी-साम्राज्यवादी आततायी-शक्ति के विरुद्ध वानर-ऋक्ष जैसी पिछड़ी हुई जातियों का युद्ध था, जिसमें राम-लक्ष्मण ने सैनिक नेतृत्व प्रदान किया था और जिसकी प्रेरणा वनवासी बुद्धिजीवियों ने दी थी। यह रामकथा पर अपने समय को आरोपित करना नहीं है, उसके भीतर की छिपी सभावनाओं को पहचान कर अपने युग की यथार्थ कथा कहने का विनम्र प्रयास है, और जो पुरा-कथाओं की अस्पष्टता, अनेकरूपता तथा शिथिलता के कारण ही संभव हो पाता है और पाठकों के मन में संस्कार रूप में बद्धमूल कथा के कारण सहज ही स्वीकृति पाता है।

डा० रामप्रीत उपाध्याय

निराला के काव्य में मिथकीय योजना

आज मिथक आधुनिक आलोचना का एक अनिवार्य अंग बन गया है। समीक्षा के क्षेत्र में इसका प्रयोग पिछले दो-तीन दशकों से बड़े धड़ल्ले के साथ किया जा रहा है। यों तो इसकी उत्पत्ति यूरोप और अमेरिका में हुई है, पर इसका प्रचलन भारत में भी हो गया है और भारतीय समीक्षक भी इसे कृतियों के मूल्यांकन में एक मापदन्ड मानने लग गये हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह कतई नहीं है कि प्राचीन भारत में इसका प्रयोग नहीं होता था। इसका प्रयोग भारतीय वाङ्मय में होता था, पर उसके नाम और रूप दूसरे थे। वे हमारे यहाँ उपमा, रूपक, अन्योक्ति और अन्य विभावन व्यापारों के अंदर परिगणित होते थे। आजकल मिथक नाम भारतीय आलोचनाशास्त्र में भी शामिल कर लिया गया है। अतः इसमें रूप और स्वरूप पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'मिथक' अंग्रेजी के मिथ शब्द का हिन्दी पर्याय है और अंग्रेजी का 'मिथ' शब्द यूनानी भाषा के 'माइथास' शब्द से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ हैं 'आप्तवचन अथवा अतर्क्य कथन'। सुप्रसिद्ध चिंतक आरस्तू ने कथा विधान (फेबिल) के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। हिन्दी समीक्षा में मिथ के लिए कल्पकथा, पुराकथा, ऋत आदि का प्रयोग होता रहा है। किन्तु अब इसके लिए मिथक ही रूढ़ हो गया है। यह शब्द आचार्य हजारी प्रसाद की देन है। इसे वे मिथुनीभूत मनुष्य के भावों का बिम्ब मानते हैं। उनका यह अर्थ मिथक की मूल भावनाओं को पूर्ण रूपेण उजागर करता है। मिथ

के साथ ही 'माइथोलाजी' का नाम लिया जाता है और कुछ समीक्षक भ्रमवश दोनों को एक मान लेते हैं। पर वस्तुतः दोनों में अन्तर है। मिथक का अस्तित्व बहुत पुराना है और 'माइथोलाजी' परवर्ती काल की देन है।

पाश्चात्य चिंतकों एवं समीक्षकों ने इसे विभिन्न प्रकार से परिभाषित करने की चेष्टा की है। मार्क शोरर का कथन है कि मिथक एक वृहद नियन्त्रक बिम्ब है जो सामान्य जीवन के तथ्यों को दार्शनिक अर्थ प्रदान करता है। किन्तु कैसिरेर का मत इससे कुछ अलग है। वह कहता है कि मिथक बन्धन और मुक्ति के उस द्वन्द्व की दिशा में पहला कदम है जिसका अनुभव मानव आत्मा स्वनिर्मित बिम्ब सृष्टियों के संदर्भ में करती है। किन्तु डा० फ्रेजर इसे यथार्थ और सत्य के निकट पाते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि मिथक कोई वाष्पमय, अमूर्त अथवा अवास्तविक कल्पना नहीं है। वह सत्य का प्रज्वलित रूप है। तात्पर्य यह कि पश्चिमी विद्वानों ने इसके रूप और स्वरूप के बारे में विविध प्रकार के मत-मतान्तर प्रगट किए हैं। किन्तु इन सबकी मान्य धारणा यह अवश्य है कि मिथक अवचेतन मन की देन होते हुए भी समष्टि मन की उर्जस्वित प्रक्रिया है। इसमें आशा-निराशा, हर्ष-दुख, भय, कुंठा आदि मनोविकारों को जाग्रत करने की अद्भुत क्षमता है। यह अवचेतन मन का सचेतन व्यापार है यह मानव और प्रकृति का मिश्रित व्यापार है। यह सम्पूर्ण मानव के समग्र अनुभवों की अभिव्यक्ति है। यह मानवीय ज्ञानकोष का प्रतीकात्मक आलेख है। नीत्शे के शब्दों में यह असीम की ओर उठती हुई सार्वभौम भावना और सत्य का विलक्षण रूप है। डा० नगेन्द्र ने इसका समाहार करते हुए लिखा है कि सामान्य रूप में मिथक का अर्थ है—ऐसी परम्परागत कथा जिसका सम्बन्ध अतिप्राकृतिक घटनाओं और भावों से होता है। मिथक मूलतः आदिम मानव के समष्टि मन की सृष्टि है जिसमें चेतन की अपेक्षा अचेतन प्रक्रिया का प्राधान्य रहता है। मिथक की रचना उस समय हुई जब मानव और प्रकृति के बीच की विभाजक रेखाएँ स्पष्ट नहीं थीं, दोनों एक सार्वभौम जीवन में सहभागी थे। वे परस्पर सहयोग एवं संघर्ष के सूत्रों में बंधे हुए थे और चेतन मानव का मन अज्ञात रूप से प्रकृति की घटनाओं को अपने जीवन की घटनाओं तथा अनुभवों के माध्यम से समझने का प्रयास करता था। समष्टि मन द्वारा प्रकृति के तत्वों और घटनाओं के मानवीकरण की यह अचेतन प्रक्रिया ही मिथक रचना का मूल है। सारांश रूप में यह कहा जा सकता हैं कि मिथक सार्वभौम कल्पना है। वह आदिम मानव की सामूहिक अनुभूतियों का शब्दमूर्त रूप है। जिसमें मानव और प्रकृति की सत्ता की अभेद चेतना निहित रहती है। मिथक अतिप्राकृतिक घटनाओं का मानवीकरण एवं अध्यात्मीकरण है। ये घटनाएँ

अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय होते हुए भी मानव जीवन के लिए आवश्यक और प्रासंगिक होती हैं। वे मानवीय मूल्यों से आपूरित होती हैं। उनमें लोकमंगल की भावना भी निहित होती है। उदाहरण के लिए हनुमान द्वारा समुद्र लंघन की अतिमानवीय घटना को लिया जा सकता है। यह घटना अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय होते हुए भी मांगलिक है। स्वामी के मंगल एवं कार्य के लिए सेवक का यह कार्य सराहनीय है। इससे उसके सेवकत्व की भावना पुष्ट होती है। इसमें उसकी भक्ति और आस्था की असीम भावना निहित है। वह वीरत्व का प्रतीक भी बन जाता है। मिथक में कल्पना का अनिवार्य योगदान रहता है। फिर भी वह सत्य प्रतिभासित होता है और मानवीय मूल्यों का सृजन करता है।

मिथक का सम्बन्ध विभिन्न विधाओं के साथ है। वह देवविद्या, मनोविज्ञान, नृविज्ञान, भाषाविज्ञान, धर्म और दर्शन के साथ घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है। इसकी व्यापकता असीम है। मिथक की इस व्यापकता को मुख्य रूप से चार भागों में बाँटा जा सकता है—(क) सृष्टि सम्बन्धी मिथक, (ख) प्रलय सम्बन्धी मिथक, (ग) देवताओं के पूजा-आचार सम्बन्धी मिथक और (घ) प्रकृति सम्बन्धी मिथक। इस प्रकार के मिथक सभी प्राचीन जातियों के वाङ्मय में मिलते हैं। प्रत्येक देश के सांस्कृतिक इतिहास में सृष्टि सम्बन्धी पुराख्यान होते हैं जो सृष्टि की संरचना पर प्रकाश डालते हैं। प्रलय सम्बंन्धी मिथकों में प्रलय की कहानी रहती है। देव मिथकों में उनके प्रेमाचार की कहानी रहती है तथा प्रकृति सम्बन्धी मिथकों में नदी, पहाड़, नगर आदि से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ रहती हैं। जैसे भारतवर्ष में गंगा, हिमालय, काशी आदि के बारे में अनेक पौराणिक कथाएँ हैं जो मिथकत्व से पूर्ण हैं।

इन मिथकों को सर्जन प्रक्रिया के अनुसार दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) मौलिक मिथक (२) आनुषंगिक मिथक। मौलिक मिथक के अन्तर्गत आद्यबिम्ब-रूप मिथक आते हैं—जैसे पुराणों में वर्णित कामदहन की कथा और समुद्र मन्थन की कथा आदि। आनुषंगिक मिथक के अन्तर्गत वे मिथक आते हैं, जिनकी रचना परवर्ती काल के कवियों की कारयित्री प्रतिभा द्वारा हुई है। कालिदास ने कुमारसम्भव में कामदहन की जो कथा चित्रित की है, उसे हम इस कोटि में ले सकते हैं। परवर्ती कवियों ने अपनी रुचि, संदर्भ एवं उद्देश्य के अनुसार आनुषंगिक मिथकों की रचना की है। इनकी यह रचना निश्चित रूप से स्पष्ट, सोद्देश्य एवं मोहक हुई है। छायावादी कवियों ने अधिकांशतः आनुषंगिक मिथकों की ही रचना की है जिनमें कल्पना की प्रधानता है।

मिथक के समानधर्मी कथा रूपों में अनुश्रुति (दन्त कथा), लोककथा, पुराख्यान, अन्योक्ति रूपक और स्वप्न कथा का भी नाम लिया जाता है। परन्तु मिथक में और उन रूपों में कुछ समानता है, तो कुछ भिन्नता है जिस पर विचार कर लेना अपेक्षित एवं समीचीन है। दन्त कथाओं में जातीय इतिहास का कुछ न कुछ अंश विद्यमान रहता है और इनमें कथा रूढ़ियाँ प्रायः वर्तमान रहती हैं। किन्तु मिथक में तथ्य और कल्पना का सुन्दर सामंजस्य रहता है। पुराख्यान में जातीय वीरों का कल्पनामय और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन रहता है और इस तरह यह मिथक से कुछ भिन्न होता है। लोककथा के पात्र वीर होते हुए भी मानवीय होते हैं और उन्हें अतिमानवीय पात्रों से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में वे कभी विजयी बनते हैं तो कभी हारते हैं, लेकिन मिथक के पात्र दैवी और अतिमानवीय होते है। इनका कार्य क्षेत्र भी विशाल होता है। वे कभी-कभी देश और काल की सीमा से परे होते है। मिथक कथा में धर्म का भी योगदान रहता है। किन्तु लोककथा में शुद्ध कल्पना का योग रहता रहता है। हाँ, यह और बात है कि उसमें सत्यभास भी होता है और उसका नायक अन्त में देवरूप सिद्ध होता है और तभी उसका अमरत्व निखर पाता है। लेकिन लोककथा का अन्त सुखांत होता है, क्योंकि इसका मूल उद्देश्य मनोरञ्जन होता है। तात्पर्य यह कि दन्तकथा, लोककथा और पुराख्यान मिथक का रूप ग्रहण नहीं कर पाते, केवल उसका आभास भर देते हैं।

जहाँ तक अन्योक्ति रूपक का सम्बन्ध है, इसमें प्रस्तुत अर्थ पर अप्रस्तुत अर्थ का अभेद आरोपण होता है। इसका प्रस्तुत ऐहिक कथा-रूप को रेखांकित करता है और अप्रस्तुत अर्थ सिद्धान्त की संरचना अथवा पुष्टि करता है। भारत में यह परम्परा चिरकाल से है। वैदिक एवं पौराणिक कथा-रूपों का हमारे यहाँ विश्लेषण तो होता ही है, साथ ही इसके प्रतीकात्मक अर्थ का भी निरूपण होता है। अतः यह मिथक से भिन्न वस्तु है, यद्यपि यह भिन्नता बड़ी सूक्ष्म है। मिथक और स्वप्न कथा में रूपविधान की दृष्टि से एक प्रकार की समानता अवश्य रहती है, परन्तु दोनों में काफी मौलिक भेद है। मिथक जहाँ सामूहिक अवचेतन की सृष्टि है, वहाँ स्वप्नकथा वैयक्तिक अवचेतन या अचेतन की अभिव्यक्ति है। फलतः मिथक लोकमानस में सहज प्रतीति उत्पन्न करती है जबकि स्वप्नकथा के कलात्मक रूप का तिरोभाव कभी नहीं होता और उसके द्वारा अभिव्यक्त अर्थ तर्क एवं विवेचन का विषय बना रहता है। मिथक और स्वप्न कथा में यही मौलिक अन्तर है।

इसी क्रम में मिथक के प्रयोजन पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है। मिथक यों तो धर्म-साहित्य, दर्शन एवं कला से चिरकाल से जुड़ा हुआ है, पर प्रत्येक नए युग में देश और कारण के संदर्भ में नई व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इसका प्रथम प्रयोजन यह है कि वह आदिम युग से परम्परा रूप में प्राप्त मान्यताओं, संस्कारों एवं धार्मिक क्रियाओं की नई व्याख्या करता है। वह समय-समय पर प्राचीन विश्वासों, संस्कारों एवं भावों को मान्यता प्रदान करता है। प्रत्येक देश और जाति के इतिहास में ऐसे मिथक मिलते हैं जो हर भावी पीढ़ी को आस्था, साहस और प्रेम के नए क्षितिज प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा प्रयोजन यह है कि वह भावनाओं का विवेचन करता है। वह धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से जन-जीवन में आशा और विश्वास का संचार करता है। वह सम्पूर्ण मानवता की अखंडता का बोधक और मानव तथा प्रकृति की मूलभूत एकता का साधक है। वह मानव और प्रकृति को, प्रेम एवं एकता को एक सूत्र में पिरोता है। वह मानव को असत से सत की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने के लिए प्रेरित करता है। वह मानव चेतना को परमतत्व की ओर उन्मुख करता है। तात्पर्य यह कि मिथक मानव समाज के उन्नयन के इतिहास को समझने में सहायक सिद्ध होता है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी इसकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है। वह रूपविज्ञान और अर्थविज्ञान की उलझनों को सुलझाने में सहायक होता है।

जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, साहित्य की प्रायः हर विधा में यह तत्व पाया जाता है। आजकल तो इसकी उपयोगिता इतनी बढ़ गई है कि समीक्षक इसी को निकष मान कर कृति का मूल्यांकन करने लग गया है। सारांश यह कि मिथक के अनेक प्रयोजन हैं और यह साहित्य के अनेकानेक रूपों को उजागर करने में, उन्हें अर्थवान एवं मूल्यवान बनाने में काफी लाभकारी एवं सहायक सिद्ध हुआ है। यह मनोविज्ञान, नृविज्ञान, दर्शन, इतिहास, अलंकार-शास्त्र तथा भाषाविज्ञान आदि विषयों के स्पष्टीकरण में बड़े महत्व का सिद्ध हुआ है।

रिचर्ड चेज ने लिखा है कि मिथक ही साहित्य है, पर यह बात अतिरंजना से परिपूर्ण है। वास्तव में वह साहित्य का समानधर्मी है। वह साहित्य का पर्याय भी नहीं है। मिथक और साहित्य में कुछ तात्विक और कुछ स्वरूपगत समानताएं हैं जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक ने साहित्य और मिथक दोनों को अवचेतन मन की प्रतीतियों का व्यक्त-रूप माना है और वह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपने जन्मकाल से

ही ये समानधर्मा हैं। विश्व का प्राचीन काव्य तो मिथक प्रधान है ही, अर्वाचीन काव्य में भी मिथकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। लेकिन दोनों के प्रयोग में कुछ अन्तर है। डा० नगेन्द्र के अनुरूप प्राचीन मिथक जहाँ सामूहिक चेतना या अवचेतना की अभिव्यक्ति है, वहाँ आधुनिक कवियों के मिथक वैयक्तिक चेतना की सृष्टि हैं। आधुनिक युग में मिथक एक प्रकार से स्वप्नकथा (फेंटेसी) का रूप धारण कर लेता है। दूसरी बात यह है कि साहित्य और मिथक दोनों में रागात्मक तत्वों की प्रधानता है, दोनों मानव की समग्र चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। तीसरी बात यह है कि दोनों में चिरन्तन सत्य और सामयिक सत्य का समावेश है। साहित्य और मिथक में चौथा तात्विक सम्बन्ध यह है कि दोनों प्रतीयमान सत्य के वाहक हैं। वे न तो पूर्ण सत्य ही हैं और न पूर्णरूपेण मिथ्यात्मक ही हैं। दोनों में कल्पना का योग रहता है।

साहित्य और मिथक में स्वरूपगत समानताएं भी बहुत हैं। अगर डा० नगेन्द्र की मान्यताओं का निष्कर्ष यहां प्रस्तुत किया जाये तो वह इस प्रकार होगा। साहित्य एक कला है और कला प्रकृति को मानवीय रूपों में ढाल कर प्रस्तुत करती है। उधर मिथक में भी प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करने का व्यवस्थित प्रयास रहता है। प्रकृति की मानवीय रूपों में पुनर्रचना करने के लिए मिथक दो उपकरणों का प्रयोग करते हैं—उपमा और रूपक। उपमा प्राकृतिक रूपों और मानवीय रूपों में साम्य स्थापित करती है और रूपक मानवीय रूपों का प्रकृति के रूपों पर अभेद आरोप कर सूर्यदेवता, पृथ्वीमाता आदि संकल्पनाओं की सृष्टि करता है। काव्य भी अपनी कलात्मक संकल्पनाओं के लिए मूलतः इन्हीं उपकरणों का उपयोग करता है। काव्य के संरचनात्मक विधान का निर्माण एक प्रकार से मिथकीय तत्वों से होता है, क्योंकि काव्य रचना की प्रक्रिया मूलतः मिथक की निर्मिति-प्रक्रिया ही है। जिस प्रकार मिथक में अर्थ को रूप से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार काव्य में भी उसके रूप के अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं होता।

दोनों में भाव और बिम्ब का पूर्ण ऐक्य विद्यमान रहता है। काव्य की भाषा चित्रभाषा होती है और कवि भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग करता है। भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग की यह प्रक्रिया मिथक रचना की प्रक्रिया है और चित्रभाषा मिथक-भाषा का ही नया नाम है। डा० नगेन्द्र का उपर्युक्त मत श्लाघ्य है, क्योंकि उन्होंने काव्य और मिथक के तात्विक और स्वरूपगत अभेदों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ रखा है और दोनों की पारस्परिकता पर अच्छा प्रकाश डाला है। सारांश यह कि काव्य और मिथक में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे के व्यंजक और पूरक हैं।

छायावादी काव्य में मिथक का प्रयोग एक नए रूप में मिलता है। इन कवियों ने वैदिक और पौराणिक मिथकों का प्रयोग नए मूल्यों की खोज के संदर्भ में किया है। उन्होंने आद्य एवं आनुषंगिक मिथकों का प्रयोग नई प्राणवत्ता, नवचेतना और नए जीवन मूल्यों के निमित्त किया है। यही कारण है कि इनके मिथकीय प्रयोग काव्य के दोनों पक्षों भाव और शिल्प को अर्थवान और मूल्यवान बनाते हैं। प्रसाद ने कामायनी में, पंत ने लोकायतन में, निराला ने राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास, पञ्चवटी प्रसंग, तुम और मैं, यमुना के प्रति, कुकुरमुत्ता आदि कविताओं में तथा महादेवी ने अपने लघु प्रगीतों में मिथकों का प्रयोग करके काव्य की गरिमा को जहाँ एक तरफ द्विगुणित किया है, वहीं दूसरी ओर उन्हें अर्थवत्ता भी प्रदान की है। मिथकका प्रयोग केवल प्रबन्ध काव्यों अथवा महाकाव्यों में ही नहीं मिलता, अपितु छोटे-छोटे गीतों और प्रगीतों में भी मिलता है। इन कवियों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुराने मिथकों की नवीन व्याख्या की है और उन्हें सार्थक एवं युगानुकूल बनाने की सफल चेष्टा की है। इन्होंने सभी प्रकार के मिथकों का व्यापक पैमाने पर प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि इनका मिथकीय प्रयोग सार्थक एवं सफल है।

इन संदर्भों में जब हम निराला काव्य का मूल्यांकन करते हैं तो देखते हैं कि इन्होंने अनेक वैदिक, पौराणिक, रामायण कालीन एवं महाभारत कालीन मिथकों का सम्यक प्रयोग किया है। इन्होंने काव्य को सारगर्भित बनाने के लिए तथा शाश्वत सत्य के साथ समकालीन सत्य को जोड़ने के लिए और प्राचीन संस्कारों को नवीन मान्यता प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के मिथकों का सफल प्रयोग किया है। यहाँ हम संक्षेप में उनकी कुछ प्रमुख कविताओं के आधार पर मिथकीय तत्वों को निर्देशित करने का प्रयास करेंगे। 'यमुना के प्रति' में निराला ने महाभारत कालीन मिथकों के संदर्भ में यमुना का मानवीकरण किया है। इसमें कवि ने यमुना, वंशीवट, नटनागर श्याम और वृन्दावन धाम आदि नामों का प्रयोग कर अपनी मिथक पटुता का ही परिचय दिया है। यमुना की विरह व्यथा और औदास्य के चित्रण में कवि ने इन मिथकीय भावों एवं शब्दों का प्रयोग कर कविता को एक उदात्त रूप प्रदान किया है। कविता में इन मिथकों के सजग प्रयोग से प्राणवत्ता आ गई हैं और पाठक इन संदर्भ-सूत्रों को पकड़कर कविता के मर्म को शीघ्र ही आत्मसात कर लेता है। यही मिथक का उद्देश्य भी होता है कि वह काव्य को सहजग्राह्य, अर्थवान और सम्प्रेषणीय बनाये। इस दृष्टि से यह कविता उत्तम बन गयी है।

'तुम और मैं' नामक कविता में कवि ने पौराणिक मिथकों का सफल प्रयोग किया है। वैसे यह कविता अद्वैतवादी विचारधारा को रेखांकित करती है और कवि प्राकृतिक एवं पौराणिक तत्वों के माध्यम से यह जताना चाहता है है कि जीवात्मा और परमात्मा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को पुष्ट करने के लिए कवि कहता है कि जहाँ परमात्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म, रघुकुल गौरव रामचन्द्र, तांडव नृत्य (शिव का) और मनमोहन (कृष्ण) है, वहाँ जीवात्मा क्रमशः माया, सीता, पार्वती और राधा के समान है। यहाँ कवि ने मिथकों का प्रयोग सम्बन्ध सूत्रों के रूप में किया है। तात्पर्य यह कि कवि ने पुराने मिथकों और उनके कथारूपों के माध्यम से जीव और ब्रह्म में ऐक्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। यहाँ कवि ने पुराने मूल्यों की केवल नवीन व्याख्या ही नहीं की है, अपितु उनके वैशिष्ट्य को भी रूपायित किया है।

निराला की बादल राग-३ कविता अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उसमें कवि ने सव्यसाची और इन्द्र का नाम लेकर जहाँ एक तरफ वैदिक एवं पौराणिक मिथकों की ओर संकेत किया है, वहीं पुराने संस्कारों और आस्थाओं को नए सदर्भों से जोड़ दिया है। कवि बादल के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए उसकी तुलना सव्यसाची और इन्द्र से करता है। वह बादल को सव्यसाची सा अध्ययनशील तथा इन्द्र सा धनुर्धर कहता है। इतना ही नहीं, वह सुरबालाओं का नाम लेकर बादल को सुखसागर कहता है। यहाँ पौराणिक आख्यान दन्तकथा में परिणत हो गया है। कवि कहना यह चाहता है कि जिस प्रकार इन्द्र द्वारा वृष्टि किए जाने पर सुरबालाएँ हर्षित होती थीं, उसी प्रकार तुम्हारे बरसने पर जनसाधारण हर्ष से नाच उठता है। इस प्रकार कवि ने पुराने मिथकों को उद्धृत करके बादल को एक नया संदर्भ और अर्थ प्रदान किया है।

पञ्चवटी प्रसंग निराला की एक श्रेष्ठ कविता है और इसमें कवि ने पौराणिक मिथकों के माध्यम से लय, प्रलय, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, योग और सेवा भाव पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसमें कुल चार पात्र हैं—राम, लक्ष्मण, सीता और शूर्पणखा। कवि ने इसमें समुद्रमन्थन, प्रलय, प्रकृति और सौरमण्डल आदि आद्य मिथकों का प्रयोग किया है और उनकी नवीन सारगर्भित व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं। इसमें उपमा और रूपक आदि का सम्यक प्रयोग कर कवि ने मानव और प्रकृति के बीच ऐक्य स्थापित करने की भरपूर चेष्टा की है। साथ ही इसमें शूर्पणखा की कामुकता भी व्यंजित हुई है। कवि ने शूर्पणखा जैसी नीच और उपेक्षित नारी का बड़ा ही भव्य चित्रण किया है जो उसकी उदारवृत्ति का परिचायक है। पञ्चवटी प्रसंग में निराला

ने राम और सीता के दिव्य प्रेम का, स्मृति-प्रदेश में पुष्पवाटिका का, प्रकृति के गौरवमय रूप का तथा लक्ष्मण की भक्ति का अच्छा चित्रण किया है। पंचवटी प्रसंग-२ में कवि ने लक्ष्मण की भक्ति एवं सेवकत्व का विस्तार के साथ वर्णन किया है। पंचवटी प्रसंग-३ में कवि ने शूर्पणखा के माध्यम से समुद्रमंथन की घटना का उल्लेख किया है और अन्त में उसके सौन्दर्य का अतिरंजित रूप उपस्थित किया है। साथ ही गोदावरी नदी का मानवीकरण किया गया है। पंचवटी प्रसंग-४ में लक्ष्मण राम से प्रलय की परिभाषा पूछते हैं और राम उनका तात्विक उत्तर देते हुए कहते हैं कि मन, बुद्धि और अहंकार का लय ही प्रलय है। और फिर वाद में कवि ने राम-लक्ष्मण के संवाद के माध्यम से सौरजगत के वस्तुतत्त्व और भावतत्त्व को सुलझाने का प्रयास किया है। पूरी कविता में ज्ञानयोग एवं सांख्ययोग की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। पचवटी प्रसंग-५ में कवि ने शूर्पणखा के प्रेम प्रस्ताव और राम-लक्ष्मण द्वारा उसकी दुर्दशा का चित्र सूक्ष्म ढग से अंकित किया है। संक्षेप में, पंचवटी प्रसंग का यही कथानक है। इस प्रसंग को उठा कर कवि ने प्राचीन मानवमूल्यों को नवीन संदर्भ प्रदान किया है और उन्हें मिथकीय भाषा में रूपायित किया है। यहां पौराणिक मिथक नए संदर्भों में चित्रित किए गए हैं तथा कवि ने नए संदर्भों के अनुसार इनकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। कवि को इन मिथकों के प्रयोग में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। सारांश यह कि पंचवटी प्रसंग में कवि ने पौराणिक मिथकों का प्रयोग कर अपनी कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया है।

जहाँ तक निराला कृत 'तुलसीदास' का सम्बन्ध है, इसमें केवल मिथकाभास है। कवि ने बड़े कौशल के साथ तुलसी-रत्नावली प्रेमदन्तकथा को मिथकीय जामा पहनाने का प्रयास किया है। इसमें कवि ने मध्ययुगीन मान्यताओं, संस्कृतियो, विलासिताओं और प्राकृतिक रूपों को मिथकीय आवरण में आवृत करने की चेष्टा की है। इसमें प्रकृति का केवल मानवीकरण ही नहीं हुआ है, अपितु उसमें सजग एवं सतर्क चेतना का आरोपण किया गया है जो पाठकों को शीघ्र ही अभिभूत कर लेती है। इसमें कवि ने इतिहास, संस्कृति, परंपरा और संस्कारों को एक दृढ़ सूत्र मे पिरो कर उन्हें मिथकत्व के निकट लाने का प्रयास किया है। इसी क्रम में कवि रत्नावली को शारदा से संज्ञायित कर उसे मिथकीय पात्र बनाने की चेष्टा करता है और थोड़ी देर के लिए वह सचमुच में मिथक बन जाती है। पर वास्तव में वह मिथक का खण्डत्व है एवं मानवीय पात्र को मिथकीय पात्र बना देना भी कम कौशल का काम नहीं है। रत्नावली शारदा बन जाती है। वह बरदात्री बन जाती है, उसके स्वर वीणा के सुवासित स्वर बन जाते हैं और यह सारा विश्व, जिस पर वह चरण रखती है, हंस बन जाता है।

ऐसा करके कवि दो प्रयोजनों को सिद्ध करता है। प्रथम तो वह रूपक का नियोजन करता है यानी रत्नावली पर शारदा के रूपगुण का आरोपण करता है। ऐसा करके वह एक मानवीय पात्र को मिथकीय पात्र बना देता है। दूसरी बात यह है कि वह शारदा के रूप और गुण का मिथकीय वर्णन करता है। उनके विद्यात्मक रूप को उजागर करता है। इस तरह वह रत्नावली का अध्यात्मीकरण कर डालता है। इससे कवि का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है। तुलसीदास रत्नावली के उपदेश से प्रेरित एवं अभिभूत होकर भारत एवं भारती के उद्धार का संकल्प लेता है। तात्पर्य यह कि तुलसीदास में निराला ने केवल एक मिथकीय पात्र के व्याज से कविता को महिमा से मंडित कर दिया है और उसे लोकमांगलिक रूप प्रदान कर दिया है।

'राम की शक्तिपूजा' के सभी पात्र मिथकीय हैं। वे सभी मिथक-माया में लिपटे हुए हैं। पर जो कार्य वे सम्पादित करते हैं, उनके मूल्य निश्चित रूप से अर्वाचीन हैं। मिथकों की यह विराट योजना निराला के विराट व्यक्तित्व की देन है। निराला ने इन मिथकों के माध्यम से शाश्वत जीवन मूल्यों को समकालीन जीवन मूल्यों से जोड़ दिया है। इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने उनका आधुनिकीकरण भी कर दिया है। और यही कवि व्यक्तित्व की विराटता है। उन्होंने सन्दर्भ के अनुसार इन आदर्शवादी मिथकों को यथार्थवादी तत्वों के रूप में चित्रित किया है। इन मिथकों में रहस्यवादी तत्व, धार्मिक तत्व और अतिप्राकृतिक एवं अतिमानवीय तत्व निश्चित रूप से हैं; परन्तु कवि ने बड़े ही कौशल के साथ उन्हें मानवतावादी धरातल पर अंकित कर दिया है। वे मानवीय और यथार्थवादी मूल्यों के वाहक बन गए हैं। इस मिथकीय कविता में पात्रों की छटा देखते ही बनती है। विभिन्न मिथकीय पात्र विभिन्न प्रकार से चित्रित किए गए हैं। अगर डॉ० रमेश कुंतल 'मेघ' के शब्दों में कहा जाय तो दो पात्र तटस्थ क्षेत्र में आसीन है। वे विचार पक्ष का भव्य एवं उदात्त उत्कर्ष करते है। वे विभीषण तथा जामवन्त है। दो पात्र कार्य के अतिरंजित क्षेत्र में समासीन हैं। वे हनुमान तथा दुर्गा है। दो पात्र नेपथ्य क्षेत्र में रहते हैं। वे रावण और सीता हैं। वे क्रमशः भावना क्षेत्र का तीव्र एवं ललित उन्मीलन करते हैं। इनमें से खलनायक रावण आराधना से शक्ति को सिद्ध करके उसके माध्यम से सारे वातावरण में अन्धकारधर्मी होकर हावी है। सीता विद्युत रेखा-सी कौंध कर राम में सौन्दर्योदात्त लालित्य तथा धीर करुणा का अभ्युदय कराती है। इस तरह नायक श्रीराम के आलावा ६ पात्र विचार चरण, भावना चरण तथा सौन्दर्य चरण की मैत्री कराते हैं। खलनायक रावण और महाशक्ति ने अतिप्राकृतिक

तत्वों का संधान किया है जो मिथकीय जादू से बंधे हैं। इन शक्तियों को संतुलित करने के लिए अतिमानवीय तत्वों को उभारा गया है। इसका अद्भुत एवं अलौकिक पक्ष हैं हनुमान तथा मानवीय एवं रहस्यराधक पक्ष हैं राम। इसके अतिरिक्त अङ्गद, नल, नील, गवाक्ष आदि जो सहायक पात्र हैं, वे धीर नायक राम के अनुचर हैं और वे सब उनकी कार्य-सिद्धि में सहायक बनते हैं।

महाकवि निराला ने राम की शक्तिपूजा में केवल मिथकीय पात्रों का ही उपयोग नहीं किया है, अपितु मिथकीय भाषा का भी प्रयोग किया है। जिस स्थल पर वे रण से लौटते हुए राम का वर्णन करते हैं, वहाँ की भाषा मिथकीय है। पूरा वातावरण मिथक, रहस्य और कौतूहल से भर गया है। इस तरह की भाषा का उन्होंने और भी दो स्थलों पर प्रयोग किया है। प्रथम है पार्वती कल्पना का और दूसरा है महाशक्ति का रूप वर्णन। इन चित्रणों मे कवि को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। कवि आवश्यकतानुसार इन वर्णनों को कहीं गम्भीर बना देता है तो कहीं सहज और सुबोध। गम्भीर चित्रणों में अगर कवि आद्य मिथकों का प्रयोग करता है तो सहज चित्रणों में आनुषंगिक मिथकों का। पूरे आख्यान पर मिथकीय जादू और रहस्य के कोहरे छाए रहते हैं।

कवि ने प्रस्तुत कविता में मिथकीय अनुशासन का भी सम्यक प्रयोग किया है। जब राम रण से लौट कर मंत्रणा के लिए श्वेत शिला पर बैठते हैं, तो उस समय सभी प्रमुख पात्र अनुशासन से बैठते हैं। राम के चरण कमलों के पास हनुमान, उनके आगे विभीषण और पीछे लक्ष्मण बैठते है। जाम्बवान और सुग्रीव बगल में बैठते हैं और बाकी सेनापति तथा अनुचर लोग यथास्थान बैठते हैं। बैठने का यह क्रम निश्चितरूपेण मिथकीय अनुशासन से प्रेरित है। यह क्रम जहाँ एक तरफ अनुशासन की ओर संकेत करता है, वहीं दूसरी तरफ उनके पद और स्थान को भी रेखांकित करता है।

निराला ने राम की शक्तिपूजा में राम का मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया है और उसमें वे खरे उतरते हैं। राम आज दशरथ-सुवन और राजपुत्र होते हुए भी एक सामान्य व्यक्ति की तरह रोते हुए परिलक्षित हो रहे है। वे रण-भूमि में घायल होकर उदास हो जाते हैं। उनके पैर शिथिल हो जाते हैं। अपने लक्ष्य की पूर्ति न होते देख कर वे चिन्तामग्न हो उठते हैं। अपने मार्ग में बाधाओं को उपस्थित देख कर वे स्वयं को धिक्कारने लगते हैं। लगता है कि वे भीतर से टूट गए हैं। यह राम का चरित्र चित्रण न होकर एक अति सामान्य व्यक्ति का यथार्थ चित्रण हो गया है। आज वे एक अवतारी पुरुष न होकर एक अति सामान्य व्यक्ति हो गए हैं जिसके नेत्रों से आँसू की बूंदें टपक रही

हैं। इस तरह महाकवि निराला ने राम का साधारणीकरण कर दिया है और उन्हें एक अर्वाचीन व्यक्ति अथवा 'टाइप' के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। निराला का यह प्रस्तुतीकरण उनकी मनोवैज्ञानिक एवं आधुनिक सूझ-बूझ की देन है। कवि को यह पूरी छूट है कि वह पौराणिक मिथकों का आधुनिकीकरण करके अपने लक्ष्य की पूर्ति करे। और महाकवि निराला ने ऐसा ही कर दिखाया है। निराला ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से राम के असाधारण तत्व को परखा है और उन्हें संदर्भानुसार साधारणत्व के धरातल पर स्थित किया है। निराला का यह मिथकीय प्रयोग बड़ा ही उदात्त है। इसके सभी पात्र एक ही लक्ष्य की सिद्धि में तत्पर दिखलाई पड़ते है। राम नायक हैं। हनुमान उनके प्रमुख सेवक हैं। जाम्बवान और विभीषण उनके सलाहकार हैं। लक्ष्मण उनके केवल प्रहरी ही नहीं, अपितु आवश्यकता पड़ने पर सेनानायक का भी पद सँभालते हैं। सुग्रीव, अङ्गद, नल, नील, गवाक्ष आदि उनके वीर योद्धा हैं। इसके अलावा समस्त वानर-वाहिनी सैनिक की भूमिका में रत है तथा सभी सीता के उद्धार के लिए प्रयत्नशील हैं। सीता केवल राम की पत्नी ही नहीं है, अपितु भूमिजा होने के कारण मातृभूमि का पर्याय भी है जिसका उद्धार करना परमावश्यक है।

दूसरी ओर आसुरी और अतिप्राकृतिक शक्तियों का जमघट है। रावण खलनायक है और उसकी सहायता के लिए राक्षसगण हैं तथा श्यामा उसे केवल वरदान ही नहीं देती है, अपितु युद्ध के समय उसे अपने अङ्क में लेकर उसकी रक्षा भी करती हैं। इतना ही नहीं, राम पर अपनी दृष्टि का निक्षेप कर उन्हें किंकर्त्तव्यविमूढ़ भी बना देती हैं। सारी आसुरी शक्ति सीता को अधीनस्थ किए बैठी है। सीता के लिए ही राम-रावण का यह युद्ध हो रहा है। सीता की मुक्ति ही राम का उद्देश्य है। राम-रावण में घनघोर युद्ध हो रहा है। वास्तव में यह युद्ध राम-रावण के व्याज से सत्य और असत्य का, पुण्य और पाप का, धर्म और अधर्म का तथा प्रकाश और अन्धकार का है। लगता है, रामत्व पर रावणत्व की विजय हो जायेगी। लेकिन राम जाम्बवान की सलाह पर शक्ति की मौलिक कल्पना करके उनकी आराधना करते हैं और देवी का वरदान पाकर रावणत्व पर विजय प्राप्त करते हैं। इस तरह सीता का उद्धार होता है। इस पूरे कथानक में दैवी, आसुरी और अतिमानवीय सभी पात्र जुड़े हुए हैं। सभी अपने-अपने कार्य में लीन हैं। पर महाकवि निराला ने बड़े ही कौशल के साथ राम के मनोबल को, उनकी आन्तरिक शक्ति को उद्दीप्त करके उन्हें फलागम के निकट लाकर खड़ा कर दिया है और उन्हें साफल्य-सिक्त कर दिया है। यह कवि निराला का कौशल

है कि वे अन्यायपूर्ण शक्ति (श्यामा) को मंगलमयी शक्ति (देवी दुर्गा) में परिणत कर देते हैं तथा पौराणिक मिथकों को आधुनिक सन्दर्भ प्रदान कर देते हैं। निराला ने मिथकों की व्याख्या आधुनिक सन्दर्भ में की है और आवश्यकतानुसार उन्हें युगानुकूल बना दिया है। इस तरह कवि ने मिथकों के माध्यम से शाश्वत मूल्यों को समकालीन जीवन मूल्यों में परिवर्तित कर दिया है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि महाप्राण निराला ने राम की शक्ति-पूजा में पुराने मूल्यों का नवीनीकरण किया है, पुराने मिथकों को नया संदर्भ प्रदान किया है और कोरे आदर्शवाद को एक सामाजिक एवं यथार्थ धरातल प्रदान किया है। इन्होंने इसमें दिवास्वप्नों की भी योजना की है जिसका एकमात्र उद्देश्य हारे-थके राम को सौख्य प्रदान करना है। इस कविता में तमाम मिथकीय गुण जैसे रहस्य, कुतूहल, तन्मयता, आह्लाद, चमत्कार आदि अपनेआप संग्रन्थित हो गए हैं। राम की शक्तिपूजा की घटनाएं मिथकीय होने के कारण जहाँ एक तरफ अलौकिक चमत्कार की सृष्टि करती हैं, वहीं दूसरी तरफ मानवीय संवेदनाओं से जुड़ जाने के कारण मनोवैज्ञानिक सत्य का भी उद्घाटन करती हैं। इसमें अतिप्राकृतिक तथा प्राकृतिक तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है जिसके परिणामस्वरूप कथा को एक गति और अन्विति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि महाकवि निराला ने राम की शक्तिपूजा में मिथकीय तत्वों का समावेश कर काव्य को अर्वाचीन, यथार्थवादी और मांगलिक बना दिया है। मिथकीय प्रयोग एवं महत् तत्वों की सृष्टि के फलस्वरूप यह कविता महाकाव्यात्मक कविता (इपिकल पोएट्री) बन गई है जो निश्चय ही निराला के विराट व्यक्तित्व को उजागर करती है।

निराला ने 'कुकुरमुत्ता' में विभिन्न मिथकीय संदर्भों की केवल सूची प्रस्तुत की है। यहाँ कोई मिथकीय घटना अथवा प्रयोजन नहीं है। केवल मिथकीय नाम भर हैं। जिस प्रकार आज का अमेरिकन समीक्षक हर बात में मिथकीय समीक्षा की दुहाई देता है, उसी प्रकार निराला का कुकुरमुत्ता अपनी बहक एवं सनक में मिथकीय पात्रों का केवल नाम भर लेता है और यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि मैं वह सब कुछ हूँ। वह अपने को विष्णु का सुदर्शन चक्र, मां यशोदा की मथानी, राम का धनुष और बलराम का हल बतलाता है। इसी क्रम में वह आगे चल कर अपने को शंकर का डमरू तथा वीणावादिनी की वीणा बतलाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपरोक्त कथित नामों के साथ अनेक मिथकीय घटना चक्र और कथाएं जुड़े हुए हैं। वे नाम पौराणिक, रामायण कालीन तथा महाभारत कालीन मिथकों की ओर

संकेत करते हैं और पाठक के मानस पटल पर एक चित्र अंकित करते हैं। क्षण भर के लिए पाठक इन मिथकों के माया-प्रदेश में विचरण करने लग जाता है। बस, इतनी ही इन मिथकों की सार्थकता है। बात दरअसल यह है कि यह एक व्यंगात्मक कविता है और इसमें कवि ने व्यंग्य के संदर्भ में इन मिथकीय नामों की सूची प्रस्तुत की है। यहाँ कवि की व्यंजना सफल हुई है और यही कविता का साफल्य है। हमें इन मिथकीय नामों को यहाँ गम्भीर रुप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ तो केवल व्यंग्य-विनोद का वातावरण है। कुकुरमुत्ता गुलाब पर व्यंग्य कर रहा है, क्योंकि वह अकर्मण्य और विलासिता का सम्पुजन है। कुकुरमुत्ता के कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह छोटे मुंह से बड़ी बातें कर रहा है। और जब छोटे लोग अपने मुह से बड़ी बातें करने लग जाये तो उनके वाक्य वचन को हमें आप्त वचन न मान कर हास्य वचन ही मानना चाहिए। तभी कविता का रसास्वादन समग्र रूप से किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि कुकुरमुत्ता में निराला ने मिथकीय नामों का प्रयोग आधुनिक संदर्भ में किया है और उन्हें व्यंग्य-विनोद के वातावरण में आवृत कर दिया है।

इन तमाम विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि निराला ने अपनी कविताओं में मिथकों का सार्थक एवं सफल प्रयोग किया है। उन्होंने पौराणिक मिथकों की आधुनिक व्याख्या प्रस्तुत की है और उन्हें यथार्थ के सम्बन्ध सूत्रों में पिरो दिया है। उन्होंने मिथकों का मानवीकरण किया है तथा उन्हें अपनी रुचि, सन्दर्भ और आवश्यकता के अनुसार एक नया रूप प्रदान किया है। संक्षेप में, निराला के मिथकीय प्रयोग का यही वैशिष्ट्य है।

डा० हुकुमचन्द राजपाल

लम्बी कविता में मिथक

लम्बी कविताओं में मिथकीय आयामों अथवा मिथक योजना की चर्चा करने से पूर्व इस तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक होगा कि अभी तक दोनों को निर्विवाद मान्यता नहीं मिल सकी है। जहां तक लम्बी कविता का सम्बन्ध है—एक वर्ग इसे एक काव्यान्दोलन के रूप में मानता है, जबकि दूसरा वर्ग कविता के लघु या लम्बे होने की धारणा का खण्डन करता है। यदि कविता को लम्बी अथवा लघु आयाम के आधार पर विभाजित कर भी लिया जाये तो फिर इससे सम्बद्ध अन्य समस्याओं का सम्मुख आना स्वाभाविक है। यही कारण है कि हमने कविता को लघु अथवा लम्बी विशेषण से सम्बोधित न कर नाट्य अथवा नाटकीय से सम्बद्ध करना चाहा है। वस्तुतः कविता जितनी लम्बी होगी उतना ही अधिक नाटकीय विधान होगा। यही कारण है कि लम्बी कविता का आरम्भ काफी समय से माना जाता रहा है तथा 'राम की शक्तिपूजा' सरीखी रचनाओं को भी इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। मैंने अपने प्रपत्र में प्रचलित नाम लम्बी कविता को मात्र सुविधा के लिए रखना चाहा है वैसे इससे मेरी सहमति कदापि नहीं है। मैं इस विधा अथवा रूप की समस्त रचनाओं को संश्लिष्ट नाट्य काव्य अथवा नाटकीय कविता के अन्तर्गत स्वीकार करता हूं। साथ ही इस परम्परा की रचनाओं में 'अंधेरे में' (मुक्तिबोध) कविता को सर्वश्रेष्ठ एवं प्रथम सफल प्रयास मानता हूं। वैसे भी कविताओं में तथाकथित लम्बापन पृष्ठों की अधिकता से नहीं—उसमें अन्तर्निहित भाव अथवा विचार खण्डों से आता है। कविता की इस प्रक्रिया में मिथक एक महत्वपूर्ण उपकरण है। लघु कविता में कवि मिथकों का संकेत मात्र कर पाता

है जबकि लम्बी कविता में उसको पर्याप्त स्वतंत्रता अथवा समय मिल जाता है जिसमें वह मिथकीय आयामों का संकेत ही नहीं, सार्थकता की चर्चा तक कर सकता है। यह निर्विवाद स्वीकार्य है कि बिम्ब, प्रतीक, चित्र, छाया इत्यादि शिल्प के उपकरण हैं—इन्हें कभी-कभी परम्परा एवं युग के साथ भी सम्बद्ध किया जाता है तभी इनके प्रयोग में नया शब्द जुड़ा रहता है। वस्तुतः मिथक भी शिल्प का महत्वपूर्ण विधान है। पर ऐसा निर्विवाद घोषित नहीं किया जा सकता।

'मिथक' शब्द हिन्दी में अंग्रेजी के 'मिथ' शब्द से विकसित है—इतना तो सभी मानते हैं, पर इसकी अवस्थिति एव स्वरूप विधान को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कारण, भारतीय चिन्तनधारा से प्रभावित विद्वानों का इसे देवी कथा, आख्यान, पुराख्यान, लोक विश्वास, प्रक्षिप्त वृत्त इत्यादि से सम्बद्ध स्वीकारना है। वस्तुतः शब्दकोशों में भी मिथ के लिए पुराख्यान, लोक विश्वास, जाति-आख्यान, धार्मिक अथवा परोक्ष सत्ता से सम्बद्ध आख्यान तथा प्रकृति के रहस्यों से युक्त वृत्त, देवताओं तथा वीर पुरुषों से सम्बद्ध कथाएं, परम्परागत कथाएं, आदिम विश्वासों पर आधारित वृत्त, किंवदन्तियों से युक्त कहानियां इत्यादि अर्थ दिये गये हैं। इनमें रोचकता के लिए कल्पना का आश्रय अधिक लिया जाता है। आज मिथक को किसी एक विशिष्ट पक्ष अथवा ज्ञानानुशासन तक सीमित नहीं माना जाता, वरन् इसका सम्बन्ध धर्म, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, लोक साहित्य तथा अन्य शास्त्रों, विज्ञानों एवं कलाओं से स्थापित किया जाता है। यही कारण है कि लम्बी कविता में भी इसकी स्थिति पर चर्चा अथवा समीक्षा अपेक्षित है।

'मिथक' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। मिथक और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना में विद्वानों में काफी विवाद रहा है। अभी तक आलोचक मिथक का प्रयोग मात्र काव्य के एक शिल्पगत उपकरण के संदर्भ में करते रहे हैं। डा० रमेश कुंतल मेघ मुक्तिबोध द्वारा 'कामायनी' सम्बन्धी असफल कृति की घोषणा से प्रभावित हो कर कामायनी में मिथक से स्वप्न तक छलांग लगाने का प्रयास करते हैं। भले ही उनका लक्ष्य प्रस्तुत रचना में मिथकीय घटकों की अपेक्षा मनस्सौंदर्य-सामाजिक भूमिका की ओर अधिक रहा है। इतना निर्विवाद स्वीकार्य है कि डा० मेघ मिथक शब्द को समीक्षा क्षेत्र में प्रभावशाली ढंग से लानेवाले पहले आलोचक हैं। लेखक के मतानुसार 'मिथक मानवजाति का सामूहिक स्वप्न एवं सामूहिक अनुभव है। मानव चेतना मिथकीय चेतना से ही विकसित होकर यथार्थवादी (ऐतिहासिक) चेतना में परिवर्तित होती है.....मिथक मनुष्य का आदिम काव्य है—मिथक में

आस्था तथा इससे भी अधिक हठात् विश्वास (मेक-बिलीफ) का आधार रहता है। इसी भूमिका पर मिथकीय कल्पना का हवामहल खड़ा होता है। आस्था ही मिथक को यथार्थ तथा पुनीत बनाती है।' इस प्रकार लेखक ने मिथक को आस्था, विश्वास, स्वप्न, इतिहास, यथार्थ के ताने-बाने में प्रस्तुत करना चाहा है। पर एक तथ्य निर्विवाद स्वीकार्य है कि धर्म मिथकीय तत्वों से सम्बन्धित एवं गर्भित है। धार्मिक विश्वास एवं कथाओं में देश-काल का अतर हो सकता है। मिथकों को आधार बना कर मूलतः दो धारणाएं विशेष रूप से सम्मुख आती हैं—प्रथम प्रकृति का मिथकीय चिन्तन में योग तथा द्वितीय प्रकृति की अपेक्षा इसके विधान में समाज की उपादेयता।

जुंग के पूर्ववर्ती मिथक को मात्र कल्पित वार्ता ही मानते थे। मिथ को धर्मगाथा से सम्बन्धित माननेवालों में मेरिया लीच का नाम विशेष उल्लेख्य है। उनका मत था—'मिथ्स एक्सप्लेन मैटर्स इन द साइंस आफ प्री-साइंटिफिक एज।' जुंग ने काव्य और मिथ को सम धरातल प्रदान किया। फ्रायड ने इसकी सीमा दमित वासना की अभिव्यक्ति तक स्वीकार की। 'ग्रेट क्लासिकल मिथ्स' में प्रकृति-सम्बन्ध में मिथकों की सविस्तार चर्चा की गई है। हमारा लक्ष्य मिथक या लम्बी कविता के अपेक्षित गुणों अथवा स्वरूप विश्लेषण की अपेक्षा लम्बी कविता में मिथक स्थिति को जानना है। मिथक को किसी एक ज्ञानानुशासन के सीमित घेरे में आबद्ध नहीं किया जा सकता है—इसके विस्तृत आयाम एवं धरातल हैं। मिथकों के विभिन्न तत्वों के आधार पर भी कई प्रश्नचिह्न लगाये जाते हैं। स्थिति यहां तक पहुँच चुकी है कि एक वर्ग मिथक को प्रकृति और इतिहास से सम्बद्ध स्वीकार कर इसे सत्य एवं मिथ्या दोनों रूपों में घोषित करता है, जबकि एक अन्य वर्ग के समीक्षक इसे दैवी कथा एवं पुराख्यानों से मिलाते हुए इसे सत्य की कोटि में स्वीकारते हैं।

डा० रमेश कुंतल मेघ का कहना है कि मिथक ऐतिहासिक स्थिति का अतिक्रमण करते हैं, अथवा मिथकीय काल चिरन्तन या महाकाल हो जाता है, जहां न तो क्रम है, न परिवर्तन, न ही गति ; इस महाकाल में विकास और परिवर्तन का स्थान रूपांतरण ले लेता है। (मिथक और स्वप्नः कामायनी की मनस्सौन्दर्य भूमिका, पृ० २०८)।

प्रत्येक युग की रचनाओं में राम, शिव, कृष्ण जैसे पौराणिक पात्रों के चरित्र का विकास हुआ है। आदि कवि से आज तक के कवियों की धारणाओं में पर्याप्त अन्तर है। वस्तुतः यह अन्तर आधुनिक परिवेश अथवा संकल्प का है। मध्यकालीन राम (तुलसी के भगवान) मर्यादा पुरुषोत्तम से 'साकेत'

में नर-नारायण का रूप धारण कर लेते है तथा 'संशय की एक रात' में तो निर्णय-अनिर्णय का संशय उन्हें आज के सामान्य मानव का धरातल प्रदान कर देता है। यही स्थिति 'अन्धा युग' में कृष्ण की है। यही स्थिति 'शिव' के मिथक की है। आज उन्हें सत्य की लाश को कंधे पर उठाये दिखलाया गया है। वस्तुत: ऐसा करने से किसी देवता अथवा अवतार का अपमान होता है—हम नहीं मानते। इससे मानव-मन में उनके प्रति जो भाव विद्यमान रहते हैं, उन्हें युग की आवश्यकताओं के धरातल पर पुन: आख्यायित किया जाता है। मिथक परम्परित, खण्डित अथवा मृत अवधारणाओं में सामयिक स्थिति-बोध से रोचकता, प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ चिन्तन के क्षेत्र में जागरूकता लाने का कार्य भी करते है। पर यही मिथकीय आयाम लम्बी कविता में प्रबंध कृतियों की तरह समाविष्ट नहीं किये जा सकते। इनमें संश्लिष्ट स्थिति की छानबीन अपेक्षित है। लम्बी कविताओं का रचनाविधान विभिन्न विचार खण्डों से विकसित होता है तथा इन खण्डों में तारतम्य अथवा एकरसता लाने में मिथकों का विशेष महत्व रहा है। यहां हम इस तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि प्रत्येक लम्बी कविता में मिथक हो—यह अनिवार्य नहीं है। कारण अधिकांश लम्बी कविताओं में प्रतीकों अथवा फैंटेसी द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ति कर ली जाती है। अज्ञेय ने जहां काव्य में प्रतीकों की महत्ता प्रतिपादित की है तथा दिनकर 'शुद्ध कविता की खोज' में अभिव्यक्ति को सहज सम्प्रेष्य बनाने के लिए प्रतीकों, अन्योक्तियों और ध्वनियों के आश्रय का महत्व स्वीकारते हैं, वहां मिथकों की अभिव्यक्ति की सार्थकता एवं समकालीन सन्दर्भो अथवा प्रासंगिकता के लिए महत्ता निर्विवाद स्वीकार्य है। यही कारण है कि नयी कविता-युग में जितने भी नाट्यकाव्य (काव्य नाटक) लिखे गए हैं, उनमें मिथकों को विशेष स्थान दिया गया है। इन्हें भी हम दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम कोटि का सम्बन्ध पौराणिक वृत्तों, चरित्रों अथवा लोकधारणाओं से सम्बद्ध मिथकों से है—इसमें अज्ञेय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, कुंवर नारायण तथा दुष्यन्त कुमार इत्यादि कवियों का नाम विशेष उल्लेख्य है। द्वितीय वर्ग में उन कवियों का समावेश किया जा सकता है जिन्होंने कविताओं में मिथक की संश्लिष्ट अवस्थिति तक अपने को सीमित रखना चाहा है। यही कारण है कि इनके मिथक कहीं-कहीं अस्पष्ट भी हैं। इनमें मुक्तिबोध का नाम लिया जाना चाहिए। वैसे नए कवियों में भी पौराणिक चरित्रों को प्रतीक रूप में प्रयुक्त करने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

'लम्बी कविता' का आरम्भ कब से माना जाये—यह भी विवाद का विषय है। फिर भी जिस रूप में डा० नरेन्द्र मोहन ने, 'लम्बी कविताओं का रचना विधान' सम्पादित आलोचनात्मक कृति में एक क्रम को अपनाया है वह प्रायः सही है। लेखक ने स्वीकार किया है कि 'लम्बी कविता आख्यान से बिम्ब से विचार तक की अन्तर्यात्रा' है। इस अन्तर्यात्रा को विकास क्रम के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—परिवर्तन (पंत), प्रलय की छाया (प्रसाद), राम की शक्तिपूजा (निराला), समय देवता (नरेश मेहता), प्रमथ्यु गाथा (भारती), असाध्य वीणा (अज्ञेय), अन्धेरे में (मुक्ति-बोध), अलविदा (विजयदेव नारायण साही), मुक्ति-प्रसंग (राजकमल चौधरी), आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय), लुकमान अली (सौमित्र-मोहन), फिर वही लोग (रामदरश मिश्र), पटकथा (धूमिल) नाटक जारी है (लीलाधर जगूड़ी), एक मामूली आदमी का बयान (रमेश गौड़), कुआनो नदी (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना), उपनगर की वापसी (बलदेव वंशी) इत्यादि। इन लम्बी कविताओं का उल्लेख कर देने से यह नहीं समझना चाहिए कि लम्बी कविता की परम्परा इन्हीं रचनाओं तक सीमित है। अन्य कवि भी इस विधान में लिख रहे हैं तथा इन रचनाओं के साथ इन्हीं कवियो की अन्य कविताओं मे अधिकांश अथवा कुछेक लम्बी हो सकती हैं। यथा मुक्तिबोध निर्विवाद लम्बी कविता का प्रौढ़ एवं सफल कवि है। लम्बी कविता के बिना वह अपनी बात प्रेषित कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है। जीवन की लम्बी यात्रा का यथार्थ बोध उसे उद्वेलित करता रहता है—यही कारण है कि 'ब्रह्मराक्षस', 'चांद का मुंह टेढ़ा है' अथवा इनकी अन्य कोई भी लम्बी कविता हो, उसमें कवि अनेक स्थितियों से होकर गुजरना चाहता है। कहीं अन्तःसंघर्ष में, कहीं अस्मिता की खोज में या अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता की खोज में कवि स्वय को जोखिम में डालता रहता है। उसे प्रकाश, सुख, यश एवं बाह्य वैभव की अपेक्षा अन्धेरा, निराशा, संघर्ष की आत्मलीनता में अधिक आनन्दानुभूति होती है। इस प्रकार की अन्तःस्थितियों की तह तक जाने में कवि जिन उपकरणों का आश्रय लेता है उनमें प्रतीक, मिथक एवं फैंटेसी विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। कवि अपने कथ्य को अधिक मर्मस्पर्शी, गहन एवं तीक्ष्ण बना पाता है। हम पहले भी संकेत कर चुके हैं कि प्रबन्ध काव्यो में मिथक का व्यापक निर्वाह सम्भव है। कवि को काफी अवसर मिल जाते हैं, जहां वह अपनी मर्मवेदना को परम्परा एवं युग-सापेक्ष दृष्टि से एक साथ व्यंजित करने में सक्षम होता है वहाँ मुक्तिबोध सरीखे लम्बी कविता के कवि द्वारा प्रयुक्त मिथक, कहीं-कहीं अस्पष्ट, संश्लिष्ट एवं संकेत रूप में

होते हैं। शिव, राम, कृष्ण, बुद्ध अथवा अन्य किसी मनु सरीखे महान पुरुष को मिथकीय आधार पर उन रचनाओं में प्रदान करना सहज है, जबकि लम्बी कविता, जिसमें इतिवृत्त ही संश्लिष्ट, अस्पष्ट एवं सांकेतिक होता है—वहां मिथकों की स्थिति का बोध और भी विकट समस्या है। 'मुक्ति-प्रसंग' शीर्षक लम्बी कविता के विश्लेषण में डा० मेघ ने मिथकीय धरातल के संकेत दिए हैं। लेखकानुसार—राजकमल चौधरी के इस काव्य में आद्यन्त एक ऐसा मिथकीय धरातल है जो 'स्त्री' के नाना रूपों को उद्‌घाटित करता है, उनकी भूमिकाओं को गुड़मुड़ा भी देता है। यहां सर्वत्र वैष्णवी नैतिकता विलुप्त हो हो जाती है। उदाहरण पर गौर करें—'मेरे फेफड़ों के अन्दर मल त्याग की वैष्णवी मुद्रा में बैठा हुआ / नकाबपोश नकली ईश्वर / देखता रहा है लगातार ऊंघती आँखों से मेरी स्त्री का अवरुद्ध गर्भ विवर / कभी-कभी उसके झुर्रीदार बनमानुषी पंजे / मेरा व्याकरण छूते है।' ऐसा प्रतीत होता है कि कवि वैष्णवी मुद्रा के स्थान पर काम (संभोग) में शक्ति को खोज रहा है। प्रस्तुत कविता के सम्बन्ध मे लेखक का निम्न अभिमत उल्लेख्य है—'कविता और मृत्यु से पहले धरती के उद्धार के बाद ही मेरी और हमारी, राजकमल चौधरी की और भारतीय राष्ट्र की, दुनिया की मुक्ति तथा स्वाधीनता अवश्यभावी है। मिथक से इतिहास, इतिहास से निर्जांधर और निर्जांधर से वर्तमान समाज तक की कवि की जीवन यात्रा की पहचान सिर्फ यही है। केवल यही।'

प्रस्तुत प्रपत्र में सभी लम्बी कविताओं में मिथक योजना की चर्चा सम्भव नहीं है—इसलिए हमने कुछेक कविताओं में मिलनेवाले मिथक का संकेत किया है। विस्तार से 'हम अन्धेरे में' पर प्रकाश डालना चाहेंगे। इस रचना को हम इसलिए चुना है क्योंकि इसका सम्बन्ध अन्तर्संघर्ष से है, व्यक्तित्व, अस्मिता अथवा अस्तित्व की छानबीन में सामाजिक प्रतिबद्धता से है।

'अन्धेरे में' मुक्तिबोध की सबसे लम्बी कविता है—इन्हें लम्बी कविताओं का सफल प्रौढ़ कवि भी कहा जा सकता है। जहाँ तक इनकी लम्बी कविताओं में मिथकों के समावेश का प्रश्न है, कवि मिथक की अपेक्षा फैंटेसी का प्रयोग अधिक स्वीकार करता है। हां, 'ब्रह्मराक्षस' सरीखी लम्बी कविताओं में कवि समकालीन जटिल मनःस्थितियों में कभी-कभी स्वयं को असमर्थ पाता है, तभी एक संसार रचता है जिसे हम मिथकीय प्रतीक पर आधारित फैंटेसी का नाम दे सकते हैं। इन माध्यमों के द्वारा वह बहुत कुछ कह सकने में समर्थ होता है। 'ब्रह्मराक्षस' में भी कवि स्वयं को परिष्कृत एवं सरलीकृत करने हेतु निरन्तर गति एवं क्रिया में लीन रहता है। एक विचित्र प्रकार का मिथक निर्मित होता है तथा धीरे-धीरे कवि दुविधामयी स्थिति की सही पहचान

करना चाहता है। इसी ब्रह्म एवं राक्षसीय वृत्ति का संघर्ष 'अन्धेरे में' कविता में और अधिक गहन हो जाता है। हमने कविता को संश्लिष्ट 'नाट्य काव्य' स्वीकारते हुए इसमें संश्लिष्ट वृत्त (वस्तु) को दृश्यों मे विभाजित कर इस रचना की सही पहचान करने का प्रयास किया है। इस कविता को कोरा शाब्दिक जाल कहना कवि को न समझना होगा। प्रस्तुत रचना के सम्बन्ध में डा० नामवर सिंह का कहना है—'अंधेरे में' शीर्षक कविता की पटभूमि हर तरह से विशाल है। कविता स्वप्न चित्रों की लड़ी है। स्वप्न-चित्रों का रूप किसी फिल्म की पटकथा के समान है। जगह-जगह 'कट' और 'क्लोज-अप' इस्तेमाल किये गये हैं। ध्वनि और रूप दोनों का अन्तर्वेशी नियोजन है।' लेखक ने इस रचना को सबसे पहले एक विशिष्ट धरातल पर आंकने का प्रयास किया था—अस्मिता की खोज के आधार पर, जिसे एक आलोचक वर्ग पूर्णतः नकार चुका है। यहां हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते। पर इतना निर्विवाद मान्य है कि मुक्तिबोध जो कुछ कहता है, जो उसका प्रतिपाद्य है--उसमें काफी कुछ स्वप्न, फैंटेसी प्रतीत होता है। पाठक अनेक स्थितियों में ऐसा भी मान सकता है कि जिन मिथकों का संकेत कवि करता है वह बहुत स्पष्ट नहीं है। 'अन्धेरे में' कविता 'मै' और 'वह' की सही पहचान कराती है। पूरी रचना में कवि अनेक स्थितियों के भीतर से स्वत्व को खोजता है—इसमें मिथक उसकी सहायता करते है। गांधी, तिलक का उल्लेख इतिहास पुरुष के रूप में होता है। शिशुपाल की सार्थक परिणति उसके प्रतिरूप परिणत 'सूरजमुखी के फूल के गुच्छे' से हुई है जो रास्ते को आलोकित करते है। इतिहास पुरुष गांधी की मूर्ति का उसे सौंपा जाना, उसका रोना तथा नायक द्वारा थपथपाना ये समस्त कार्य मिथकीय संकेत हैं जिनमे कवि की प्रगतिशील चेतना से प्रतिबद्धता झलकती है। 'कामायनी' के मनु तथा 'अंधेरे में' कविता के रक्तलोकस्नात पुरुष को मानवीय संस्कृति के विकास का, संस्कृति पुरूष का समान प्रतीक मानना कहां तक न्यायसंगत है—यह भी विवाद अथवा चर्चा का विषय है। इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि कवि ने प्रस्तुत रचना में फैंटेसी एवं मिथकों के आधार पर जीवन एवं समाज अथवा देश में व्याप्त जटिल स्थितियों को उद्घाटित किया है। इसमे निस्सन्देह उसका 'स्व' अधिक मुखर है।

इसीलिए मैं हर गली में/और हर सड़क पर झांक-झांक देखता हूँ हरएक चेहरा/प्रत्येक गतिविधि/प्रत्येक चरित्र / व हर एक आत्मा का इतिहास/हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति/प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श/विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति ! ! खोजता हूँ पठार······पहाड़······समुंदर/जहां मिल सके मुझे / मेरी खोयी हुई / परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्मसम्भव।

इतना ही नही, प्रस्तुत लम्बी कविता में कहीं-कहीं कवि को खीझ में पारम्परित धारणाएं मिथक में नवीन आयाम धारण कर लेती हैं। गांधीवादी चेतना पर व्यंग्य का मिथक इस पंक्ति में द्रष्टव्य है—'भाग जा हट जा। हम हैं गुजर गये जमाने के चेहरे। आगे तू बढ़ जा' इस प्रकार के समकालीन बोध में कवि धूमिल की पटकथा की भांति सपाटबयानी का आश्रय नहीं लेता। वह यथार्थ बोध को उजागर करने के लिए सश्लिष्ट अथवा सांकेतिक मिथक प्रस्तुत करता है। कोरे नारेबाजी अथवा विद्रोह के स्वर में उसका विश्वास नहीं। अतः डा० रामदरश मिश्र की यह धारणा उचित प्रतित होती है कि मुक्तिबोध बार-बार व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति के दो पहलुओं के तनाव को लाकर समकालीन जीवन विडम्बना और यथार्थ की संश्लिष्टता को रूपायित करते चलते हैं। वे बार-बार कलाकार के भीतर निहित मानवीय शक्ति, सम्भावना और सुन्दरता को उजागर करते हुए व्यवहार में उसकी अन्त-र्मुखता और निष्क्रियता को सामने ला देते हैं और दोनों की टकराहट से एक विचित्र प्रभाव पैदा करते हैं। अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि सभी लम्बी कविताओं के रचना-विधान में मिथक की अनिवार्यता घोषित करना उचित न होगा। हां, लम्बी कविताओं के रचना-विधान में मिथक एक महत्वपूर्ण आयाम है।

डा० रामनाथ तिवारी

राम का आधुनिक मिथक : नयी कविता

कुछ आधुनिक आलोचकों का विचार है कि आज का मनुष्य और उसका काव्य मिथक से पूरा मुक्त हो गया है। आधुनिक और वैज्ञानिक यथार्थ की अभिव्यक्ति तभी हो सकती है, जब मिथक का नामोनिशान न रहे। इस शिविर के आलोचकों ने सांस्कृतिक परंपरा के प्रति भी अपनी नाराजगी प्रकट की है। एक हद तक यह बात सही है कि पौराणिक कथाओं या पुराने मिथकों का समकालीन जीवन में पुराना महत्व समाप्त होता जा रहा है। फिर भी आधुनिक मनुष्य उन मिथकों की ओर उन्मुख होता है और उन्हें जीवन को नयी संवेदना के अनुरूप बदल कर पेश करना चाहता है, तो इस पर समसामयिकता केभी कुछ दबाव प्रतीत होते हैं। आज भी हम मनु-श्रद्धा, पुरुरवा-उर्वशी, यम-नचिकेता, ब्रह्मराक्षस-ओरांग ओटांग आदि के मिथकों की ओर क्यों बढ़ते है और ये किस प्रकार हमारी आज की अनुभूति में घुल जाते हैं—इस पर विचार करना होगा। मनुष्य के मन में उसके सास्कृतिक मिथकों का प्रभाव बहुत गहरा है, क्योंकि वह अपनी परंपरा से, अगर वह चाहे भी तो, बिल्कुल तोड़ कर अपने को अलग नहीं कर सकता। मानवीय बोध का एक बड़ा क्षेत्र बौद्धिकता, विश्लेषण अथवा विज्ञान के साथ-साथ, मिथक, संवेग, कविता और कला से सम्बन्ध रखता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि काव्य-प्रक्रिया बुनियादी तौर पर यथार्थवादी मिथकीयकरण की प्रक्रिया है। मिथकों और इनसे जुड़े प्रतीकों-आद्यबिंबों को कविता से बहिष्कृत करना असम्भव है।

मिथक ग्रीक भाषा का एक शब्द है। यह 'मुथोस' से विकसित हुआ है। इसका प्रारंभिक अर्थ था शब्द एवं बाद में यह 'गल्प' के रूप में व्यवहृत होने लगा। यद्यपि होमर ने 'मुथोस' और 'लोगोस' को पर्यायवाची माना है, किंतु

बाद में मिथक का अर्थ 'मिथ्याकथा' या 'गप्प' एवं लोगोस का अर्थ 'सच्ची कथा' हो जाता है। अरस्तू के वक्त तक ये दोनों शब्द एक-दूसरे के विपरीतार्थी हो जाते हैं। योरपीय भाषाओं में भी 'मिथ' का प्रचलित अर्थ बन गया अवास्तविक या निराधार कथा। फिर भी योरपीय भाषाओं में मिथक के सम्बन्ध में काफ़ी चर्चा हुई। हमारे यहां 'पुराकथा', 'पुराण' या पुरावृत को लेकर इतनी व्यापक चर्चा नहीं हो पायी। बहुत कुछ अंधकार में डूबा रहा।

मिथक की आलोचना मानव जीवन के विभिन्न प्रसगों एवं अध्ययन शाखाओं के संदर्भ में हुई है। मिथक और स्वप्न का सादृश्य स्थापित करते हुए मिथक को मानव जाति का सामूहिक अनुभव माना गया और स्वप्न को एक व्यक्ति की सुप्त आकांक्षा की अभिव्यक्ति। मिथक को प्रागैतिहासिक घटना या आस्था से भी जोड़ा गया, जबकि यह स्थापना गलत है। मिथक का मानव-जीवन की सांस्कृतिक प्रक्रिया में निरंतर विकास होता रहा है एवं आदिमकाल से आधुनिक मनुष्य तक इसकी एक निश्चित भावनात्मक पद्धति मिलती है। कार्ल युग ने माना है कि ऐतिहासिक चेतना के विकास के साथ ही मिथकीय चेतना विलुप्त होकर केवल सस्कार मात्र या सामूहिक अवचेतना रह जाती है। मिथक कोई कोरी कल्पना नहीं है, एव इसका सम्बन्ध जीवन के सत्य से है। यह जहां महाकाल की शाश्वत अभिव्यक्ति है, वहीं क्षण की भी। काल में परिर्वत्तन के साथ एवं मनुष्य के जीवन में सामाजिक विकास के साथ भी मिथक के रूपों में निरंतर विकास होता रहता है।

मिथक हमारी सांस्कृतिक चेतना को पुनर्जीवित और पुनर्व्याख्यायित करने में कहाँ तक उपयोगी है? वस्तुतः मिथकों की काव्यात्मक व्यंजकता ही असीम संभावनाओं का स्रोत है। काव्य के पात्र, बिंब, संवेदना, विचार आदि लोकमानस की मिथकीय जमीन के ही अभिव्यक्त रूप बन कर आते हैं और इन्हें आधुनिक संस्पर्श से एक नयी दिशा मिलती है। मिथक के अर्थतत्त्व एवं जीवन के अर्थतत्त्व के बीच मेल इसी सर्जनात्मक प्रक्रिया के अंतर्गत होता है। अब सवाल उठाना चाहिए कि रामकथा को इतिहास माना जाये अथवा मिथक? इतिहास एक प्रामाणिक और वास्तविक घटनाचक्र का दस्तावेज होता है, जो सम्पूर्ण रूप से तथ्यों पर आधारित रहता है। उसमें कल्पना अथवा भावना का कोई स्थान नहीं है। जबकि मिथक में कल्पना और भावना सर्व प्रमुख होती है। प्राचीनकाल मे अतिकल्पना एवं अध्यात्मिक भावना का अधिक महत्व था; पर आधुनिक काल में सृजनात्मक कल्पना एवं भौतिक भावना का स्थान ऊँचा हो गया है। मिथक किसी इतिहास का अतिक्रमण नहीं करता, अपितु इतिहास के ही गहन भावनात्मक रूप की अभिव्यक्ति करता है।

इतिहास ही मिथक में रूपांतरित हो जाता है और यह रूपांतरण काव्य की जमीन पर होता है, अतः यह जीवन से भी संयुक्त रहता है, क्योंकि काव्य मानवीय जीवन का ही कलात्मक रूप है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की मूल सामग्री ऐतिहासिक है, लेकिन महाकाव्य के रूप में उसमें कितना इतिहास है कितना मिथक—यह विश्लेषित करना कठिन है। लेकिन यह स्पष्ट करना मुश्किल नहीं है कि इनके मिथक ऐतिहासिक चेतना के विपरीत नहीं हैं। काव्य में वर्णित होने के कारण इसमें रूपांतरण अवश्य हुआ है और यह उस युग की ठोस परिस्थितियों के दबाव के कारण हुआ है।

पश्चिमी विद्वानों में लैसन, वेबर या याकोनी ने राम-कथा को मिथक माना है, पर उनका उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि यह मिथक कपोल कल्पना का ही पर्याय है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान आलोचक राम-कथा को ऐतिहासिक सत्य मानते है। पर मेरा मत यह है कि किसी भी प्राचीन काव्य अथवा धर्मग्रन्थ में वर्णित सारी घटनाएं न पूर्णतः ऐतिहासिक होती हैं, न पूर्णतः कपोल कल्पना। अपने संक्षिप्त ऐतिहासिक रूप से प्रारम्भ होकर वे घटनाएं पात्र एवं विवरण के माध्यम से धीरे-धीरे विकसित होकर मिथक बन जाती हैं और इनमें विविध युगों के जातीय अनुभव समाहित हो जाते हैं। अज्ञेय रामकथा को ऐतिहासिक मानते हुए भी उसमें छिपे जीवन स्तर को कृषि सम्बन्धी मिथक के रूप में ग्रहण करते हैं। उनका कहना है—'वास्तव में रामलीला का सम्बन्ध कृषि-चक्र से आरम्भ है और रामकथा का स्तर और कदाचित् सबसे गहरा स्तर कृषि सम्बन्धी मिथक को अपने अन्दर छिपाए हुए हैं। रामकथा के नायक का ही नहीं, सभी प्रधान पात्रों के नाम भी इसी ओर संकेत करते हैं। सबसे पहले सीता, राम, हनुमान की वृहत्रयी को ही लें। राम का एक अर्थ खेत भी है। सीता, हम जानते हैं कि, हल से पड़ी हुई एक लीक को भी कहते हैं। हनुमान टेढे घुटनों वाला हल है। खेत, लीक और हल कृषि कर्म के मूल में हैं। जनक पिता अथवा प्रजापति है—केवल सीता के ही पिता नहीं हम जानते हैं कि कृषि-वर्ष के आरम्भ में खेत में पहली लीक डालना प्रजापति का ही काम था। दूसरे पक्ष में प्रतिनायक रावण—रुलाने वाला सूखा। कुंभकर्ण, मेघनाथ, इन्द्रजित नाम भी वर्षा से सम्बन्ध रखते हैं और कदाचित् काल मेघों या अवृष्टि मेघों की ओर संकेत करते हुए रावण के साथ जुड़ जाते हैं। अहल्या जो हल चलाने के योग्य नहीं है, इन्द्र के अत्याचार से वह अहल्या होती है और राम के संस्पर्श से पुनः शापमुक्त होती है।' कृषि सम्बन्धी व्याख्या के अतिरिक्त राम-रावण युद्ध की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी हुई है, जिसके अनुसार राम 'सुपर

इगो' के प्रतीक एवं रावण 'लिबिडो' या काली छायाओं का प्रतीक है। यह लड़ाई सत् और असत् प्रवृत्तियों और सामाजिक शक्तियों के बीच भी है।

आधुनिक राम-काव्य ऐतिहासिक रूप से विकसित राम के मिथक पर आधारित है, जो नये युग के भावबोध, समस्याओं एवं चिन्तन धारा को व्यक्त करता है। 'साकेत', 'कैकेयी', 'विदेह', 'राम राज्य', 'साकेत सन्त', 'राम की शक्ति-पूजा', 'संशय की एक रात', 'अग्निलीक', 'शंबूक' आदि कृतियों में राम की मिथकीय अभिव्यक्ति में ऐतिहासिक चेतना का विकास भी प्रतिध्वनित होता है। यह जातीय चेतना के नवोत्थान और सामाजिक परिवर्तन की कथा भी है। मिथक हमारी जातीय संस्कृति से जुड़ने का सबसे सशक्त माध्यम है और आधुनिक कवियों ने इस माध्यम को अपनाया है, भारतीय जीवन के मूल्यबोध को पूरी अर्थवत्ता के साथ रूपांतरित और विश्लेषित किया है। फलतः रामकथा हमारी आधुनिक अन्तरात्मा और भावधारा के काफी निकट पहुँच गई है। यहां निराला के बाद नयी कविता के उन्नायकों की कुछ उन कृतियों की हम विवेचना करेंगे, जो राम के मिथक पर आधारित हैं। नयी कविता आंदोलन ने जिस प्रकार मानवीय संवेदना को नयी सृजनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया, राम-कथा को भी आधुनिक जीवन के नये संदर्भों में व्यक्त किया। राम के माध्यम से हमने मनुष्य के नये जीवन मूल्यों की तलाश का प्रयत्न किया। अतः राम का अन्तर्द्वन्द्व वस्तुतः नये मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व का प्रतिबिंब बनकर उपस्थित हुआ।

सबसे पहले 'संशय की एक रात' को लें। नरेश मेहता का यह काव्य-नाटक युद्ध और शांति को मुख्य विषय बना कर एक ऐसे समय लिखा गया, जब देश सचमुच युद्ध मोर्चे पर खड़ा था। इस कृति पर नेहरू-युग की मानसिकता का गहरा असर है। इसमें निराशा की गहरी अभिव्यंजना है और किसी रूढ़िग्रस्त आलोचक के लिए यह बर्दाश्त करना कठिन हो जायेगा कि मर्यादा पुरुष राम आधुनिक कलम द्वारा इतने कमजोर एवं निराश बना दिये जायेंगे और साधारण आदमी के रूप में चित्रित किये जायेंगे। राम युद्ध को व्यक्तिगत परिणाम मानते हैं। सीता का हरण उनका व्यक्तिगत मामला है। वनवास के कारण वह परिवार को दुखी कर चुके थे, अब इस जनसंहार से पूरे समाज पर सङ्कट था। राम के सहयोगी जामवंत अथवा हनुमान इस सोच से सहमत नहीं थे। वे युद्ध चाहते थे ताकि अत्याचारी-साम्राज्यवादी रावण का अन्त हो और सीता की मुक्ति हो। राम की पलायनवादी मानसिकता इन शब्दों में व्यक्त होती है—

मैं सत्य चाहता हूँ
युद्ध से नहीं
खड्ग से भी नहीं
मानव का मानव से सत्य चाहता हूँ।

नयी कविता में मानवीय सम्बन्ध को गतिशील करने के लिए मानवतावादी मूल्यों की स्थापना हो चुकी थी। ये युद्ध के विरोधी मूल्य थे, शांति के पक्षधर। पर यह मानवतावाद जनतन्त्र की सच्ची अवधारणा में विश्वास करता था, इसलिए राम बहुमत से पारित मन्त्रिपरिषद के इस निर्णय के आगे अपना सिर झुका देते हैं कि युद्ध करना आपत् कर्त्तव्य है। लक्ष्मण अन्याय के विरुद्ध युद्ध को अनिवार्य मानते हैं। राम में उनकी आस्था है, पर यह आस्था अन्धी नहीं है। यह उस विवेक का लक्षण है, जब आधुनिक मनुष्य अपने तर्क और बौद्धिकता से अपनी विजय-यात्रा पर निकलता है, उसकी राय का महत्व होता है। लक्ष्मण इसी शक्ति से राम का विरोध करते हैं और इस काव्य-नाटक में उनका अन्ध अनुगमन नहीं करते। वह पौरुष और कर्म के प्रतीक के रूप में उभरते हैं। वह कहते हैं—

ब्रह्मलेख को भी मैं
बाणों की चुनौती ही देता
यदि वह
राम के माथे पर बनता
चिन्ता की रेखा।

लक्ष्मण को किसी अदृश्य सत्ता या नियति पर विश्वास नहीं है। उन्हें अपनी प्रजा और शक्ति पर विश्वास है। वह किसी प्रकार के संशय से ग्रस्त नहीं हैं। वह कर्म से फल प्राप्ति करने में विश्वास करते हैं, अतः उनका चरित्र शौर्य का प्रतीक बन जाता है। दूसरी ओर हनुमान साधारण जन के दुख और अधिकारों के प्रतिरूप हैं, इसलिए उनके लिए युद्ध उनके आत्म-अस्तित्व का सवाल है। हनुमान राम के इस कथन से अपने को सहमत नहीं कर सकते कि सीताहरण राम की निजी समस्या है। यदि ऐसा होता तो करोड़ों आदमी सेतु क्यों बनाते, जातिभेद भूल कर राम के पक्ष से क्यों खड़े होते और रावण के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अति सहज ढंग से क्यों तैयार हो जाते। निश्चय ही वह उनकी अपनी मुक्ति का भी प्रश्न है। सीता साधारण जन की अपहृत स्वतन्त्रता का प्रतीक बन जाती है। हनुमान साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध मानवीय दासता के विरुद्ध स्वतन्त्रता और अधिकार भावना से प्रेरित विद्रोही जनशक्ति के प्रतीक बन जाते है। युद्ध से होनेवाली हानियों

के भय से न्याय एवं अधिकार की लड़ाई बन्द कर देना उन्हें स्वीकार नहीं। विभीषण भी युद्ध की अनिवार्यता को मानते हैं। वह समष्टि कल्याण के हक में अपने व्यष्टि का विलय कर देते हैं। वह राजभक्ति और न्यायभक्ति के द्वन्द्व से पीड़ित हैं, अंततः वह सत्ता के विरुद्ध सत्य और न्याय का पक्ष लेते हैं। किंतु समूचे काव्य नाटक का सर्वाधिक मार्मिक स्थल वहां है, जहाँ राम का अन्तर्द्वन्द्व मानवतावाद की भूमि पर खड़ा होता है और उनका संशय आधुनिक मनुष्य द्वारा सभ्यता के मूल्यों के प्रति संशय में बदल जाता है। वह सोचते हैं—

हम अपनी समस्याएं लिए
भटके सार्थ के
टूटे हुए संदर्भ हैं।

'संशय की एक रात' नयी कविता के मूल्यगत अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति बन कर आती है और कवि ने बहुत सुन्दर ढङ्ग से व्यष्टि के सत्य को सामाजिक सन्दर्भ में रख कर विकसित किया है। वह अहंवादी न होकर समष्टिवादी बन गया है। उसकी एक अन्य मिथकीय कृति 'शबरी' है। यह अनाथ शूद्र स्त्री को आधार बना कर लिखा गया ऐसा मिथकाव्य है, जिसका आधुनिक मिथक दृष्टि के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य अपने श्रम के बल पर वर्ण एवं वर्ग विषमता से मुक्त हो जाता है और सामाजिक जीवन में अपना स्थान बना लेता है—इस कृति का यही कथ्य है। तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में समाज के अतिसाधारण पात्रों की जीवन संवेदना को अधिक अभिव्यक्ति नहीं दी, पर आधुनिक युग में कई उपेक्षित पात्रों को वाणी मिली। नरेश मेहता ने लिखा है—'एक व्यक्ति किस प्रकार अपने चैतन्य की रक्षा इस सामूहिक जड़ता से कर सकता है, यह प्रश्न आदि कवि के युग में भी ज्वलन्त था तथा आज के वर्ग व्यवस्था वाले समाज में भी जीवन्त समस्या है। वाल्मीकि ने सामाजिक वर्ण-व्यवस्था से ऊपर व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वत्व एवं असंगकर्म को प्रतिष्ठित किया। और शबरी वही बीज चरित्र है। कवि की मानवीय दृष्टि ने ही शबरी के साधारणत्व को असाधारणत्व प्रदान किया।' नरेश मेहता ने शबरी की रचना में आधुनिक समय सन्दर्भ पर विशेष ध्यान दिया है और उसे प्रासंगिक बनाने का प्रयास किया है।

शबरी वनवासी स्त्री है। उसका परिवार पशु हिंसा से जीवन व्यतीत करता है। वह अपने ऐसे परिवार में हमेशा घुटन का अनुभव करती है —

घोर वितृष्णा घिर आयी
श्रमणा शबरी के मन में

त्यागो यह परिवार मोह
यदि करना कुछ जीवन में

शबरी जीवन के नये कर्त्तव्य बोध से प्रेरित होकर मतंग ऋषि के आश्रम में तपस्या करती है। उस पर पतिता एवं भ्रष्ट होने के आरोप लगते हैं, किंतु वह अपने नारी-अधिकारों को अर्जित करने के मार्ग से विचलित नहीं होती। यहां तक कि उसके पति के पास शिकायत पहुँचती है। राम के दर्शन के बाद उसका चरित्र उज्ज्वलता के शिखर पर पहुंच जाता है। शबरी भक्तिभाव से उन्हें बेर खिलाती है। उपस्थित जनता जयजयकार करती है। इस प्रकार शबरी अपनी वर्ण-स्थिति, वर्ग-स्थिति और इन्हीं रूपों में नारी स्थिति की जड़ता से मुक्त हो जाती है। वह गतिशील सामाजिक व्यवस्था का अंग बन जाती है। इस काव्यकृति में कवि की सृजनशीलता उभर नहीं पायी है। इसलिए यह एक कमजोर कृति बन गयी है, क्योंकि इसमें मिथक की उस भावनात्मक गहनता का कोई पता-ठिकाना नहीं है, जो कविता को स्थूल कथात्मकता के दायरे से मुक्त करती है।

कृषि-जीवन राम के राज्य में चरम विकास पर था। राम इस सभ्यता के प्रणेता थे। पूंजीवादी रावण इस कृषि-सभ्यता की जड़ खोद देना चाहता था। वह अपने साम्राज्य का महल शोषण और उत्पीड़न की नींव पर स्थापित करना चाहता था। उसने प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार कर लिया था और स्वयं अपना जीवन भोग-विलास के साथ बिता रहा था। शिवमंगल सिंह सुमन की कविता 'जल रहे हैं दीप जलती है जवानी' में राम के रूप में नयी कृषक-चेतना का ही आह्वान किया गया है। रावण कृषि-सभ्यता को विनष्ट कर देना चाहता था, इसीलिए राम और रावण के बीच युद्ध हुआ। राम और रावण का यह युद्ध एक प्रकार का वर्ग-संघर्ष है – सर्वहारा और बूर्जुआ के बीच का संघर्ष। इस संघर्ष में जनता का पक्ष विजयी होता है। शोषण पर आधारित व्यवस्था समाप्त होती है और समता पर आधारित राम-राज्य की स्थापना होती है। राम राज्य की कल्पना को ठोस रूप देते हुए, जनता किस प्रकार रावण के अत्याचार के विरुद्ध लड़ रही थी, इसका मार्मिक चित्र उक्त कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'नयी थी कामना, नव भावना, संदेश नूतन था
नयी थी प्रेरणा, नव कल्पना, परिवेश नूतन था
नया था मोल जीवन का, विषमता ध्वस्त करने का
नया था कौल मानव का, धरा को मुक्त करने का।'

भारतभूषण अग्रवाल भी नयी कविता के कवि हैं। उनके एक काव्य-नाटक का आलेख 'अग्निलीक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। यह पूरा नहीं हो सका, फिर भी इसमें राम के मिथक के अविच्छिन्न अंग सीता की मनोव्यथा एवं त्यागभावना का सुन्दर चित्र मिलता है। इस काव्यकृति में रथवान सीता को अयोध्या ले जाने के लिए वाल्मीकि आश्रम आता है। राम अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। आश्रम में आकर रथवान को पुरानी घटना याद आती है। वह राम को साम्राज्यवादी एवं प्रजा पर अत्याचार करने-वाला मान कर परित्यक्त सीता का पक्ष ग्रहण करता है। रथवान जनवादी विचारधारा का वाहक है। वह शोषक-उत्पीड़क वर्ग का विरोध करता है। दूसरी ओर राजपुरुष सरकारी आज्ञा का गुलाम है, इसलिए वह राम की सरकारी नीतियों का समर्थक है। यहाँ राम राज्य का एक भिन्न रूप वर्णित है। सीता को पता चलता है कि राम के यज्ञ में राम के साथ उसकी सोने की प्रतिमा रखी गयी है, तो उसे भीषण दुःख होता है। दिग्विजय के लिए निकली राम की सेना जब आश्रम के निकट पहुँचती है, तो सीता को यह दिग्विजय आडम्बर प्रतीत होती है। एक वीर आदिवासी चरण सीता के पास आकर राम के दम्भ के कारण उत्पन्न सामाजिक दुष्परिणामों की जान-कारी देता है। सोलह वर्षों का कलंकित वनवासी जीवन व्यतीत करने के बाद सीता अयोध्या जाकर अपने को निष्कलंक प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। उल्टे वह विक्षोभ से भरी हुई है। वह कहती है—

इतने बड़े राम राज्य में
आज मुझसे ज्यादा निरुपाय कोई नहीं।
अब मैं जीकर क्या करूँगी
अब तो मरण ही मेरी मुक्ति है।

युगीन मनःस्थिति के विकास के साथ राम के मिथक में काफी परिवर्तन हुआ। वह साधारण आदमी की जिंदगी के अधिक करीब आ गये। नयी कविता में मानवीय मूल्यों की रक्षा के भाव ने एक प्रगतिशील दिशा पकड़ ली और राम का मिथक प्रगतिशील चेतना का वाहक भी बन गया। परम्परागत नैतिक मूल्यों की रूढ़िग्रस्तता के विरुद्ध आधुनिक मनुष्य में एक तीव्र विक्षोभ मिलता है। सीता इस विक्षोभ को मूर्त्त रूप देते हुए सोचती है—

'और मैं सबके संकेतों पर चलती रही—
अपनी निष्ठा की चादर ओढ़े
अपने प्यार का दीप जलाये
अब मैंने वह चादर उतार फेंकी है
और वह दीपक फूंक मार कर बुझा दिया है।'

सीता का यह तेजस्वी, आत्मनिर्भर एवं नारी अधिकारों को मूर्त रूप देने-वाला व्यक्तित्व राम के मिथक की परंपरा को जबर्दस्त चुनौती है। यह नये युग का नयी करवट बदलना भी है। सीता राम के राजतन्त्र की कटु आलोचना करती है। इस काव्यकृत्ति में राम अन्त में जाकर अपनी गलती स्वीकारते हैं। वह सीता को महान तथा स्वयं को गलत पथ का राही घोषित करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि प्रेम, सत्य एवं मुक्ति के रूप में ही उदात्त मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। वह समझ जाते हैं कि जीवन की सच्ची अनुभूति ही अन्धेरे युग की अकेली अग्निलीक है। सीता उस सच्ची अनुभूति की प्रतीक है। सीता के मरने के बाद राम के व्यक्तित्व में सचेतनता आती है। वह पश्चात्ताप व्यक्त करते हुए कहते हैं—

मैंने एक गुप्तचर का संवाद सुना और पत्नी को त्याग दिया
यह नहीं जाना कि क्या प्रजा यही चाहती थी
मैंने पंडितों से मंत्रणा की और शंबूक को मार डाला
यह नहीं सोचा कि अकाल और तपस्या का क्या सम्बन्ध
हो सकता है।

युग-चेतना में परिवर्तन मिथक के स्वरूप में भी परिवर्तन लाता है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि रावण जैसे पात्र भी कवि की संवेदना के वाहक बन जाते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी की एक कविता 'प्रेमी रावण' में रावण को एक सच्चे प्रेमी के रूप में और राम को यशलोलुप के रूप में चित्रित किया गया है। रावण के हृदय में सीता के प्रति निश्छल प्रेम है, इस मौलिक उद्भावना के साथ कवि एक सर्वथा अछूते प्रसंग को अपनी कविता का विषय बना लेता है। राम अपनी प्रतिष्ठा के लिए सीता को चाहते हैं और रावण अपकीर्त्ति का खतरा उठा कर सच्चे हृदय से उसे चाहता है—यह कवि ने दिखलाया है। सीता स्वयं लक्ष्मण रेखा लांघ कर रावण के पास गयी एवं पुष्पक विमान में जा बैठी। उसके मन में भी रावण के प्रति आकर्षण था। पर इतिहास इसकी उल्टी कथा कहता है। कवि इतिहास के कथन से रावण की प्रेम भावना को बड़ा मानते हुए लिखता है—

जो इतिहास लिखें वे लिख लें, रावण का आनन काला था।
प्रेमी तो यह समझ सकेंगे, उसके उर में उजियाला था॥

तानाशाही शासन-व्यवस्था के दमन-चक्र के परिप्रेक्ष्य में हरीश भादानी की कविता 'जटायु' भी राम के मिथक में एक नया मोड़ है। इस कविता में सीता को धरती की पुत्री माना गया है, जिसे रावण हर ले गया है। रावण एक ऐसा तानाशाह है, जो जनता की आकांक्षाओं का दमन करता है। जटायु

जनता का पक्षधर है। वह धरती की पुत्री की रक्षा करते हुए रावण के वार से घायल हो जाता है। जटायु को विश्वास है उसका संघर्ष निष्फल नहीं जायेगा। जनता अपनी धरती को पुनः मुक्त करायेगी। रावण के यहां कैद स्वाधीनता मुक्त होगी और एक नया समाज निर्मित होगा, जो जन साधारण की आशा और आकांक्षाओं का ही प्रतिबिंब होगा। हर कपट-झूठ का प्रतिवाद करते जटायु का कहना है—

रच लिए गए कपट का
मैं पहला विरोध : जटायु।
चुप होने से पहले
तुमसे बोल रहा हूँ
सिर्फ देह टूटी है
त्रिशूली सत्ता से लड़ते रहने का
मेरा धर्म नहीं टूटा है।

राम के मिथक के विकेन्द्रीकरण का प्रमाण यह है कि अब सिर्फ राम के व्यक्तित्व को ही केन्द्र में रख कर कविता रचना नहीं होती, बल्कि साधारण उपेक्षित पात्रों को केन्द्र में रख कर उनके चरित्र और संवेदना का इस प्रकार उद्घाटन किया जाता है कि राम का वास्तविक चेहरा भी लोगों को दिखाई पड़े। इससे राम का पुराना मिथक टूटा है और उनका यथार्थवादी मिथक सामने आया है। जगदीश गुप्त की काव्यकृति 'शम्बूक' में एक नयी सामाजिक चेतना के उदय का संकेत मिलता है। वाल्मीकि और भवभूति ने शंबूक-वध के प्रसंग को अपनी रामकथा में स्थान दिया है, पर तुलसीदास ने इस प्रसंग को 'रामचरितमानस' से निकाल दिया है। कवि ने शंबूक के पुराने मिथक को समकालीन जाति-समस्या के संदर्भ में एक नया अर्थ देने का प्रयत्न किया है। यह कविता समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था का मुखौटा उतार देती है और एक मानवीय व्यवस्था निर्मित करने का आह्वान करती है। 'शबूक' की रचना का क्या उद्देश्य है, इस सम्बन्ध में कवि खुद कहता है—'निराला ने तुलसीदास लिख कर जिस प्रकार उनके व्यक्तित्व को विद्रोहात्मकता के द्वारा प्रणम्य बनाया, वह मुझे अस्वाभाविक या अविश्वसनीय नहीं लगता है। जो विद्रोह किसी आस्था की धरती से नहीं उठता, वह हवा में गुब्बारे की तरह निरर्थक होकर खो जाता है। शंबूक का विद्रोही स्वभाव उन गहरे मानव-मूल्यों की उपज है, जिसके आधार पर नई कविता के आंदोलन काल में नये मनुष्य की परिभाषा निर्मित हुई थी।' शंबूक ऐसे ही नए मनुष्य का प्रतीक

बन कर आता है, जो अपनी नियति को बदलने के लिए कृतसंकल्प है। इस कृति में कवि मनुष्य को किसी दैवी शक्ति के सम्मुख नतशिर नहीं होने देना चाहता, पर वह आध्यात्मिक मूल्यों को बिल्कुल नकारता भी नहीं है। यह नयी कविता की एक सीमा है।

कथा में एक ब्राह्मण राम से कहता है कि एक शूद्र के तप करने के कारण उसके बेटे की मृत्यु हो गई है, अतः उसका वध करके बेटे को जीवित किया जाये। राम यह कथन सुन कर शंबूक को सजा देने के लिए निकल पड़ते हैं। पुष्पक विमान से यात्रा के क्रम में ही उन्हें कई बीती घटनाएं याद आती हैं। वन की ओर एक राजा के वेश में जाकर उन्हें इसकी स्मृति हो आती है कि कभी वह आम आदमी की तरह इसमें वनवास भोग रहे थे। वनदेवता जन प्रतिनिधि के रूप में राम को चेतावनी भी देता है कि शासन की लम्बी-चौड़ी योजनाएं अभी तक भूखे जनों तक नहीं पहुँच पायीं। राम के शासन की व्यर्थता की ओर इशारा करते हुए कवि ने समकालीन शासन-व्यवस्था पर भी चोट की है। अंततः राम की मुलाकात शंबूक से हो जाती है। शंबूक उपेक्षित और प्रताड़ित वर्ग का प्रतिनिधि है। राम सत्ता और व्यवस्था के प्रतीक हैं। राम लोकोपवाद की रक्षा के लिए तत्पर हैं, जब कि शंबूक एक नयी परंपरा का आरंभकर्त्ता एवं समता की भित्ति पर आधारित समाज व्यवस्था का उद्घोषक है। शंबूक व्यक्ति स्वाधीनता, सामाजिक न्याय, त्याग और धर्म आदि विषयों पर अपने प्रभावशाली तर्क उपस्थित करता है। एकाधिकारवादी शासन पर व्यंग करते हुए कहता है—

करे न्यायालय
तुम्हारा मत सदा स्वीकार
बस यही है क्या
तुम्हारे न्याय का आधार ?
व्यक्तिगत निर्णय
सभी को मान्य हो हर बार
क्या यही होगा
तुम्हारी नीति का व्यवहार ?

'भूमि पर फिर भूमि की सन्तान करे शासन, श्रम बने श्रीमान' की उद्घोषणा करनेवाला शंबूक जनता के अधिकारों के लिए अलख जगानेवालों का प्रतीक बन जाता है। हत्या के बाद शंबूक का छिन्नशीश राम से कहता है कि किसी शूद्र के तप से ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु मात्र एक प्रवंचना है, जो किसी निहित स्वार्थ से प्रेरित वर्ग द्वारा फैलायी गई है। वह हिंसा को मानव

न्याय का आदर्श मानने से इन्कार कर देता है। एक तरह से वह फांसी का विरोध करता है। अहिंसक उपायों द्वारा दण्ड व्यवस्था बनाने एवं सम्पूर्ण व्यवस्था-परिवर्तन की बात करता है। उसके विचार में तप और त्याग किसी का अकल्याण कैसे कर सकते हैं। वह राम की वध-नीति की निंदा करता है और उनसे विवेकसम्मत न्याय पर चलने का आग्रह करता है। वह स्पष्ट कर देता है कि उसके तप से ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु नहीं हुई, बल्कि सांप के काटने से हुई। शासन की निरंकुशता को चुनौती देनवाला शंबूक एक नयी व्यवस्था के सूत्रपात का संकेत भी देता है, जहां व्यक्ति को सम्मान मिलेगा, साथ ही हर तरह के सामाजिक-आर्थिक शोषण का अन्त हो जायेगा। कवि मानो अपने ही युग के शासक वर्ग को इंगित करके कहता है—'हे राम! / तुम्हारी रची / रक्त की भाषा में / हर बार तुम्हीं से कहता है / शंबूक मूक / तज कर्म-वेद पथ / वर्ण-भेद पथ—/ अपनाकर/मानव समाज की / ऊर्ध्वमुखी मर्यादा में / तुम गये चूक।' जगदीश गुप्त का 'शंबूक' नयी कविता की व्यक्ति-स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा एवं सामाजिक-राजनैतिक मूल्यों के मानवीय विकास की कथा कहता है।

शिवदान पाण्डेय

मिथकीय उपन्यासों की जनोन्मुखता

हिन्दी के कई उपन्यास ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं, किन्तु इनमें जीवन की व्याख्या नवीन ढंग से की गई है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में औपन्यासिक कथानक का रिश्ता मानवीय जीवन से स्थापित होने लगा था, अतः मिथक भी आधुनिक जीवन की समस्याओं से जुड़े। ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसंगों को औपन्यासिक रचना बनाने के पीछे राष्ट्रीय संस्कृति की विरासत को नया रूप देने का उद्देश्य निहित था। इसके पीछे जातीय पुनरुत्थानवादी चेतना भी काम कर रही थी। अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के उद्देश्य से जिस कथा साहित्य की रचना हुई, उसमें आधुनिक जीवन की आलोचना न होकर पुराने विवरणों की सजावट अधिक होती थी। ऐसे उपन्यास धार्मिक पुनर्जागरण के स्वर को उग्र रूप देते हैं तथा राष्ट्रीय चेतना के खंडित स्वरूप को व्यक्त करते हैं। किंतु ऐसे भी उपन्यासकार हुए जिन्होंने मिथकीय प्रसंगों को अपने उपन्यास का आधार इसलिए बनाया कि उन्हें राष्ट्रीय जीवन के बदलते सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करना था। ऐसे उपन्यास इतिहास और कल्पना के कलात्मक सम्मिश्रण से न केवल रोचक कथा उपस्थित करते हैं, बल्कि ऐसे पात्रों को वाणी प्रदान करते हैं, जो अतीत में अपरिचित रह गये थे, पर जनचेतना के प्रसार के साथ जिनकी आधुनिक सार्थकता बढ़ गयी थी।

राहुल सांकृत्यायन उपन्यास के मिथकीय आधार को प्रगतिशील जीवन-सन्दर्भो से जोड़ने में मुख्य भूमिका अदा करते हैं। 'वोल्गा से गंगा' या 'जय योद्धेय' में राहुल ने उपन्यास के ऐतिहासिक आधार की रक्षा की है, पर

अपनी कल्पना से उसे भावात्मक रूप दे दिया है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध गणराज्य की प्रतिष्ठा करके उन्होंने इतिहास को आधुनिक मिथक में रूपांतरित कर दिया। इतिहास की विकासशील प्रक्रिया को रेखांकित करने के लिए ही राहुल ने साम्राज्यवाद के विध्वंस की परिकल्पना प्रस्तुत की। रांगेय राघव की औपन्यासिक कृति 'मुर्दों का टीला' ३५०० वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ो नामक नगर की द्रविड़ सभ्यता के विकास पर आधारित है। इस सभ्यता के विकास के माध्यम से कथाकार ने पूंजीवादी खोखलेपन को उपस्थित किया है। इसमें सामान्य जनचेतना का रूपायन भी हुआ है। उपन्यास में मणिबन्ध और वेणी का वार्तालाप इस स्थिति को स्पष्ट करता है—'मैं इस अपार धन से घृणा करने लगा हूँ। यह सोना मेरी आंखों में आग की लपटों की भाँति जलता है। इसकी भयानक प्यास को मैं कभी बुझा नहीं सका। पहले यह मेरी सम्पत्ति था, आज मैं स्वयं उसकी सम्पत्ति हो गया हूँ, यह मुझे खा जाना चाहता है।' सोना के रूप में पूंजी के प्रति नायक मणिबन्ध की यह धारणा निश्चय ही समाजवादी व्यवस्था की पक्षधर प्रतीत होती है और इतिहास को मिथक में रूपांतरित करने की सक्रियता भी इस धारणा में झलकती है। पूरा का पूरा मोहनजोदड़ो आज की आधुनिक सभ्यता का मिथक बन जाता है। इस मिथक के माध्यम से उपन्यासकार जनशक्ति, मानवीय स्वतन्त्रता और जीवन-अवस्था का भी परिचय उपस्थित करता है। उसके विचार आदर्शवादी हैं। उपन्यास में आधुनिक संकेत जहाँ-तहाँ मिलते हैं, पर इनका सम्यक सुनियोजन नहीं हो पाया है। मिथक के माध्यम से आधुनिक जीवन की जटिलताओं को उभारने के लिए प्रखर शिल्पबोध की जरूरत पड़ती है, वह रांगेय राघव में नहीं मिलता।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ही ऐसे प्रथम उपन्यासकार हैं, जिन्होंने मिथक के आधार पर न केवल गहरा सांस्कृतिक मन्थन प्रस्तुत किया, बल्कि समकालीन जीवन की समस्याओं को भी उभारने का प्रयत्न किया। उनकी मिथकीय दृष्टि सांस्कृतिक है और उपन्यास में अनेक स्थलों पर संवेदना की जगह विद्वत्ता की छाप अधिक दिखाई पड़ती है। मिथकीय कथावस्तु के बावजूद आधुनिक तत्वों को उभारने का उनका प्रयत्न उनके कथा-साहित्य को एक विशेष दर्जा प्रदान करता है। उनके उपन्यासों में आधुनिक कालबोध की अवधारणा नहीं मिलती, लेकिन परंपरा के नवीन रूप का विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मध्यकाल के वर्धन और मौखरि वंश से सम्बन्धित है। इसकी मूलकथा प्रभाकरवर्द्धन के पुत्र हर्षवर्द्धन के जीवन पर आधारित है। कथावस्तु की रचना की प्रक्रिया में द्विवेदी जी ने इतिहास को मिथक में ढालने

और इसके द्वारा जीवन के यथार्थ का चित्र उपस्थित करने का कलात्मक प्रयास किया है। उपन्यास में स्थाणीश्वर के अधिकारी विद्वान आपस में मन्त्रणा करके निर्णय करते हैं कि 'दस व्यक्तियों का एक दल महाराजा से मिल कर अन्याय का प्रतिकार करे।' इस निर्णय पर १९४२ के आस-पास के राष्ट्रीय विद्रोह का स्पष्ट प्रभाव है। नारी के जिस रूप की प्रतिष्ठा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने की है, वह मध्ययुगीन नारी नहीं है, बल्कि बीसवीं सदी की नारी है, जो अपना व्यक्तित्व मिथकीय आयाम में अर्जित करती है। दूसरे रूप में नारी का नया व्यक्तित्व परम्परा का विरोधी नहीं है, बल्कि उसके विकास का प्रतिफलन है। नारी-स्वाधीनता का संकेत महामाया के उस वक्तव्य से मिलता है जो वह सभा में भाषण के रूप में रखती है। महामाया ने स्पष्ट स्वरों में घोषणा की—'प्रजा ने राजा की सृष्टि की है।' यह कथन पराधीन भारत की मनोदशा और राष्ट्रीय आंदोलन की लोकतांत्रिक चेतना को रेखांकित करता है। इस उपन्यास के माध्यम से हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अतीत को दुहराना नहीं, बल्कि अपने वर्तमान को ही सांस्कृतिक चेतना के स्तर पर संप्रेषित करना चाहा है।

'अनामदास का पोथा' मिथकीय दृष्टि में समसामयिक चेतना से अधिक लैस है। इसकी कथा छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों से ली गई है, पर इसमें मुख्य स्वर आधुनिक जीवन दर्शन का है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए आधुनिकता सांस्कृतिक चेतना के सन्दर्भ में ही सार्थकता प्रमाणित कर पाती है, अन्यथा नहीं। इस उपन्यास की एक पात्र ऋतंभरा कहती है—'सम्पूर्ण विश्व का रूप ही नर रूप में आराध्य है। खंड दृष्टि से नहीं, पूर्ण दृष्टि से देखना ही वैश्वानर की उपासना है।' यहाँ द्विवेदी जी ने सम्पूर्ण मानव के प्रति प्रेम का संदेश और विश्वमैत्री की भावना की पुष्टि की है। राजा जनश्रुति ब्रह्मज्ञान पाना चाहते हैं। उन्हें अपनी प्रजा के बारे में कोई जानकारी नहीं है, न वे जनता के प्रति अपने दायित्व का बोध ही करते हैं। ऐसी परिस्थिति में आध्यात्मिक चिंतन को जनोन्मुख करने की आवश्यकता महसूस की जाती है। रैक्व भगवती ऋतंभरा का सामीप्य पाकर जनसेवा को अपना प्रधान कर्त्तव्य मान लेता है। महर्षि औषस्तिपाद भी कहते हैं—'लोग दुख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए, उनके दुख का भागी बन कर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो।' रैक्व अपनी गाड़ी लेकर जन सामान्य की सेवा में प्रवृत्त हो जाता है। इस उपन्यास में मानवीय सम्बन्धों की आदर्शमूलक प्रतिष्ठा की पृष्ठभूमि में कथाकार की सांस्कृतिक दृष्टि ही प्रधान रूप से काम करती है। कथा के मिथकीय ढांचे को बरकरार रखते हुए हजारी

प्रसाद द्विवेदी ने समसामयिक जीवन की विसंगतियों को उभारने का प्रयत्न किया है ।

मिथकीय उपन्यासों को जनोन्मुख रूप प्रदान करने में नरेन्द्र कोहली का रामकथा पर आधारित उपन्यास एक बड़ी भूमिका निभाता है । इसमें राम के साथ पूरे जनसमाज का स्वर व्यक्त हुआ है । उपन्यास चार खण्डों में है— दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर एवं युद्ध । 'दीक्षा' में उपन्यासकार ने स्वयं स्पष्ट किया है कि 'रामचरितमानस की कथानक सम्बन्धी तर्कशून्यता ने मुझे बहुत उकसाया.....वैसे भी मेरा लक्ष्य अवतार के कारणों का वर्णन न होकर अन्याय का विरोध करना था ।' नरेन्द्र कोहली ने राम के अवतारवाद अथवा लीलाभाव को उपन्यास का केन्द्रीय आधार न बना कर अपने वर्तमान युग की सामाजिक समस्याओं को ही मुख्य आधार बनाया । रामकथा को मध्यकालीन मिथकीय ढांचे से मुक्त कर आधुनिक रूप प्रदान करने की पृष्ठभूमि में कथाकार का जनतांत्रिक आग्रह साफ झलकता है । नये वैज्ञानिक युग में मिथक का कितना महत्व है, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अगर साहित्यकार की दृष्टि सामाजिक चेतना के विकास पर केन्द्रित है, तो वह पुराने मिथक को भी प्रगतिशील रूपाकार प्रदान करता है । पहले के मिथक राजतन्त्रात्मक एवं आध्यात्मिक सत्ता से जुड़े थे, पर नरेन्द्र कोहली ने उपन्यास के क्षेत्र में मिथक को नया जनाधार प्रदान किया । कविता के क्षेत्र में मिथकों को अभिव्यक्ति का मुख्य औजार बनाने का काम काफी पहले से तीव्र था, किंतु उपन्यास में इसे इतना अधिक महत्व दिया जाना अपने आपमें एक नयी बात थी ।

नरेन्द्र कोहली ने रामकथा का आधुनिक सुनियोजन प्रस्तुत किया है, जिससे इसकी सार्थकता नये सन्दर्भ में उजागर हो गई है । रामकथा की यह नई भूमि हमारी चेतना को झकझोरती और इसे नई दिशा प्रदान करती है । नरेन्द्र कोहली के राम पूर्ववर्त्ती रामों से भिन्न हैं । 'दीक्षा' में राम विश्वामित्र के सामने अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहते हैं—'पिता का व्यवहार सदा ही मेरे प्रति ऐसा ही नहीं था । ठीक है कि धनाभाव का कष्ट मुझे या माता कौशल्या को कभी नहीं हुआ, किंतु धनाभाव का कष्ट तो सम्राट की रखैलों और दासियों तक को नहीं होता । मैं एक धनवान पिता की अनचाही संतान के रूप में पला हूँ । जब से मैंने होश सम्भाला है, सदा यही देखा है कि मेरी मां इस राजकुल में साम्राज्ञी होते हुए भी उपेक्षित, पीड़ित तथा दलित व्यक्ति का जीवन जीती रही है । कैकेयी की दासियां मेरी मां से अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती रही हैं ।' यहीं राम साधारण लोगों के बीच चले जाते हैं ताकि

"राजकुमारों के जीवन से हट कर साधारण व्यक्ति के अस्तित्व के, मानापमान के, न्यायान्याय के संघर्ष को' देख सकें। उपन्यासकार ने दशरथ के शासन का चित्र अपने युग के सन्दर्भ में खींचा है—'नगरों से खेदजनक समाचार आ रहे हैं। शासनतन्त्र ढीला हो गया है। भीतर और बाहर के शत्रु सिर उठाने लगे हैं। मानव की पशु प्रवृत्तियां गौरवान्वित हो रही हैं। समाज में जो हिंस्र हैं, दुष्ट हैं, वे ही प्रसन्न हैं, सुखी हैं। सेनानायक और सैनिक लुटेरे हो गये हैं। राजसी व्यवस्था की इस सड़ांध में अपराध के सहस्रों कीटाणु रोज जन्म ले रहे हैं। राज कर्मचारी राजसी वेश उतार कर स्वयं प्रजा को लूट लेते हैं और फिर स्वयं ही न्याय करने के लिए आसन पर बैठ जाते हैं। अथवा अपने भाई-भतीजों को चोरी, डकैती, हत्या एवं बलात्कार करने के लिए उन्मुक्त छोड़ उनकी रक्षा के लिए स्वयं सैनिक पद के लिए बैठे है।' इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद क्या कहीं से भी लगता है कि यह आज की शासन व्यवस्था का चित्र नहीं है ? निश्चय ही रामकथा के परम्परावादी आलोचकों को ऐसा चित्रण अथवा राम के मिथक में इस तरह का जनोन्मुख मोड़ लाना अच्छा प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि वे इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि सामाजिक परिवर्तन के साथ मिथक की अनुचेतना में भी बदलाव आता है।

'अवसर' में अयोध्या की राजनैतिक स्थिति, राजतिलक का प्रस्ताव एवं वनगमन के प्रसंग आधुनिक तेवर के साथ उपस्थित किये गए हैं। उपन्यासकार ने दशरथ का चरित्र एक वृद्ध, कमजोर और भयभीत व्यक्ति के रूप में उपस्थित किया है, जो निर्णय ले पा सकने में सर्वथा अक्षम है। विकट स्थिति में वे अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर कई प्रतिष्ठित राजपुरुषों को गिरफ्तार कर लेते हैं। जिस पद्धति से वे राजतिलक की घोषणा करते हैं, वह पद्धति समाज में विवाद का विषय बन जाती है। यह विवाद ही सामाजिक उथल-पुथल का निमित्त बन जाता है। प्रस्तुत चित्रण में नरेन्द्र कोहली ने अत्यन्त कलात्मक ढंग से समकालीन तानाशाही के वीभत्स रूप का चित्रण किया है। इसके माध्यम से समसामयिक जन-जीवन की भी अभिव्यक्ति हुई है।

इस उपन्यास के राम समतावादी, न्यायप्रिय एवं असुरों के विनाशक के रूप में उभर कर आये हैं। वे राक्षसी सभ्यता के अत्याचारों, शोषण, उत्पीड़न एवं त्रस्त मानवता के उद्धारक एवं रक्षक है। राक्षसी सभ्यता का आधुनिक अर्थ उपनिवेशवादी, पूँजीवादी शासन-व्यवस्था है। राम तानाशाहीपूर्ण शासन का विरोध करते हैं एवं ऐसी शासन-व्यवस्था की भित्ति रखते हैं जो वास्तविक जनतन्त्र पर आधारित हो। वह मानते हैं कि जब तक साधा-

रण जनता स्वयं इन बातों को ठीक से समझ नहीं लेती, तब तक किसी प्रकार का सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं है। वह केवल अपनी विजय के आकांक्षी नहीं, एक सामाजिक क्रांति के आकांक्षी हैं। राक्षसों का मत था कि तपस्वी पुरुषों एवं विद्वानों के संचित ज्ञान से परिचित होकर साधारणजन आसुरी शक्तियों में बाधा उपस्थित करेगा। भारद्वाज का कहना है—'वे नहीं चाहते कि तपस्वियों तथा बुद्धिजीवियों का ज्ञान और बल साधारण जनता को मिले।' राम यह लड़ाई साधारण जनता की लड़ाई के माध्यम से लड़ना चाहते हैं। वह एक संगठन की कामना करते हुए लक्ष्मण से कहते हैं—'सेना विजय दिला सकती है, क्रांति नहीं ला सकती है, जनक्रांति जनजागृति से होती है और उसकी आकांक्षा जनता के भीतर से होती है।' वह जनता को सचेत करके उसका नेतृत्व प्रदान करते हैं।

मिथकीय उपन्यास की जनोन्मुख प्रक्रिया के साथ एक ऐसी आधुनिक प्रक्रिया भी विकसित हुई है, जो जनोन्मुख न होकर आत्मोन्मुख है। गिरिराज किशोर का 'इन्द्र सुनें' एक ऐसा ही उपन्यास है, जो मिथक को सबल सामाजिक आधार नहीं दे पाता। कुल मिला कर हिन्दी उपन्यासों की जनवादी धारा के भीतर ही ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं, जो मिथक की नई, आधुनिक और जनोन्मुख चेतना पर आधारित हैं।

अवधेश कुमार सिंह

मिथक और साहित्येतिहास

साहित्येतिहास की सार्थकता मानव जीवन, कला और संस्कृति की गति-शील व्याख्या में निहित है। कोई भी इतिहास सिर्फ घटित वस्तु या अतीत का विश्लेषण करके नहीं रह जाता, बल्कि घटित हो रही वस्तु और इसके साथ जीवन की समूची प्रक्रिया की विवेचना करता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास पर विस्तार से विचार हुआ है। इसे ऐतिह्य, पुराकल्प, पुरावृत्त, आख्यान, चरित, कथा, गाथा, अनुवंश श्लोक, पुराण आदि से जोड़कर सामा-जिक-राजनैतिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। पुराकथा अथवा पुराणकथा ही तद्युगीन ऐतिहासिक अन्तर्वस्तु के स्रोत हैं। उसमें मानव-जीवन की कथा मिलती है। अतः भारत के मनुष्य का इतिहास खोजना हो तो पुराकथा, पुराकल्प अथवा आधुनिक शब्दावली में मिथक के अलावा कोई दूसरा माध्यम नहीं है। यहां दो सवाल उठते हैं। एक तो यह कि क्या इन प्राचीन मिथकों की वैज्ञानिक समीक्षा करके कला और संस्कृति के किसी गतिशील एवं वास्त-विक स्वरूप का पता चल सकता है और दूसरा यह कि आज के भौतिकवादी युग में मिथकों के साहित्यिक विकास की सार्थकता क्या है।

साहित्येतिहास के सन्दर्भ में निरन्तर विकासशील युग की मांग है कि मिथकीय विकास की जटिलताओं की तर्कसंगत और आधुनिक व्याख्या की जाय, क्योंकि अभी कुछ पहले तक साहित्य का विकास मिथकों के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास पर पूर्णतया निर्भर था। अतः साहित्येतिहास के अन्तर्गत मिथक की ऐतिहासिक समीक्षा करना आवश्यक है। साहित्य के मिथकों की व्याख्या किन आधारों पर की जाय, साहित्येतिहासकारों के लिए इस

सवाल पर विचार करना निहायत जरूरी है। साहित्य की रचना में मिथकों ने अपनी अहम भूमिका निभायी है और आज भी कवियों-लेखकों के लिए यह अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। फ्रायड ने इसे अवचेतन की प्रतीतियों के व्यक्त रूप तक सीमित कर दिया था। फिलिप व्हीलराइट के शब्दों में मनुष्य की आदि भाषा काव्यमय रही है। इसकी वजह यह है कि वह एक ऐसी चेतना की अभिव्यक्ति है, जिसे हम आधुनिक शब्दावली में मिथकीय मानते हैं। प्राचीन काव्यग्रन्थों से लेकर आधुनिक कविता तक मिथकीय चेतना का विकास हुआ है और यह सिर्फ अचेतन की प्रतीत नहीं कराती, सिर्फ भाषा से भी परिचित नहीं कराती, बल्कि पूरे समाज की जानकारी देती है। दुनिया की सभी भाषाओं में मिथकों की अभिव्यक्ति हुई है और इनके माध्यम से मानवीय संवेदना प्रकट की गयी है। मिथक और साहित्य में एक गहरा रिश्ता है, क्योंकि दोनों सामाजिक सत्य के वाहक हैं।

मिथकों के निर्माण में प्रकृति को मानवीय स्वरूप प्रदान किया जाता है। वैदिक साहित्य से आधुनिक साहित्य तक हम ऐसे मिथकों को इकट्ठा कर सकते हैं, जिनमें प्राकृतिक तत्वों के मानवीय रूप का विकास होता है। सूर्य, चन्द्र, धरती, फूल, पहाड़, आग, हवा आदि मानवीय और सामाजिक चेतना का वहन करते हैं। इनके आधार पर उत्कृष्ट काव्य-रचनाएं होती रही हैं। दूसरी ओर मानवीय गुणों और संघर्षों के प्रतीक रूप में राम, कृष्ण, शिव, मनु आदि के कार्यों की कथा का जीवन और साहित्य दोनों में स्थान है। कोई भी लक्षित कर सकता है कि मिथकों के ये प्राकृतिक और देवरूप स्थिर नहीं रहे हैं। सत् और असत् के बीच लड़ाई कभी इन्द्र-वृत्रासुर संग्राम के रूप में हुई है तो कभी राम-रावण और पांडव-कौरवों के युद्ध के रूप में। इन मिथकों का जो रूप मध्यकाल मे गृहीत हुआ, वह पहले से भिन्न था। वेद के राम, पुराणकाल के राम और मध्यकाल के राम में जो गुणात्मक अन्तर आया उसका कारण ऐतिहासिक शक्तियों का प्रभाव था। अतः इतिहास मिथक को प्रभावित नहीं करता, उसे रूपायित भी करता है। देवताओं की अनेक प्रणय कथाएं, सृष्टि की उत्पत्ति और मनुष्य के विकास, अतिप्राकृतिक घटनाओं, राजनैतिक उथल-पुथल की कथाएं मिथक के ऐतिहासिक स्वरूप में निरंतर नई-नई संवेदना के साथ विकसित होती रही हैं और कई युगों तक मनुष्यों के जीवन की कथा की ओर संकेत भी करती रहीं।

काव्य के संरचनात्मक विधान के निर्माण में मिथकीय तत्वों की एक बड़ी भूमिका होती है और कभी-कभी पूरी काव्य-प्रक्रिया ही मिथक प्रक्रिया में ढल जाती है। हिन्दी साहित्येतिहास में आदिकाल से ही मिथकों का प्रचुर

प्रयोग हुआ है और इन मिथकों के माध्यम से ही ऐतिहासिक दृष्टि से संबंध स्थापित किया गया है। वीरगाथा काल में ऐतिहासिक पात्रों के परिप्रेक्ष्य में ऐसे मिथकों की सर्जना की गयी है, जिनके माध्यम से उस युग की राजनैतिक और भावनात्मक स्थितियों की अभिव्यक्ति होती है। राज्याश्रित कवियों ने अपने राजाओं के जीवन वृत्त को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए उनके मिथकीय स्वरूप को उभारने की चेष्टा की। किन्तु अधिकांश स्थलों पर उन्होंने इतिहास और समाज की उपेक्षा की, इसलिए वीरगाथाओं के मिथक वर्णनात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण हो गये। वे सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना से गहराई के साथ न जुड़ सके। सिद्ध-नाथपंथियों ने अपना सम्बन्ध राजा से न बनाकर संस्कृति से स्थापित किया था, इसलिए उनकी मिथकीय चेतना अधिक प्रखर है और उनकी रचनाओं में सामाजिक चेतना मिलती है।

भक्तिकाल का साहित्य सामान्यतः मिथकीय सृष्टि है। सन्तों और भक्तों ने कविता की रचना मिथकीय स्वरूप में की और अपने भावों को व्यक्त किया। इनमें राम और कृष्ण के जीवन-चरित की प्रधानता रही, किन्तु अपनी प्रखर ऐतिहासिक दृष्टि के कारण कवियों ने मिथक के द्वारा इतिहास को व्यक्त किया—अपने युग की जीवन-प्रक्रिया को उभारा। वेद में राम शब्द का प्रयोग हुआ है, बाल्मीकि ने भी रामायण लिखी, किन्तु तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम के तद्‌युगीन आध्यात्मिक, सामाजिक स्वरूप की खोज की। उन्होंने अनेक धार्मिक-पौराणिक ग्रन्थों से रामकथा के स्वरूपों को पहचान कर इसका विकास अपने युग के अनुसार किया। इसी प्रकार ऋग्वेद के अष्टम और दशम मंडल के रचयिता ऋषि कृष्ण हैं, किन्तु महाभारत एवं पुराणकाल में वह एक रागात्मक और राजनैतिक स्वरूप धारण करते हैं। उनके साथ बहुत-सी निर्जंधरी कथाएं जुड़ गयीं और वे हर युग में मानवीय प्रेम, औदात्य और संघर्ष के प्रतीक बनकर नये-नये रूप में आने लगे। कृष्ण का राजनैतिक स्वरूप अर्थात् कंस का वध, आसुरी शक्तियों का दमन, महाभारत युद्ध में सर्वप्रधान भूमिका का महत्व कम नहीं है। गोपियों के साथ उनकी लीला का मिथक मानवीय संवेदना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सूरदास ने कृष्ण के बालरूप से लेकर उनके यौवनकाल तक के जीवन का रागात्मक चित्रण किया है और चरागाह-वृषक-संस्कृति के जीवन-मूल्यों को उभारने का प्रयास किया है। कबीर ने राम का मिथक चुना। उन्होंने मिथकीय चेतना को सांप्रदायिकता से मुक्त करके देखा। जायसी ने भी मिथक के माध्यम से ही अपनी प्रेम और भक्ति भावना को अभिव्यक्त किया। इस प्रकार पूरा भक्तिकाल मिथक पर आधारित रहा।

रीतिकाल के कवियों ने मिथकों की अभिव्यक्ति सामन्ती समाज के जीवन-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में की। केशव, बिहारी, घनानन्द, मतिराम, देव ने नारी-सौंदर्य और प्रेम के विविध शृंगारिक स्तरों पर राधाकृष्ण के मिथक को विलासिता की वाणी प्रदान की। निश्चय ही इनमें घनानन्द ने प्रेम के मूल्यों को अधिक सम्वेदनात्मक स्तर पर उभारने की चेष्टा की थी। किन्तु उस युग की सामन्ती दृष्टि का मिथक पर पूरा प्रभाव पड़ा। उस युग की साहित्य-दृष्टि पहले से भिन्न हो गई थी; इसलिए मिथक दृष्टि में भी अन्तर आ गया था और काव्य में रूपवादी रुझान की प्रवृत्ति बढ़ गई थी।

आधुनिक काल तक ऐतिहासिक चेतना के पर्याप्त विकास के कारण मिथक और साहित्य की मूल अनुचेतना के केन्द्र में ईश्वर के स्थान पर मनुष्य स्थापित हो गया था। इससे मिथकीय चेतना में अन्तर यह पड़ा कि जहाँ पहले आध्यात्मिक अथवा सामन्तयुगीन दृष्टियों की प्रधानता थी, अब वहाँ मानवीय दृष्टियाँ प्रधान हो गयीं। पुरानी मिथकीय कथावस्तु में जो पात्र उपस्थित थे, वे आधुनिक परिस्थितियों में प्रमुख हो उठे; जिन भावनाओं का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था, कवि की लेखनी उन भावनाओं को मौलिक तरह से व्यक्त करने लगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कविता के क्षेत्र में मिथकों को आध्यात्मिक चेतना से मुक्त नहीं कर सके, किन्तु अपने नाटकों में और विशेषकर सामाजिक दृष्टि के धरातल पर वे आधुनिकता की ओर बढ़ रहे थे।

नवोत्थानवादी आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में पूरा द्विवेदी युग आधुनिक काल में एक नयी करवट का नाम है। इस युग की ऐतिहासिक दृष्टि मिथकों के मानवीय कल्याणकारी स्वरूप को उभारने में अपेक्षाकृत अधिक निखरकर सामने आयी। हरिऔध का 'प्रिय प्रवास' इस दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण कृति है। मिथक के संदर्भ में यह बतला देना जरूरी प्रतीत होता है कि इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की जाती रही है। इसलिए इसके स्वरूप में सिर्फ गतिशीलता ही नहीं, विभिन्नता भी मिलती है। इन विभिन्नताओं के बावजूद विचारणीय वस्तु यह है कि ये व्याख्याएं अथवा इनपर आधारित काव्य एक युग की मानसिकता को कितने सचेत रूप से सामने रख रहे थे और अपने आदर्श की अभिव्यक्ति कर रहे थे। मैथिलीशरण का 'साकेत', प्रसाद की 'कामायनी', दिनकर की 'उर्वशी', नरेश मेहता की 'संशय की एक रात', धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' और मुक्तिबोध का 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में मिथक की आधुनिकता का निरंतर विकास होता गया है।

स्पष्ट है कि साहित्येतिहास में व्याख्या के जिन आधारों को अपनाया गया है, उनमें मिथकीय रचना और इसकी समीक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है।

मिथक-आलोचना के आधुनिक स्वरूप की शुरुआत बीसवीं सदी के आरम्भ से ही हो गई थी। दुनिया के कई समीक्षकों ने कालजयी कृतियों की आलोचना की और मिथक की विशेषताओं की ओर संकेत किया। माड बादकिन, जोसेफ कैंपबेल, फिलिप व्हीलराइट, रिचर्ड चेज, फ्रांसिस फर्गुसन, नार्थ्रप फ्राइ, हर्बर्ट वाइसिंगर आदि प्रमुख मिथक-आलोचक हैं। इनकी आलोचना का मूल सिद्धांत यह है कि मिथक रचना मानव चेतना की एक सहज वृत्ति है। साहित्य का मौलिक गुण है मानव चेतना को संप्रेरित और ऊर्जस्वित करना। यह शक्ति उसे अपने भीतर के मिथकीय तत्वों से प्राप्त होती है। मिथक-आलोचना का उद्देश्य साहित्य की इसी आंतरिक शक्ति का संधान करना है। शेष दुनिया के साथ मानव चेतना का रागात्मक संबंध स्थापित करना साहित्य और मिथक—दोनों का मूलभूत प्रयोजन है। अतः मिथकीय समीक्षा में सृष्टि और मानव के बीच संस्थापित इन्हीं रागात्मक संबंधों का विश्लेषण किया जाता है ताकि साहित्य का आधारभूत रूप उद्घाटित हो सके।

मिथकीय समीक्षा पद्धति व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक होती है। समीक्षक रचना के केन्द्रीय मिथक की खोज करता है और उसमें विश्वास के आधुनिक स्तरों को रेखांकित करता है। वह कृति की संरचना की अन्विति एवं मूल मनोवेगों का संधान करके व्यापक परिप्रेक्ष्य में मिथक की विवेचना करता है। किन्तु कृति का मूल्यांकन सिर्फ मिथक के विश्लेषण के माध्यम से नहीं हो सकता, जो साहित्येतिहास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साहित्येतिहास में मिथकीय आलोचना पर एकमात्र रूप से निर्भर नहीं रहा जा सकता, किन्तु इसके द्वारा की गई व्याख्याओं के महत्व को स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि साहित्य में ग्रहण किये गये मिथकों का विश्लेषण मिथक-आलोचना के सिद्धान्तों के बिना संभव नहीं है। मिथकीय समीक्षा में आदिम मनोवेगों पर अधिक बल दिया जाता है, परिणामतः इसके द्वारा व्यापक मानव संस्कृति और सार्वभौम मानव साहित्य की अखंड परम्परा के आलोक में साहित्यिक प्रवृत्तियों, कृतिकारों और कृतियों के वैशिष्ट्य का आकलन होता है।

मिथक-आलोचना में तुलनात्मक पद्धति को भी प्रश्रय दिया जाता है, जो साहित्येतिहास में भी महत्वपूर्ण माना जाता है। एक कृति की तुलना दूसरी कृति से और एक मिथक की तुलना दुनिया के अन्य समान रूपात्मक मिथकों से करते हुए आलोचक दोनों की सामाजिक, सांस्कृतिक उपादेयता एवं देशकाल से उसकी सापेक्षता की जांच करता है। यह साहित्यालोचन की एक प्रमुख प्रक्रिया है। साहित्य का इतिहासकार एक उत्कृष्ट आलोचक भी होता है और उससे अपेक्षा की जाती है कि वह साहित्यिक विकास के

विवेचन के अन्तर्गत कृतियों, मिथकों एवं समाज से इनके सम्बन्धों का विवेचन करे। अतः साहित्य के इतिहास में मिथकों का विवेचन सिर्फ समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक ही नहीं होता, आलोचनात्मक भी होता है। इस आलोचना के विविध मानदण्ड होते हैं। यह ध्यान में रखा जाता है कि आलोच्य कृति अथवा इसके मिथक का संबन्ध कहां तक पूर्ववर्ती परम्परा से है और तत्कालीन युग के सन्दर्भ में उसका कहां तक महत्व है। साहित्य के इतिहास में कृति की समीक्षा करते हुए उसके स्वरूप-विकास के स्तर को भी रेखांकित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर दिनकर की उर्वशी की विवेचना उर्वशी-पुरूरवा के वैदिक मिथक और उसके विभिन्न विकास रूपों के परिप्रेक्ष्य में अधिक सार्थक हो सकता है। इस पद्धति से जहां एक ओर उसके वर्तमान स्वरूप के प्रेरक तत्वों का प्रकाशन होता है, दूसरी ओर विभिन्न युगों की सर्जनात्मक प्रक्रियाओं के विकासशील अध्ययन से कृति के मिथकीय वैशिष्ट्य एव उसकी प्रासंगिकता का अधिक सफल आकलन होता है। मिथक-आलोचना की एक विशेष उपलब्धि साहित्य का मूल मानव कृतियों के साथ सहजात सम्बन्ध स्थापित कर उसे एक व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित करना है, यद्यपि इसकी अपनी निर्धारित सीमाएं भी हैं।

ब्रजलाल गोस्वामी

मिथकीय चेतना का स्वरूप

मिथक के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित हो गई है कि यह कपोल-कल्पित किस्से-कहानी के सिवा कुछ नहीं। मिथक शब्द को अंग्रेजी शब्द 'मिथ' के पर्यायवाची के रूप में बना लिया गया है। इस धारणा को इस तथ्य से बल मिलता है कि 'मिथ' शब्द का सम्बन्ध 'मिथ्या' से है। 'मिथ्या' के सम्बन्ध में भी यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि मिथ्या वह है जो झूठ है, असत् है। परन्तु विचार करने पर दोनों धारणाएँ निर्मूल और असत्य सिद्ध होती हैं।

'मिथ्या' वेदान्तदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ 'असत्' नहीं, क्योंकि जो 'असत्' है अर्थात है ही नहीं उसकी प्रतीति किसी को नहीं हो सकती, जैसे आकाश कुसुम या शशशृंग की। मिथ्या प्रातीतिक सत्य को कहते हैं जो प्रतीत तो होता है, परन्तु विचार करने पर या निपुण ईक्षण से अलीक या असत्य सिद्ध होता है। जब हम रस्सी को सांप समझ लेते हैं तो उस सांप को रस्सी का साक्षात्कार होने पर 'मिथ्या' कहा जायेगा, क्योंकि सत्य तो वह कभी भी नहीं था --उस समय भी नहीं जब हम डर कर उससे भाग रहे थे, परन्तु उसे सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रस्सी को जानने से पहले उसकी प्रतीति हुई थी। रस्सी को जान लेने के बाद ही सांप के मिथ्यात्व का निश्चय होता है। जो जाग उठा है उसके लिए स्वप्न असत्य या मिथ्या है, स्वप्नदर्शी के लिए संसार को मिथ्या कहने का यही अर्थ है। वह असत्यता है, परंतु उसी के लिए जिसने ब्रह्मसंस्पर्शज्ञ को पा लिया है। ब्रह्मवेत्ता बनने से पहले जो संसार को असत्य कहता है वह ढोंगी है।

इस सम्बन्ध में एक और बात लक्ष्य करने की यह है कि मिथ्या सत्य को जानने का साधन भी बन जाता है। जैसे चित्र में अंकित शेर हमें वास्तविक शेर का कुछ ज्ञान दे सकता है या जिस प्रकार किसी स्वप्न को देख कर हम व्याकुल हो कर उठते हैं और जागरण के अधिक वास्तविक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।

भारतीय परम्परा ने मनुष्य की कृतकृत्यता इसी में देखी है कि असत्य के द्वारा सत्य और मर्त्य के द्वारा अमृत तत्व को पा ले। अतः यदि मिथक को 'मिथ्या' मान भी लिया जाये तो भी उपर्युक्त मीमांसा के संदर्भ में उसे हेय नहीं कहा जा सकता और उसकी परम्परा प्रथित उपयोगिता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि मिथक के क्रोड में, जैसा कि हम देखेंगे, आध्यात्मिक और नैतिक जीवन के आद्य एवं परम तत्व छिपे रहते हैं। परन्तु यह सत्य चेतना के व्यायाम से प्रसूत बौद्धिक निष्कर्ष मात्र नहीं होते, इनका जन्म आध्यात्मिक अनुभूति से होता है और यह सम्बोधित भी उस अंतश्चेतना को करते हैं जो ऐसे अनुभवों के प्रति जागरूक है और उनके व्यंजना मात्र से झंकृत या सस्पन्द हो उठती है।

आधुनिक भारतीय चिन्तन की यह विडम्बना रही है कि उन क्षेत्रों में भी यह पश्चिम की प्रतिध्वनि मात्र बनने का प्रयास करता रहा है जो शताब्दियों से भारतीय मनीषा के कर्षण के द्वारा उर्वर और बहुप्रसूत रहे हैं। अनुकरण भी कई बार हित-साधक और फलप्रद हो सकता है, परन्तु विवेकरहित अंधानुकरण नहीं। साहित्यशास्त्र को ही लें। आज से लगभग एक शताब्दी पहले हर्बर्ट स्पेन्सर और उसके स्कूल के दूसरे विचारक विज्ञान की सफलताओं और फलवती क्रिया-पद्धति से प्रभावित होकर ज्ञान-प्रज्ञान की सभी शाखाओं के आधारों को वैज्ञानिक रीति से समझने का प्रयास कर रहे थे। साहित्य, धर्म, राजनीति— सभी को इस ढांचे में ढालने की कोशिश की गई, क्योंकि उस समय तक विज्ञान और उसकी सीमाओं का सम्यक् विश्लेषण नहीं हुआ था। साहित्यशास्त्र और मिथकशास्त्र को भी विज्ञान के स्थूल कारण-कार्य सिद्धान्त के आधार पर समझने की चेष्टा की गई। यूरोप और इंग्लैंड की प्रबुद्ध चेतना ने अब यह प्रयास छोड़ दिया है, क्योंकि यह स्पष्ट हो चुका है कि विज्ञान का प्रवेश मूल्यों और परमार्थ के क्षेत्र में नहीं है। परन्तु हमारे यहाँ ऐसे प्रयास यदा-कदा अब भी होते रहते हैं। मिथक की मेकडानल द्वारा दी गई निम्न परिभाषा को हम अपने प्रस्थान बिन्दु के रूप में ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि यह परिभाषा न केवल विज्ञानवादियों द्वारा अनुमोदित है, प्रत्युत जनमानस में भी मिथक के विषय में जो धारणा बैठ गई है उसके भी अनुकूल है—'मिथक का जन्म उस समय होता है जब किसी प्राकृतिक घटना की व्याख्या इस रूप में की जाती है मानो वह किसी मनुष्य द्वारा संपादित कार्य हो'। दूसरे शब्दों में मिथकीय चेतना को

विशेषता यह है कि वह कारण-कार्य परम्परा द्वारा निर्माण रूप से निर्धारित प्रकृति के निर्वैयक्तिक कार्यकलाप के पीछे किसी पुरुष या पुरुषविध शक्ति के कर्तृत्व या हाथ को देखती है। जब तारे निकले हैं तो मिथकीय चेतना यह कहेगी कि किसी ने दीप जला दिये हैं और जब आकाश में इन्द्रधनुष शोभित होता है तो मिथकीय चेतना कहेगी कि वर्षा ने किसी के स्वागत या अभिनंदन के लिए तोरण सजा दिए हैं। आधुनिक चेतना प्राकृतिक घटनाओं के पीछे किसी मानवीय चेष्टा या कर्तृत्व के दर्शन को भ्रम समझती है और प्राकृतिक व्यापारों की इस प्रकार की व्याख्या को आदिम मनोवृत्ति के मोह और अज्ञान का परिणाम मानती है। पहली भ्रान्ति तो 'प्रकृति के व्यापार' में 'प्रकृति' के अर्थ से सम्बन्ध रखती है दूसरी भ्रान्ति 'मानवीकरण'—अमानव को मानव मानना—को वह अवैज्ञानिक मनोवृत्ति की महती आत्म-प्रवंचना समझती है। परन्तु इस विचार के पीछे दो भ्रान्तियां हैं जिनका अनावरण आवश्यक है। पहली भ्रान्ति 'प्रकृति के व्यापार' में 'प्रकृति' के अर्थ से सम्बन्ध रखती है। दूसरी भ्रान्ति 'मानवीकरण' की धारणा से सम्बद्ध है और इसका कारण है विज्ञान की भाषा की सीमाओं को न समझना।

जब हम कहते हैं कि मिथक प्राकृतिक घटना और प्रकृति के व्यापारों को समझने की चेष्टा है तो 'प्रकृति' से क्या अभिप्रेत है ? क्या यह प्रकृति विज्ञान की 'प्रकृति' है जो घटनाओं की निर्जीव यांत्रिक आवृत्ति मात्र है या, जैसा कि ह्वाइटहेड ने कहा था, अणुओं, परमाणुओं का निरुद्देश्य इतस्ततः वहन और आडिंडन मात्र है। विज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है है कि यह प्रकृति के नैश या रात्रि-पक्ष को प्रस्तुत करता है, दिवा-पक्ष को नहीं। उसकी प्रकृति में न रंगों का वैभव है, न सौंदर्य की मानस्कांत अग-भगी है न चेतना का स्वच्छन्द उल्लास है, न उत्क्षीर्ष पर्वत उर्ध्वबाहु होकर आकाश को छूने का प्रयास करते हैं न नदियां फेनावलि में मुस्करा उठती हैं, न लताएं फूलों से शृंगार करती हैं—सब कुछ यांत्रिक है, पूर्व निर्धारित है और कारण-कार्य शृंखला में निरीह रूप में जकड़ा हुआ है। मिथकीय चेतना की प्रकृति इस प्रकार की दरिद्रित और अकिंचन प्रकृति नहीं जिसमें से सत्ता का सारा वैभव निरस्त हो गया है, नाम-रूप की मोहिनी लुप्त हो चुकी है और गणितिक सूत्रों के कंकाल मात्र रह गये हैं। दूसरे शब्दों में मिथकीय चेतना की प्रकृति कारण-प्रकृति है, कार्य-प्रकृति का कंकाल मात्र नहीं। प्रकृति में जड़ तत्वों का संघात मात्र नहीं। बाह्य प्रपंच में जड़

द्रव्यों को नहीं देखते, प्राण शक्ति के वेगी प्रवाह, भावजगत् की नील-लोहित आभा, साधना की तप-पूत श्वेतिमा, मनोलोक एवं बुद्धिजगत् की मस्ती, वक्रिमा एवं क्रान्तिदर्शिता, तामसता का दुर्भेद्य आवरण, रजस्वल आवेगों की उच्छल निरंकुशता, सात्त्विक ज्ञान की भेदक दृष्टि—यह सब भी तो प्रकृति के अवयव हैं और उसके समग्र रूप के निष्पादक हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृति में अन्नमय कोष ही नहीं, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष भी इसकी चित्रशाला के अन्दर हैं। जो प्रकृति जड़ धरातल से उठ कर प्राण, मन, बुद्धि के स्तरों को पार करती हुई अपने आरोह क्रम में मानव के व्यक्तित्व का उसके आदर्शवाद, आध्यात्मिक अनुभूति, नैतिक प्रतिपत्ति एवं सौन्दर्य चेतना के साथ उद्भावन करती है उसके सम्बन्ध में यह कहना कि यह मात्र अचेतन तत्वों का विक्षुब्ध मथन मात्र है दुराग्रह ही है। कारण-प्रकृति, जिसे पुराणपंथी ईश्वर नाम से अभिहित करते हैं और जिसका नाम लेना फैशन के प्रतिकूल है, अनन्त शक्तियों का निधान है।

कार्य कारण से बड़ा नहीं हो सकता। हम यह नहीं कह सकते कि जो गुण कार्य में हैं वे कारण में नहीं थे—वहां वे थे तो सही, परन्तु व्यक्त नहीं थे। जिसे मयूरांड रस-न्याय कहते हैं वह विकल्प मात्र नहीं। मोर के कलाप की सारी वैचित्री और सुन्दरता उसके अंडे में अव्यक्त रूप में रहती है। इसी प्रकार प्रकृति जो मानव व्यक्तित्व को उसकी सारी जटिलता और महनीयता के साथ जन्म देती है, मात्र निर्वैयक्तिक यांत्रिक व्यवस्था नहीं। मिथकीय चेतना प्रकृति के इस अतल गौरव और बहुप्रसू शक्ति को जानती है। वह कारण-प्रकृति के रहस्यों का संधान करती है—कार्य-प्रकृति का नहीं। यदि कार्य (मनुष्य) में व्यक्ति चेतना हो सकती है तो कारण ऐसी चेतना की सत्ता को असम्भव नहीं माना जा सकता। यदि प्रकृति कारण-कार्य शृंखला है तो इस शृंखला की मूल कड़ी (कारण-प्रकृति) को ही स्वतन्त्र माना जायगा, क्योंकि बाकी सब कड़ियां अपनी परतन्त्रता के कारण कर्त्ता नहीं कही जा सकतीं (स्वतन्त्रः कर्त्ता—कर्त्ता वही है जो स्वतन्त्र है)। अतः प्रकृति में किसी पुरुषविध शक्ति के कर्तृत्व को देखना दार्शनिक दृष्टि से कोरी कल्पना या जल्पना नहीं है।

अभिव्यक्ति के स्वरूप पर विचार करने से भी मिथकीय अभिव्यक्ति की अनिवार्यता सिद्ध होती है। भाषा की समर्थता का मापदण्ड यह है कि प्रकृति की विविधता, विपुलता और बहुपक्षीयता को अविकल रूप से अभिव्यक्त करे। प्रकृति में यह सब कुछ है जिसका हमें अनुभव होता है। हम कोई कृत्रिम विभाजक रेखा खींच कर यह नहीं कर सकते कि अमुक तत्व तो प्रकृति में

है और अमुक नहीं है। इस प्रकार पौधे, नदियां, पहाड़, फूल और तारे ही प्रकृति के अन्तर्गत नहीं, मनुष्य भी उसका अंश है। और यदि मनुष्य उसका अंश है तो उसकी वेदना का औदात्य, उसका आदर्शवाद, उसकी पारमिता प्रज्ञा, उसके भाव-जगत् की सुषमा और मोहिनी सभी प्रकृति के अंग हैं। जो भाषा इन सब गुणों का आकलन करने में समर्थ होगी उसे ही यथार्थ और प्रभविष्णु माना जायेगा। इन तथ्यों के आलोक में जब हम विज्ञान, कला, कविता, धर्म, दर्शन आदि की भाषा का परीक्षण करते हैं तो विज्ञान की भाषा सबसे अधिक असमर्थ और अविकसित सिद्ध होती है। वह कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तो बड़ी प्रभविष्णु है—जैसे प्रकृति का नियंत्रण, परन्तु मानव अनुभव के अपरिमेय वैविध्य के सामने यह सर्वथा निःसत्व प्रतीत होती है। भौतिकी के सूत्रों और गणितिक समीकरणों में न तो प्राणों का संगीत मुखर हो सकता है न मन की अनन्त भंगिमाएं, न बुद्धि की ऊर्जिति, न चेतना का सृजनात्मक उन्मेष। इस दृष्टि से कविता की भाषा अधिक यथार्थ है जो भौतिक जगत् के साथ-साथ सूक्ष्म मनोजगत् को भी रूपायित कर सकती है। कविता अमानव का मानवीयकरण करती है—क्योंकि मानव चेतना के वे विशिष्ट गुण जो उसकी मानवता के विधायक हैं—उसकी नैतिक, आध्यात्मिक, सौंदर्यात्मक अनुभूतियां - विज्ञान की गणितिक भाषा और सूत्रों में उपन्यस्त हो ही नहीं सकतीं।

और फिर मानव का मानवीकरण, जिसके कारण मिथकीय अभिव्यक्ति को मिथ्या माना जाता है, अभिव्यक्ति का वैकल्पिक साधन नहीं कि हम इच्छानुसार उसे छोड़ दें या अपना लें, मानवजगत् में प्रवेश के लिए, मानव चेतना के यथार्थ और अन्तरंग रूप का आकलन करने के लिए यह अपरिहार्य बन जाता है। वस्तुओं, पदार्थों और व्यक्तियो को समझने और इस अनुभव को व्यक्त करने के दो प्रकार या विधियां हैं : विज्ञान की विधि एवं साहित्य, धर्म, नाटक एवं मिथक की विधि। अभिव्यक्ति के साधनों के रूप में साहित्य, धर्म, नाटक आदि में भेद है, परन्तु इन सबमें एक सामान्य तत्व है—मानव तत्वों की अभिव्यक्ति इन्हीं की भाषा में हो सकती हैं। साहित्य मात्र भाव की अभिव्यक्ति नहीं है; दूसरे शब्दों में वस्तु तत्व के ऐसे आयाम भी हैं जिनका ग्रहण कविता और नाटक आदि की भाषा में हो सकता है। यदि हम विज्ञान की विधि को अपना कर मानव का अध्ययन करते हैं तो वह अमानव बन जाता है, क्योंकि विज्ञान की भाषा में उसकी मूल्य चेतना, नैतिक, आध्यात्मिक बोध, उसके जीवन के नाटकीय और संवेदनात्मक तत्वों की अभिव्यक्ति दूसरे शब्द में उसकी अन्तरात्मा का अविकल सम्मूर्त्तन संभव नहीं। मानवी-

करण तो साधारण बोल-चाल की भाषा में भी अपरिहार्य है। हम कहते हैं 'सड़क दिल्ली जा रही है', 'नदी दौड़ रही है', 'वृक्ष खड़ा है'—ये सब मानवीकरण के ही तो उदाहरण हैं। जब भी हम अमानव में मानव को देखते हैं तो मिथकीय चेतना का आभास पाते हैं। अनुभव की ऐसी भूमियां या धरातल हैं जिनकी सम्यक् अभिव्यक्ति अनायास ही मिथक का रूप धारण कर लेती है। जब भी हम किसी ऐसे पदार्थ या स्थान को देखते हैं जिसका हमारे प्रतीत जीवन के साथ मार्मिक सम्बन्ध है, या जिसे देख कर हम चेतना की झंकृति या परिस्पंद का अनुभव करते हैं तो अनायास ही उसे 'तुम' कह कर सम्बोधित करते हैं, यह जानते हुए भी कि वह अचेतन है। यहाँ हम अपने अनुभव के आवेग या अतिरेक को सीधे—सामान्य रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकते, हम अनिवार्यतः उसे मिथकीय रूप में प्रतिच्छापित करते हैं। इसीलिए मिथकीय अभिव्यक्ति वैकल्पिक नहीं, अनुभव की ऐसी विभाएं हैं जिनको सम्यक् रूप में प्रगट करने के लिए यह अपरिहार्य है।

इसीलिए यह कहना भ्रान्ति है कि मिथकीय चेतना तो अतीत की वस्तु है जिसे वैज्ञानिक चेतना ने अपदस्थ कर दिया है। कुछ रूपों में व्यक्त आधुनिक चेतना द्विवधाग्रस्त है। एक तो वह विज्ञान के उस मानचित्र से संतुष्ट नहीं हो सकती जिसके अनुसार जगत् निर्वैयक्तिक घटनाओं, व्यापारों की अनवच्छिन्न संतति मात्र है जो भावुकता को कहीं प्रश्रय नहीं देती और जहां सब प्रकार के संवेग, आवेश, निरालम्ब मानसिकता के भंगुर और उत्पन्न-विनाशी स्फुरण मात्र हैं। दूसरे, आधुनिक चेतना की शायद इसी वैज्ञानिक मानचित्र के प्रभाव के कारण अनुभव सम्बन्धी धारणा बड़ी संकुचित हो गई है और इसकी याथात्म्य ग्रहण की शक्ति कुंठित हो गई है। अनुभव सम्बन्धी धारणा के संकुचित होने का यह अर्थ है कि हम धर्म, कला, अध्यात्म के क्षेत्रों में साक्षात्कृत अनुभव की सत्यता के प्रति संशयालु हो गए हैं। हम भूल गये हैं कि कवि व्यक्ति-चेतना को, अपने व्यक्तिगत भावों, संवेदनाओं को अभिव्यक्त नहीं करता, परन्तु जिसे हम निर्वैयक्तिक और निरपेक्ष दृश्य प्रपंच समझते है वहां व्यक्ति चेतना के दर्शन करता है। यह कलात्मक और आध्यात्मिक क्षेत्र में विज्ञानवाद के अनधिकृत प्रवेश के कारण ही है कि हम इस दर्शन को भ्रान्ति समझते हैं। वस्तुतः सौंदर्य के अनुभव का अर्थ है चेतना प्रमाता और चेतना कलाकार की चेतनाओं का अभिमुख्य। सुन्दर पदार्थ केवल चाक्षुष या ऐन्द्रिय, अनुभूति मात्र नहीं। सौंदर्य दर्शन का अर्थ है उस अर्थ का विभावन जिसे कलाकार ने अपनी कला में रूपायित किया है। रूपमात्र को देखकर प्रसन्न होने वाला प्रमाता या सहृदय नहीं। कुशल प्रमाता या सहृदय

वह है जो रूप में साकार हुए अर्थ को ग्रहण कर आनन्दित होता है। सूफी मात्र प्रकृति के रूप-प्रपंच को देखकर आनन्द विह्वल नहीं होते। जब वे इस रूप-प्रपंच के पीछे किसी चेतन रूपी के आशय, इंगितों या मनोभंगियों को देखते हैं तभी उनके लिए प्रकृति आनन्द निकेतन बनती है। शैलिंग की प्रसिद्ध उक्ति 'प्रकृति परमात्मा की कला है' का यही अर्थ है। वैज्ञानिक जब सूत्रों में अपने बाह्य जगत् विषयक ज्ञान को अभिव्यक्त करता है तो उस अभिव्यक्ति में बाह्यजगत् की विविधता, जटिलता, रंगीनी आदि को स्थान नहीं मिलता। साधारण बोलचाल की भाषा में कुछ अधिक अर्थ सम्पत्ति समा सकती है, परन्तु यह भाषा भी सूक्ष्म अर्थों, ध्वनियों एवं व्यंजनाओं को ग्रहण करने में असमर्थ है, धूमिल और अपारदर्शी है। शब्दों के दैनंदिन प्रयोग में व्यवहार पक्ष प्रधान रहता है। वैज्ञानिक जब सूत्रों को छोड़ कर साधारण गद्य में अपने सिद्धांत या निष्कर्षों का प्रतिपादन करता है तो उनकी अर्थवत्ता को प्रत्यक्ष तक ही सीमित रखने का प्रयास करता है। ध्वनि और व्यंजना का चक्रवाल, जो साधारणतया शब्दों को घेरे रहता है, विज्ञान के स्पर्श से खंडित हो जाता है। विज्ञान में अभिधाशक्ति का ही साम्राज्य है। संकेतिक पदार्थ अथवा सम्बन्ध को सामने लाने का साधन मात्र है—यहां वाचक की अपनी कोई महत्ता नहीं। परन्तु कविता में शब्द विलक्षण-अर्थ सम्पत्ति से संपृत होकर हमारे सामने आते हैं। चिरकाल से प्रयुक्त होने के कारण मानवजीवन की बहुविध अनुभूतियों के सन्दर्भ में विविध प्रकार के भावों को आत्मसात् करने के कारण शब्द अपने लोक-प्रसिद्ध संकेतित अर्थ के अतिरिक्त हमारे भावजगत् की सूक्ष्म, तरल भंगिमाओं से संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार शब्द के 'बौद्धिक' अर्थ के साथ-साथ भाव-छवियों, भाव-ध्वनियों, संचारिणी कल्पनाओं, व्यंजनाओं का परिवेश-सा रहता है। यह सहवर्ती परिवेश भी अर्थ का अंग है, परन्तु वैज्ञानिक इसको निरस्त करके मात्र बौद्धिक अर्थ को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जैसे वह फूल के सौंदर्य को, जो परिमेय नहीं, निरस्त करके उसके उन्हीं गुणों की ओर ध्यान देता है जो वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ग्राह्य हैं। साधारणतया व्यावहारिक भाषा में अर्थपक्ष का प्रयोग भी भावना को उन्मीलित करने के लिए होता है। साधारण व्यावहारिक भाषा और विज्ञान की पारिभाषिक भाषा इस प्रकार अनुभूति के कई आयामों को व्यक्त करने, भावात्मक मूल्यों को ग्रहण करने, दूसरों के हृदय में चेतना-भंगिमाओं को उन्मीलित करने में असमर्थ रहती है। इन कमियों का अपाकरण कला अशाब्दिक प्रतीकों (रंगों, मुद्राओं, ध्वनियों) का प्रयोग करके करती है और धर्म नाना प्रकार के विधि-विधानों, अनुष्ठानों को प्रपंचित करके।

परन्तु धर्म के पास इस विकलता का समाधान न करने के लिए एक और भी साधन है और वह है मिथकीय अभिव्यक्ति—जब हम बाह्य जगत् के व्यापारों और घटनाओं में पुरुषविध चेतना का कर्तव्य देखते हैं और उसे सम्बोधित करते हैं।

परन्तु इस प्रकार तो कविता भी अमानव में मानव को देखती है, फिर कविता में और धार्मिक चेतना की उपदान मिथकीय अभिव्यक्ति में क्या अन्तर है ? यह ठीक है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति कविता, धर्म और मिथक सबमें देखी जाती है। इस दृष्टि से तीनों में एक सीमा तक धर्म-साम्य है। यही कारण है कि जिस युग में धार्मिक और मिथकीय चेतना का ह्रास होता है उस युग में कविता की कान्ति भी म्लान हो जाती है और वह विडम्बना मात्र बन कर रह जाती है।

हमारे युग में धार्मिक, मिथकीय चेतना और काव्य चेतना दोनों का ह्रास और विडम्बन देखा जा सकता है। दोनों अनुभव की ऐसी भंगिमाओं को व्यक्त करते हैं जिनको ग्रहण करने और जिनमें रमण करने की शक्ति आधुनिक चेतना ने खो दी है। दोनों के प्रतीक हमारे लिए अपार्थ या अर्थरहित हो गये हैं। ये प्रतीक जिन विषयों और जिस अनुभूति की ओर संकेत करते हैं उनका विभावन और साक्षात्कार करने की हमारी शक्ति कुंठित हो गई है। हमारे युग के लिए इन्द्रिय गोचर पदार्थ और अनुभव ही यथार्थ है और ये प्रतीक एवं मिथक इन्द्रियातीत अनुभव के वाहक हैं जैसा कि प्रतीकों एवं मिथकों का स्वभाव है।

ऊपर हमने काव्य (या भावनात्मक साहित्यिक कृति, चाहे वह गद्य में हो या पद्य में) और धर्म के मूल में वर्तमान चेतना के साम्य की ओर संकेत किया है। परन्तु दोनों में अन्तर भी है। एक तो ऐहिक काव्य का विषय देशकाल परिच्छिन्न हुआ करता है, धर्म का अपरिच्छिन्न। दूसरे, धार्मिक काव्य लौकिक काव्य की तरह केवल उद्भावन या भाव का उन्मीलन ही नहीं करता, परम तत्व के विविध रूपों और शक्तियों का आवाहन भी करता है। (परमतत्व का एक नाम पुरूहूत है—जिसका आवाहन बहुत बार किया गया है : आद्यं पुरुष-मीशानं पुरूहूतं पुरूष्टुताम्—आदि पर्व,महाभारत) इस आवाहन का अर्थ है इन शक्तियों के अवतरण और कारण-कार्य सन्तान रूप संसार में उनके हस्त-क्षेप के लिए अभ्यर्थना। दूसरे शब्दों में धार्मिक चेतना न केवल इसका संधान करती है कि परमतत्व का स्वरूप क्या है, उसके लिए यह भी जिज्ञास्य है कि वह आद्याशक्ति क्या करती है ? उसकी विविध शक्तियों, जिन्हें देव कहा जाता है, के कार्यकलाप का वर्णन मिथकीय और नाटकीय भाषा में ही हो

सकता है, क्योंकि संसार को समझने के लिए और इस ज्ञान को प्रतिपादित करने के लिए या तो वैज्ञानिक भाषा का या काव्य की नाटकीय भाषा का प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक भाषा की सीमाओं की ओर ऊपर संकेत किया गया है। काव्य की नाटकीय भाषा में सब घटनाओं के पीछे किसी कर्तृत्व के दर्शन किये जाते हैं और घटनाओं को कारण-कार्य संतति के निरपेक्ष नैरन्तर्य द्वारा नहीं, कर्त्ता, करण और कर्म की त्रिपुटी के द्वारा समझने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार जहाँ भी हम बाह्य जगत् में पुरुविध चैतन्य के दर्शन करते हैं वहां मिथकीय चेतना का साक्षात्कार होता है। या तो हम अपने अनुभव को साधारण सिद्धांत या मत के रूप में अभिव्यक्त करते हैं या मियक के द्वारा। जहां भी हमारी अनुभूति अतिरेक के विशेष बिंदु को स्पर्श करती है वहां--जैसा कि हमने ऊपर देखा है--मिथकीय अभिव्यक्ति अनिवार्य हो जाती है। जब कवि छाया को सम्बोधित करके पूछता है :—

> कहो कौन तुम परिहृतवसना
> म्लानमना भू-पतिता सी
> वात-हता विच्छिन्न लता-सी
> रतिकान्ता व्रज-वनिता सी

तो वह किसी भ्रान्ति का शिकार हो कर मियक की रचना नहीं कर रहा—उसके लिए अपने चैतन्य की स्फुरता को व्यक्त करने का और कोई मार्ग ही नहीं। परन्तु यह चैतन्य की स्फुरता व्यक्तिगत भाव का आवेश मात्र नहीं—यह मानवेतर प्रकृति में मानव चैतन्य को देखने का साधन भी है और सामर्थ्य भी।

डा० रमेशचन्द्र सिंह

मिथक का भाषिक स्वरूप

प्राचीन यूनानियों के लिए मिथक (माइथोस) का मतलब ही होता था बात-चीत का एक ऐसा ढङ्ग जिसमें शास्त्र का तर्क और इतिहास की क्रमिकता न हो। तब क्या मिथक केवल भाषा का एक रूप है ? यह बात कविता के लिए भी कही जा सकती है, कहानी के लिए और सच पूछिए तो सम्पूर्ण साहित्य के लिए भी। साहित्य आखिर भाषा के कतिपय गुणों के प्रसार और इस्तेमाल के सिवा और भी है क्या ? (१) भाषा को यदि व्यापक अर्थ में लें क्या वह सम्पूर्ण संस्कृति नहीं है ? भाषा के विभिन्न प्रतीकों का जिस तरह इस्तेमाल होता है, उसी तरह खाने में, खेलने में, कपड़ा पहनने में और विज्ञापन देने में भी हम अलग-अलग संकेतों और प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं, जिनका सुनिश्चित अर्थ और अभिप्राय होता है। मिथक यदि भाषा का एक रूप है, तो वह किस अर्थ में ? गौर करने की बात यह है कि मैक्समूलर, रोनाल्ड बार्थस और क्लॉड लेवी स्ट्रॉस तीनो ही मिथक को भाषा का रूप मानते हैं, पर अलग-अलग अर्थों में। इसलिए इस निबन्ध में हमारी यह कोशिश होगी कि मिथक का भाषिक स्वरूप इन तीनों के विचारों के माध्यम से ही स्पष्ट हो।

मैक्समूलर की मान्यता थी कि भाषा से अलग मिथक की सत्ता नहीं होती। मिथक का जन्म ही भाषा की दुर्बलता या यों कहें 'रुग्णता' से होता है—वह भाषा का 'बाइ-प्रोडक्ट' है। 'प्रकाश के आवर्तन' के सिद्धान्त की तरह उन्होने भाषा की किरणों के आवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। (२) उनका कहना था कि भाषा की किरणें जब किसी विचार को बेध नहीं पातीं

तब वे उससे टकराकर वक्र हो जाती हैं और यह वक्रता ही मिथक रचना का कारण बनती है। भाषा की इस प्रकृति को समझाने के लिए उन्होंने तस्मानिया की आदिम जातियों की बोलियों के शब्द भंडार पर लिखी गयी होबर्ट टाउन की एक पुस्तक से बड़ी रोचक जानकारियाँ प्रस्तुत की हैं। बताया है कि इन जातियों के पास 'गोंद' जाति के अलग-अलग किस्म के पेड़ों के लिए नाम तो हैं, पर अमूर्तन की शक्ति तथा सामान्यीकरण की प्रवृत्ति इनमें इतनी कम है कि 'पेड़' का कोई समानार्थक शब्द इनकी भाषा में नहीं मिलता। विशेषण और भाववाचक संज्ञाएँ भी नहीं मिलतीं। कठोर-मुलायम, ठण्डा-गरम, लम्बा-छोटा, गोल आदि के लिए भी शब्द नहीं मिलते। इसलिए इन्हें जब कठोर कहना है तो कहेंगे—'पत्थर की तरह' किसी लम्बी चीज को सूचित करने के लिए कहेंगे, 'पैर की तरह;' गोल वस्तु के लिए 'गेंद की तरह' अथवा 'चन्द्रमा की तरह': इस तरह थोड़े से शब्दों से ही वे सारा काम चला लेते हैं। यह भाषा की दुर्बलता है कि जब वह किसी भाव या वस्तु को सीधे-सीधे प्रकट नहीं कर पाती, तब वह उपमा और रूपक (मेटाफर) का सहारा ले कर प्रकट करती है। सूर्य के रथ की कल्पना कैसे हुई होगी ? मैक्समूलर का कहना है कि जब मनुष्य ने सूर्य की गोलाई को व्यक्त करने के लिए अपनी भाषा में शब्द ढूढ़ा होगा और जब कोई शब्द उसे नहीं मिला होगा तभी उसने उसे 'चक्का' या 'रोटा' (लेटिन भाषा का शब्द जिसका मतलब है, चक्का) कहा होगा। (३) उनका विचार है कि यदि मिथक कथाओं के मूल में पैठ कर देखा जाय तो मालूम होगा कि 'वे बनी हैं, उन शब्दों या शब्द-समूहों के माध्यम से, जो प्राकृतिक दृश्यों, तथ्यों एवं रहस्यों से सम्बन्धित थे।'(४) मैक्समूलर ने विभिन्न देशों की मिथक-कथाओं की व्याख्या द्वारा अपनी बात की पुष्टि की है और आज भी बहुत-से आलोचक मैक्समूलर का अनुसरण करते हुए मिथकों की व्याख्या कुछ शब्दों के आधार पर ही करते हैं। 'राम' को खेत, सीता को खेत की लीक और हनुमान को हल मान कर रामचरितमानस की व्याख्या करते हुए उसे प्राकृतिक तथ्यों से जब वे जोड़ देते हैं तब मैक्समूलर के पद-चिह्नों का ही अनुसरण करते हैं। बहरहाल, कहना हमें यह है कि मैक्समूलर मिथकों के निर्माण में भाषा की रुग्णता को ही कारण मानते हैं।

भाषा की यह रुग्णता क्या विचारों की रुग्णता नहीं है ? क्या यह रुग्णता प्राचीन युग में ही मिलती है या आज भी है ? मैक्समूलर का उत्तर है कि भाषा की रुग्णता वस्तुतः विचारों की ही रुग्णता है, क्योंकि भाषा और विचार को एक-दूसरे से अलगाया नहीं जा सकता। भाषा के बिना यदि विचार का अस्तित्व नहीं होता तो विचार के बिना भाषा का अस्तित्व भी

नहीं होता। इस अर्थ में भाषा की रुग्णता विचारों की रुग्णता है जरूर, फिर भी जैसे हर दार्शनिक यह मानता है कि वस्तु (मैटर) और रूप (फार्म) का अलग-अलग अस्तित्व नहीं होता, पर कोई दार्शनिक यह नहीं मानता कि दोनों एक हैं, उसी तरह विचार और भाषा को भी कोई एक नहीं मानेगा। पूरी तरह ये कभी एक हो भी नहीं सकते। इसलिए मिथक भाषा की एक अनिवार्यता है—उसकी आन्तरिक बाध्यता। 'वह विचारों पर पड़ने वाली भाषा की काली छाया है, जो हमेशा बनी रहेगी।'(५) इतिहास के प्रारम्भिक जीवन में वह ज्यादा गहरी और लम्बी थी, पर आज लुप्त हो गयी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मैक्समूलर का कहना है कि उस छाया के भीतर हम जी रहे हैं, इसलिए हमें उसका अहसास नहीं होता, पर है वह आज भी। मिथक आज भी बन रहे हैं।

मैक्समूलर के विचारों का तर्कसंगत निष्कर्ष निकालें तो इसका मतलब यह होगा कि मिथकों की दुनिया एक भ्रम है। यह भ्रम चूँकि भाषा की दुर्बलता से पैदा हो रहा है, इसलिए यह मिट भी नहीं सकता। सुप्रसिद्ध मिथक दार्शनिक अर्नेस्ट कैसीटर का विचार है कि यदि मैक्समूलर की इन धारणाओं को दार्शनिक परिणति दी जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि कला, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, सब कुछ भ्रम है। (६) भाषा यदि यथार्थ को ठीक-ठीक नहीं रख पाती, भ्रम उत्पन्न करती है, तब क्या सारे शास्त्र हमारे मानस की छाया नहीं बन जायेंगे ? हमारा चिन्तन भाषा का मुँहताज है। भाषा हमें उलझाती जरूर है, पर हमारे बोध का माध्यम भी यही है। इसलिए कैसीटर को भाषा की 'रुग्णता' का सिद्धान्त मान्य नहीं है। वे मिथक को सहजप्रज्ञात्मक ज्ञान का स्वतंत्र एवं सार्वभौम माध्यम मानते हैं, जिसकी जड़ें भाषा की जड़ों से मिलती हैं, पर इसका विकास भाषा के रास्ते से नहीं हुआ है। जैसे वृक्ष के एक तने से निकल कर उसकी दो शाखाएँ अलग-अलग दिशाओं में फैल जाती हैं, उसी तरह भाषा और मिथक का विकास हुआ है।(७) भाषा का विकास व्याख्या, विश्लेषण और तर्क की दिशा में हुआ है, इसकी प्रकृति विश्लेषणात्मक है। पर मिथक का कोई सम्बन्ध विश्लेषण, व्याख्या और तर्क से नहीं होता। अनुभूति के सघन क्षणों में जब मनुष्य की चेतना किसी वस्तु या दृश्य पर इस तरह केन्द्रित हो जाय कि उस वस्तु या दृश्य के अलावा किसी और चीज का बोध न रह जाय, तभी मिथक का जन्म होता है। देवता या दानव के बिम्ब इस अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होते हैं। इसलिए कैसीटर का कहना है कि मिथक एक किस्म का रूपात्मक चिन्तन है, जिसमें तर्क का

योग नहीं होता। कैसीटर के लिए मिथक भ्रम नहीं, ज्ञानमूलक भावात्मक अनुभव है।

स्पष्ट है कि कैसीटर मैक्समूलर की मिथक सम्बन्धी धारणा से सहमत नहीं दीखते। पर इतना वे मानते हैं कि मिथक और भाषा की जड़ एक है। पर इसका मतलब क्या है ? क्या आज भी कोई कह सकता है कि भाषा का जन्म कैसे हुआ ? भाषा-वैज्ञानिकों का ख्याल है कि आज दुनिया में जितनी भी भाषाएँ बोली जा रही हैं, वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आदिम भाषाएँ नहीं कही जा सकतीं। इसलिए इनके आधार पर भाषा की उत्पत्ति का विचार नहीं किया जा सकता। दूसरे, मनोविज्ञान इतना विकसित नहीं है कि वह बता सके कि कब और कैसे हमारे कण्ठ से ध्वनियाँ फूट कर निश्चित संकेत बन गयीं। (८) पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि अनुभूति के किसी चरम क्षण में ही मनुष्य ने 'ध्वनि' और 'रूप' का सम्बन्ध भी जोड़ा होगा। यह क्रिया सोच-विचार कर नहीं हुई होगी, क्योंकि भाषा के आने के पहले सोच-विचार का सवाल ही कहाँ उठता है ? इतना साफ है कि जिस तरह अनुभूति की सघनता के कारण भय और आशा की भाव-प्रतिमाओं के रूप में मिथकीय चेतना ने देवी-देवताओं की कल्पना की, उसी तरह मिथकीय चेतना ने ध्वनि-रूपों को भी उत्पन्न किया। अपने प्रारम्भिक काल में भाषा प्रत्यक्ष अनुभव के साथ इस तरह जुड़ी हुई थी कि उसका हर ध्वनि-रूप (शब्द) वस्तु का ही रूप होता था। शब्दों के कहने भर से अनुभव के प्रत्यक्ष बिम्ब उभर आते थे। जब मनुष्य 'नदी' कहता होगा, तो उसके सामने बाढ़ वाली किसी ऐसी गरजती नदी का रूप लहरा उठता होगा, जिसका उसे सामना करना पड़ा होगा। शब्दों में जादुई ताकत तो थी ही, वे एक-एक वस्तु और क्रिया के रूप थे—रूपक थे। शायद शब्दों के इस रूप को देखकर ही रोमांटिक दार्शनिक शोलिंग को ऐसा लगा था मानो हर शब्द एक धूमिल मिथक है, एक घिसा हुआ रूपक।

कैसीटर ने भाषा और मिथक को जोड़ने वाला सूत्र (मेटाफर) माना है। इस रूपात्मक चिंतन से ही भाषा जनमी और आज विकसित भी इसकी बदौलत ही हो रही है। फर्क केवल इतना है कि भाषा के जन्म के पहले यह चिंतन अतार्किक था—भाषा के जन्म के बाद तर्कमय हो गया। रूपक में एक वस्तु को ज्ञापित करने के लिए दूसरी वस्तु लायी जाती है। एक के लक्षण दूसरे में ढूँढ़े जाते हैं। इसकी जरूरत तब पड़ती है जब हम एक ऐसे नये अनुभव या विचार के दौर से गुजरते हैं, जिसके अनुरूप कोई शब्द नहीं पाते या ढेर सारे शब्दों के प्रयोग के बाद भी जिसे स्पष्ट नहीं कर पाते। मूर्त चिंतन की यह पद्धति मिथकों की भी है। पर भाषा के विकास की यह जान है। आई० ए०

रिचार्ड्स इसे भाषा का सर्वव्यापक सिद्धान्त मानते हैं और उनका ख्याल है कि भाषा या विचारों की दुनिया में इनके बिना एक कदम भी आगे बढ़ना सम्भव नहीं। विज्ञान हो या दर्शन, जहाँ हमने अमूर्त चिन्तन की ओर कदम बढ़ाया कि इनकी हमें जरूरत महसूस होने लगती है। सामान्य भाषा जब हमारा साथ छोड़ देती है तब रूपक ही विचारों के अवलम्ब बनते हैं। यह भी माना जाता है कि इनसे भाषा की व्यवस्था में नये सम्बन्ध सूत्रों का निर्माण होता है और विचारों के आदान-प्रदान तथा फेर-बदल से हमारा चिंतन विकसित होता है। मतलब यह कि आज हमारी भाषा चाहे जितनी तर्कप्रधान और विश्लेषणात्मक क्यों न हो जाय, हमारे विचार चाहे जितने सूक्ष्म और वैज्ञानिक क्यों न हो जाँय, रूपक से इन्हें मुक्त नहीं किया जा सकता। आज भी रूपक का इस्तेमाल धर्म, दर्शन, विज्ञान सभी क्षेत्रों में हो रहा है।

तब क्या मैक्समूलर की धारणा नितांत गलत थी? भाषा और मिथक क्या अपनी जड़ों में ही एक हैं? मैक्समूलर का कहना था कि शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक रूप को, उनके प्रारम्भिक रूपकत्व को समझे बिना जहाँ भी हम उन्हें प्रयुक्त करेंगे; वहाँ मिथक के बनने की सम्भावना रहेगी। वह संभावना क्या आज भी नहीं है? पश्चिम के एक आधुनिक लेखक मैककोरमैक ने मैक्समूलर की धारणा को पुष्ट करते हुए कहा है—'मनुष्य के जीवन के हर क्षेत्र में मिथकों की संभावना है, जहाँ भाषा में रूपक (मेटाफर) का इस्तेमाल होता हो। हम केवल आदिम जातियों में ही इन्हें नहीं पाते; आज के सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में भी पाते हैं। यहा तक कि समकालीन वैज्ञानिक दुनिया में भी इनका अस्तित्व है'। (९) मैककोरमैक ने अपनी रोचक पुस्तक में ढेर सारे वैज्ञानिक मिथकों का उल्लेख किया है। इसमें सदेह नहीं कि मिथक आज भी बन रहे हैं। इतने बन रहे हैं कि कुछ बरसों पहले (१९७२) फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक राब ग्रिये ने बड़े दर्द के साथ कहा: 'अभी इन क्षणों में, मैं जिस समाज में जी रहा हूँ, वह समाज मिथकों का समाज है। इसके सारे तत्व जिनसे मैं अपने को घिरा पाता हूँ, वे मिथकीय तत्व है।' मजे की बात यह है कि ठीक सौ बरसों पहले (१८७२) नीत्शे को ऐसा लगा था मानो मिथकों की दुनिया खत्म हो गयी। वही दुनिया आज राब ग्रिये ही नहीं, कई विचारकों को घटने की बजाय और फैलती नजर आ रही है। उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में मिथक ही मिथक दिखाई पड़ने लगे हैं। क्यों? मैक्समूलर का उत्तर आंशिक समाधान ही दे पाता है। भाषा का रूपकत्व माना कि आज भी है। और आगे भी बना रहेगा। पर क्या यह पहले से कम नहीं हुआ है? फिर मिथक और ज्यादा क्यों बने? दूसरे, मैक्समूलर ने केवल प्राकृतिक दृश्यों या तथ्यों से मिथकों को जोड़ा था, जो एक

निहायत विवादास्पद बात थी । मालिनोवस्की आदि नृशास्त्रियों का मंतव्य है कि मिथकों के निर्माण में मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक गतिविधियाँ और धार्मिक कर्मकाण्ड ज्यादा महत्व रखते हैं । एक क्षण के लिए मैक्समूलर की बात मान लें और उसे आदिम मनुष्य के लिए सच भी मान लें तो क्या वह आज के मनुष्य के लिए सच है ? आज के मनुष्य का सोच और उसकी जिज्ञासा काफी बदल चुकी है । आज वह शिशु नहीं, प्रौढ़ है । वह प्रश्न नहीं पूछता, प्रकृति को मुट्ठी में बाँध कर रखना चाहता है । तब आज के मिथकों के निर्माण का उद्देश्य क्या है ?

रोनाल्ड बार्थ्स की दृष्टि में मिथकों की इस फैलती दुनिया का मूल कारण बूर्जुआ वर्ग का छद्म रूप है । यह वर्ग इतिहास के एक ऐसे दौर से गुजर रहा है जहाँ वह जीवन के परिवर्तनशील यथार्थ को बाँध कर रखना तो चाहता है, पर यह नहीं चाहता कि उसके इस प्रगतिविरोधी रूप को कोई देख ले । यही कारण है कि अपने चेहरे को छिपाने के लिए वह तरह-तरह के मिथकों की सृष्टि कर रहा है । 'राष्ट्रीयता', 'नैतिकता', 'मानव-स्वभाव', आदि धारणाएँ इस रूप में रखी जाती हैं, मानो ये सनातन सत्य हों, जिनके बारे में बहस नहीं हो सकती । मिथक बनाने का मतलब ही है, तर्क और विश्लेषण के दायरे से अलग कर इन्हें प्रकृत रूप देना । मार्क्स और एंजेल्स ने 'जर्मन विचारधारा' नामक पुस्तक में कहा है : 'जब कोई वर्ग सत्ता में आता है तो उसे मजबूर हो कर अपने को सत्ता में बनाये रखने के लिए अपने वर्ग स्वार्थों को सबके स्वार्थ के रूप में रखना पड़ता है । वह न केवल उन स्वार्थों को आदर्श रूप देता है, बल्कि सार्वभौमिक सत्य बनाकर, इस तरह से उन्हें पेश करता है कि वे लोगों को एकमात्र बुद्धिसंगत सार्वदेशिक सत्य मालूम पड़ें ।'(१०) बार्थ्स मानते हैं कि आज के समाज का नियामक बूर्जुआ वर्ग है । इसलिए यह वर्ग इतिहास की द्वन्द्वात्मक सच्चाई को अखण्ड शाश्वत सत्य बनाकर मिथकों में स्थापित कर रहा है । रोनाल्ड बार्थ्स का यह दृष्टिकोण काफी विवादास्पद है, क्योंकि पूछा जा सकता है कि क्या मिथक उन देशों में नहीं बन रहे हैं, जहाँ कहा जाता है कि किसान और मजदूरों का राज है ? बार्थ्स इस संभावना से इन्कार नहीं करते और यह मानते हैं कि जहाँ भी व्यवस्था छद्म रूप ग्रहण करती है वहीं मिथक बनते हैं–स्टालिन के मिथक का उल्लेख भी उन्होंने किया है । पर इस बात को हम ज्यादा महत्व नहीं देना चाहते । हमारे लिए विचार का विषय यह है कि मिथक बनते कैसे हैं—उनका स्वरूप क्या है ? और सच पूछा जाय तो रोनाल्ड बार्थ्स की भी ज्यादा कोशिश

आज के मिथकों की प्रक्रिया को स्पष्ट करने की ओर रही है और इस क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण देन है।

रोनाल्ड बार्थ्स यूनानियों की तरह ही मिथक को कथन की एक शैली मानते है।(११) पर बार्थ्स के लिए इस शैली का मतलब है, भाषा का एक खास रूप (फार्म)। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि हर भाषा मिथक नहीं बनती, और चूंकि मिथक रूप (फार्म) है, इसलिए इसकी रूपगत सीमा तो हो सकती है, पर अन्तर्वस्तु की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। कोई भी विचार, अवधारणा या पदार्थ मिथक के दायरे में आ सकता है। पेड़-पौधे, नदी-नाले, सब मिथक का रूप ले सकते हैं, बशर्ते इन्हें भाषा का एक खास रूप दिया जाय। पर भाषा को वे सीमित अर्थ में नहीं लेते। उनके लिए सिनेमा, फोटोग्राफी, खेल और विज्ञापन भी भाषा के ही रूप हैं। जिस तरह लिखी या बोली जानेवाली भाषा का संकेत-विधान होता है, उसी तरह इन सबकी अलग-अलग संकेत-व्यवस्थाएँ हैं। जहाँ किसी चीज का इस्तेमाल संकेत के रूप में होगा, वहीं वह चीज भाषा का रूप ले लेगी। चूंकि खाना, कपड़ा, खेल भी संकेत बनते हैं, इसलिए इन सभी क्षेत्रों में मिथक भी बन रहे हैं। खिलौने भी मिथक का रूप उसी तरह ले सकते हैं, जिस तरह कपड़े या सिनेमा के दृश्य या विज्ञापन। सच पूछा जाय तो रोनाल्ड बार्थ्स जिन दिनों मिथकों का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे थे, उन दिनों उनकी धारणा थी कि भाषा-विज्ञान संकेत-विज्ञान का एक अंग है या ज्यादा से ज्यादा इतना कहा जा सकता है कि इसका समानान्तर शास्त्र है। और इस संकेत-विज्ञान के अध्ययन का एक हिस्सा उन्होंने मिथकों का माना था। पर अब वे ऐसा नहीं मानते। अब उन्होंने संकेत-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान का अंग बना दिया है।

संकेत-विज्ञान है क्या ? इसकी थोड़ी-सी चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही इसकी सर्वप्रथम कल्पना स्वीट्जरलैंड के भाषाविद फरडीनान्ड द सासुरे ने की थी। उन्होंने १९१६ में कहा था—'सामाजिक जीवन में निर्मित होनेवाले संकेतों का अध्ययन जो शास्त्र करे, ऐसे शास्त्र की बात अब सोचने लायक है। यह शास्त्र समाज-मनोविज्ञान और अन्ततः सामान्य मनोविज्ञान का एक हिस्सा होगा। मैं इसे 'सेमुओलाजी' (संकेत-विज्ञान) कहूँगा, क्योंकि ग्रीक भाषा में 'सेमियोन' का अर्थ होता है—'साइन' (संकेत)। संकेत-विज्ञान यह बतायेगा कि 'संकेतों' को बनानेवाले तत्व क्या हैं और ये संकेत किन नियमों से नियंत्रित होते हैं। चूंकि अभी यह शास्त्र अस्तित्व में नहीं आया है, इसलिए कोई नहीं जानता कि वस्तुतः इसका स्वरूप क्या होगा। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसे अस्तित्व में आने का अधिकार है

और इसने अपने स्थान की माँग पहले से ही कर रखी है। संकेत-विज्ञान (सेमियोलाजी) के नियम भाषा-विज्ञान पर भी लागू होंगे और भाषा-विज्ञान के नियम नृशास्त्र के तथ्यों की परिधि भी बनेंगे।' (१२) सासुरे के संकेतों के आधार पर रोनाल्ड ने इस विज्ञान को विकसित किया और दैनन्दिन जीवन में आनेवाली ढेर सारी चीजों का विश्लेषण किया। पर जैसा कि हमने कहा, उन्होंने अब अपनी विश्लेषण पद्धति पलट दी है। उन्होंने संकेत-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान का अंग बना डाला है। देखें कि उनकी पद्धति क्या है।

हम जानते हैं कि भाषा ध्वनि-संकेतों की एक व्यवस्था है, जिसमें अलग-अलग ध्वनियों के अलग-अलग अर्थ होते हैं। शब्द को यदि हम 'संकेत' मानें तो उसके दो अंग 'ध्वनि' और 'अर्थ' होंगे। 'ध्वनि' तब शब्द का 'संकेतक' है, और अर्थ उसका 'संकेतित' रूप। शब्द की ध्वनि' का अपने आपमें कोई अर्थ नहीं होता, उसी तरह जैसे ध्वनि से अलग अर्थ की कोई सत्ता नहीं होती। सासुरे का कहना है कि भाषा में 'ध्वनि तत्व का ही एक गुण उसका अर्थ है और अर्थ का ही एक गुण ध्वनि का एक छोटा-सा टुकड़ा है'। जैसे सफेद कागज के टुकड़े को ऊपर से काटें तो नीचेवाला हिस्सा कट जायेगा, नीचे से काटें तो ऊपरवाला टुकड़ा कट जायेगा। उसी तरह 'संकेतक' (ध्वनि)और 'संकेतित' (अर्थ) को अलगाया नहीं जा सकता। पर इन दोनों में सम्बन्ध कौन स्थापित करता है ? ध्वनियों के संयोग और वियोग के अपने नियम हो सकते हैं। हैं भी। पर इनमें अर्थ भरनेवाला तो आखिर समाज ही होता है। ध्वनि और अर्थ का सम्बन्ध हर भाषा में अलग-अलग किस्म का होता है। इसका कोई प्राकृतिक स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता। सच पूछा जाय तो इन्हें 'सकेत' हम बनाते हैं। यही रूप क्या वस्तु जगत में भी नहीं दिखाई पड़ता है ? (१२)

गुलाब एक फूल है—मौन, जड़ वस्तु। फूल के रूप में इसकी उपादेयता हो सकती है। यह हमें मनोहर लगता है, इसलिए हमारे लिए प्रीतिकर है। इससे ज्यादा और क्या ? ध्वनि की तरह ही यह भी रिक्त है। तब तक, जब तक कि हम इसे अर्थ नहीं देते। जब हम इसके द्वारा अपना प्रेम प्रकट करना चाहेंगे तभी यह एक 'संकेत' बनेगा। ध्वनि (संकेतक) और अर्थ (संकेतित) के मिलने से शब्द (सकेत) बनता है। वैसे ही संसार की किसी भी वस्तु के साथ जब कोई अवधारणा (कॉन्सेप्ट) जुड़ती है तब वह वस्तु 'संकेत' बनती है। पेड़ महज पेड़ है। यह हम पर निर्भर करता है कि उसमें कौन अर्थ भरें। रोनाल्ड बार्थ्स का कहना है कि 'समाज में हर वस्तु का इस्तेमाल उसके इस्तेमाल के 'संकेत' में बदल देता है।' बरसाती हम वर्षा से बचने के लिए लेकर चलते हैं। पर बरसाती लेकर चलने का मतलब यह भी है कि मौसम

खराब है। यह मौसम का 'संकेत' भी है। कपड़ा जब वर्दी के रूप में फैशन की विभिन्न शैलियों मे आता है, तब वह 'संकेत' बन जाता है।

रोनाल्ड बार्थ्स का कहना है कि मिथक भी एक 'संकेत-व्यवस्था' है। इसमें सांकेतिकता का त्रिआयामी ढांचा (संकेत-संकेतक-संकेतित) मिलता है। पर यह दूसरे सोपान की 'संकेत-व्यवस्था' है। मिथक में, पहले सोपान का जो 'संकेत' होता है, वह दूसरे सोपान में महज 'संकेतक' रह जाता है। यानी संकेत के रूप में चाहे कोई वस्तु हो या भाषा या चित्र—सभी एक व्यापक सांकेतिक व्यवस्था के उपकरण बन जाते हैं। वे मिथकीय भाषा के अंग हो जाते हैं, जिससे सामान्य अर्थ के साथ-साथ वृहत्तर अर्थ फूट पड़ता है। 'यह प्रक्रिया कुछ ऐसी है मानो मिथक प्रथम सांकेतिकता के ढांचे से किंचित बगल की ओर झुक जाय। इसे अगर चित्र में आंका जाय तो वह कुछ इस प्रकार होगा :

भाषा

(१) संकेतक | (२) संकेतित

(३) संकेत
I संकेतक | II संकेतित

मिथक

III संकेत

इसे समझने के लिए रोनाल्ड बार्थ्स द्वारा ही प्रस्तुत एक उदाहरण लें। 'पेरिस-मैच' मैगजीन के मुखपृष्ठ पर एक चित्र अंकित है, जिसमें फ्रांस के झण्डे को एक नीग्रो सिपाही सलामी दे रहा है। इस चित्र भाषा का सामान्य अर्थ इतना ही है—'देखिए, यह रहा एक नीग्रो जो फ्रांस के झण्डे को सलामी दे रहा है।' लेकिन क्या इसका अर्थ इतना ही है? पूरा चित्र क्या यह नहीं संकेतित कर रहा कि फ्रांस एक विशाल साम्राज्य है; जिसकी रक्षा के लिए इसकी सभी सन्तानें काले-गोरे सब, सन्नद्ध हैं? यह चित्र उस समय छपा था जब

अल्जीरिया की आजादी की लड़ाई चल रही थी। इसलिए इस अर्थ में दो अवधारणाएँ जुड़ गयी हैं। एक तरफ जहाँ यह चित्र फ्रांस की फौजी ताकत को संकेतित करता है वहीं औपनिवेशिकता को भी सही बता रहा है—यह कहते हुए कि इसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होता, देखिए यह नीग्रो भी फ्रांस की रक्षा करने के लिए प्रस्तुत है। अतएव फ्रांस का झण्डा और नीग्रो इस दूसरे अर्थ के महज 'संकेतक' हैं, 'संकेतित' है वह दूसरा अर्थ जो इससे फूट कर निकल रहा है विकीरित हो रहा है। पूरा मिथक ही 'संकेत' है। मिथक के विश्लेषण में 'संकेतक' ही मिथक का स्वरूप (फार्म) है और संकेतित ही उसका 'अर्थ' है।

इस तरह के उदाहरण हमें प्रायः देखने को मिल जाते हैं। हिन्दुस्तान के किसी 'दैनिक' समाचार-पत्र के पन्ने पलटिए। बैंकों का एक खास विज्ञापन दीख जायेगा। खेत में सुनहली धान या गेहूँ की फसल लगी है। बीच में एक हट्टा-कट्टा किसान हाथ में हँसुआ लिये खड़ा मुस्करा रहा है अथवा हल जोत रहा है। पर चित्र के बगल में कहीं एक बैंक की इमारत भी खड़ी है। हो सकता है इस विज्ञापन में कुछ लिखा हुआ भी मिले। ऐसा भी हो सकता है कि कुछ नहीं लिखा हो। इस चित्र का सामान्य अर्थ यह है कि किसान ने बैंक से कर्ज लिया है और यह फसल उस कर्ज की सहायता से ही किसान को मिली है। पर यह चित्र इससे और आगे जा कर क्या यह कहीं कहता कि बैंक में रुपये जमा कीजिए, यह सबका मददगार है? इसकी पूँजी से राष्ट्र की खुश-हाली बढ़ती है। देश की गरीबी दूर होती है। यह बात पूरे देश के लिए सच है या एक वर्ग के लिए? मिथक का यह व्यापक अर्थ क्या एक वर्ग की इच्छा का सामान्यीकरण नहीं है?

चित्र-भाषा का यह दूसरा अर्थ पहले अर्थ का विरोध नहीं करता। पहले और दूसरे अर्थ में कोई विरोध नहीं। पर इसमे एक धूप-छांही खेल चलता रहता है। नीग्रो फ्रांस के साम्राज्यवाद का प्रतीक नहीं हो सकता। विज्ञापन का किसान भी भारत की खुशहाली का प्रतीक नहीं हो सकता। नीग्रो एक जीवन्त अविवादास्पद बिम्ब है। वह किसी विचार या धारणा का विकल्प नहीं है। इतना जरूर है कि नीग्रो का अपारदर्शी मूर्त रूप मिथक की छाया में पारदर्शी हो गया है, जिसके भीतर से फ्रांस का फौजी साम्राज्यवाद झिल-मिलाने लगा है। किसान को भी पारदर्शी बना कर उसे एक विशेष अर्थ की छाया में डाल दिया गया है। मिथक के रूप और अर्थ के इस खेल को स्पष्ट करने के लिए रोनाल्ड ने एक और उदाहरण दिया है। मान लीजिए आप एक मोटरगाड़ी में सफर कर रहे हैं, और खिड़की के पास बैठ कर उसके शीशे के

भीतर से बाहर का दृश्य देख रहे हैं। कभी आपकी नजर शीशे पर अटक जायेगी तो लैंडस्केप बहुत दूर झिलमिलाता हुआ दिखाई पड़ेगा और कभी वह लैण्डस्केप अपनी पूरी गहराई के साथ शीशे के भीतर से उभर आयेगा। शीशा है भी, नहीं भी है। उसी तरह लैण्डस्केप है और नहीं है। इन दोनों की जो स्थिति होती है, वही स्थिति मिथक के रूप और अर्थ की है। जिस तरह नजर दूर जाती है तो शीशा भरा हुआ दीखता है, और केवल शीशे तक है तो वह खाली है, उसी तरह मिथक के यदि केवल रूप पर हमारा ध्यान है तो वह सामान्य अर्थ देता है, दूर हमारा ध्यान है तो वह व्यापक अर्थ देता है।

रोनाल्ड बार्थ्स मिथक की इस 'संकेत-व्यवस्था' को 'मेटा-लैंग्वेज' या व्यापक भाषा कहता है। यह भाषा की स्फीति है। प्रश्न है, क्या रोनाल्ड भी मिथक को रूपक (मेटाफर) मानते हैं ? मिथक सामान्य भाषा को लूटकर उसमें अपना एक अलग उपनिवेश बनाता है। इतिहास को प्रकृति में बदल देता है। ठोस मूर्त वास्तविकता को पारदर्शी बनाकर उसे किंचित विकृत कर एक नयी मूल्य व्यवस्था को उसमें स्थापित करता है। 'वह झूठ नहीं होता, झूठ का स्वीकार भी नहीं होता, केवल भाषा की स्फीति है। उसका ध्वनि-परिवर्तन है। (१४) इस ध्वनि परिवर्तन से मिथक का सारा संकेत एक विचार या दृष्टिकोण से बंध जाता है। इसी अर्थ में यह भाषा की एक लूट है। झण्डे को सलामी देते हुए नीग्रो को प्रतीक नहीं बनाया जाता, उदाहरण के रूप में भी पेश नहीं किया जाता, बल्कि उसके जरिये फ्रांस के साम्राज्यवाद को सहज स्वाभाविक बना कर रख दिया जाता है। अन्तर्विरोधों पर एक पर्दा डाल दिया जाता है। जब हम विज्ञापन के हट्टे-कट्टे किसान को देखते हैं, उसकी सूखी ठठरियाँ हमारी आखों से ओझल हो जाती हैं। हरा लहलहाता खेत पानी के अभाव में सूखती फसलों के वास्तविक रूप को छिपाता नहीं, हमे इस कल्पना में ही उठा ले जाता है कि सचमुच ही किसान को यदि मदद मिलती है तो क्या ऐसा नहीं हो सकता ? इस तरह मिथक इतिहास के भीतर एक और इतिहास की रचना करता है। इसे हम रूपक कह सकते हैं—पर रोनाल्ड इसे व्यापकतर भाषा (मेटा-लैंग्विज) कहना पसंद करते हैं, जिसमें भाषा का सामान्य रूप ही 'संकेतित' बन जाता है।

रोनाल्ड बार्थ्स के लिए संकेत-विज्ञान भाषाओं की भाषा है। यह सामान्य भाषा के द्वितीय सोपान पर जन्म लेती है, पर इसकी सांकेतिकता केवल विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। कोई भाषा जब भी सामान्य अर्थ का अतिक्रमण कर संकेत का रूप लेती है—वह इसके अन्तर्गत आ जाती है। इसीलिए कपड़ा जब वर्दी बनता है, कोई खाना जब किसी वर्ग या समूह की

प्रकृति का द्योतक बन जाता है, वह संकेत का रूप लेता है – व्यापक भाषा के दायरे में आ जाता है। मिथकों की रचना इसीलिए जीवन के हर क्षेत्र में हो रही है। चूँकि समाज में एक खास वर्ग हावी है, इसलिए उसकी रुचि, विचार और संस्कार ही आज के मिथकों के अर्थ में रूपान्तरित हो रहे हैं। 'मिथक मौजूदा व्यवस्था की गैर-राजनीतिक भाषा है।' रोनाल्ड राजनीति को एक व्यापक और गहरे अर्थ में लेते हैं जहाँ वह सामाजिक जीवन को बाँधनेवाली व मानवी सम्बन्धों की न केवल एक व्यवस्था है, बल्कि दुनिया को बदलने वाली ताकत भी है। मिथक इस परिवर्तनवादी राजनीति का निषेध करते हैं। नीग्रो सैनिक अथवा किसान का हंसता हुआ-खिला हुआ चेहरा तात्कालिक इतिहास को गैर-राजनैतिक बनाते हैं। पर रोनाल्ड से यह पूछा जा सकता है कि क्या 'क्रान्ति' के मिथक नहीं होते? भाषा क्या स्थापित व्यवस्था का ही हथियार है? पर ये अवान्तर प्रसंग हैं। रोनाल्ड के विश्लेषण से हम इतना जान पाते हैं कि क्यों सारी दुनिया में नये मिथकों का विस्तार हो रहा है। उनकी इस धारणा को स्वीकार करें तो क्या ये सारे मिथकीय फार्म—जो खिलौनों में, विज्ञापनों में पुस्तकों में रखे जा सकते हैं, कुछ मिथकों के ही फैलाव नहीं हैं?

लेवी स्ट्रॉस ने दक्षिणी अमेरीका की वन्य जातियों की मिथक कथाओं का विश्लेषण करते हुए पाया कि इनमें फैलने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। प्राचीन युग में चूंकि ये कही और सुनी जाती थीं, इसलिए इनमें परिवर्तन भी खूब होते थे। पर लेवी स्ट्रॉस का ख्याल है कि इनकी एक आधारभूत संरचना होती है, जो अर्थ के सारे ऊपरी परिवर्तनों के बावजूद हर कथा में बनी रहती है। इस 'संरचना' को कहने या सुननेवाला आसानी से पहचान नहीं पाता, पर उसका सारा आनन्द—कथा का सारा रस—इस संरचना पर ही निर्भर करता है। हैमलेट की कथा जब इनमें से कुछ ने सुनी, तो उनको यह कथा निरर्थक नहीं लगी। उन्होंने इसे आनन्द से सुना। पर उनके लिए कथा का अर्थ यूरोपवासियों के अर्थ से भिन्न था। स्ट्रॉस का मंतव्य है कि मिथक के हर बदले हुए रूप में यह संरचना कायम रहती है। जैसे संगीत के स्वरों की आवृत्ति तथा उनके तोड़-जोड़ से राग का ढाँचा खड़ा होता है उसी तरह मिथक कथा के भी कुछ अंश ऐसे होते हैं, जो आवृत्तिमूलक हैं। इनकी गति एकदिग्गामी नहीं होती, इनमें क्रम भी नहीं होता। संगति-असंगतियों से भरी यह संरचना भाषा के समान ही द्वन्द्वात्मक होती है। यह संरचना है क्या?

स्ट्रॉस ने मिथक की संरचना का विश्लेषण भाषाविज्ञान के आधार पर किया है। जिस तरह संकेत विज्ञान की पूरी इमारत भाषाविज्ञान की धारणाओं पर खड़ी है, उसी तरह स्ट्रॉस का मिथकीय विश्लेषण भी भाषाविज्ञान के

आधार पर हुआ है। उनका कहना है कि निरर्थक ध्वनियों से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्यों से पूरी रचना बनती है। ठीक इसी तरह मिथकों को तोड़ कर देखा जाय तो उसकी सबसे छोटी ईकाई 'माइथेम' है। यह 'फोनेम' (ध्वनिग्राम) की तरह निरर्थक मालूम पड़ेगी। भाषाशास्त्री जेकोब्सन ने फोनेम (ध्वनिग्राम) को परमाणु की तरह 'विपरित और विरोधी ध्वनि-कणों का समुच्चय' माना है। जैसे परमाणु में इलेक्ट्रोन और प्रोटोन के संयोग से एक भौतिक क्षेत्र-व्यवस्था तैयार होती है, उसी तरह फोनेम में विपरीत और विरोधी ध्वनियों की एक व्यवस्था बनती है। फोनेम (ध्वनिग्राम) अपने आपमें निरर्थक हैं। पर अपनी द्वन्द्वात्मक प्रकृति के कारण वे अर्थ की सृष्टि भी करते हैं। यही हालत मिथकों में 'माइथेम' की है। स्ट्रॉस का दावा है कि ध्वनिग्राम के सिद्धान्तों के आधार पर यदि मिथकों का विश्लेषण किया जाय तो न केवल उनके संरचनात्मक आधार को हम पा सकते हैं, आगे बननेवाले मिथकों के स्वरूप और संभावनाओं का निर्धारण भी किया जा सकता है। पर उनके मिथकों के विश्लेषण से यह प्रकट है कि मिथक उनके लिए एक कथा है, जिसकी संरचना भाषा है। मिथक-कथाओं को मुहावरों, चरित्रों और घटनात्मक प्रसंगों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर जब वे मिथकों की समीक्षा करते हैं तो उनके मिथक भाषा के अलग-अलग खण्ड-से लगते हैं। पर वे मिथक को रोनाल्ड की तरह कथन शैली नहीं, मूलतः कथा मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है : 'संसार में लोग जहाँ भी मिथक को सुनते या पढ़ते हैं, उसे मिथक ही समझते हैं'—मतलब यह कि यह एक कथा है, शैली नहीं। कथा और कविता की संरचना में भी फर्क है। स्ट्रॉस की चर्चा हम विस्तार से नहीं करना चाहते। ध्वनिविज्ञान के आधार पर मिथकों का जो विश्लेषण उन्होंने किया है, उसे संक्षेप में रखा भी नहीं जा सकता। उनके विचार का मूल रूप इतना ही है कि मिथक को समझना है तो भाषा की सरचना को समझना होगा। मिथक का तर्क भाषा के तर्क में है।

इस तरह मैक्समूलर मिथक को भाषा की रुग्णता मानते हैं—पर कुल मिला कर यह रुग्णता भाषा के रूपकत्व में ही स्थापित होती है। रोनाल्ड बार्थ्स उसको भाषा की संकेत-व्यवस्था का दूसरा सोपान मानते हैं। यह एक ऐसी सांकेतिकता है, जिसमें भाषा के व्यापक रूप का इस्तेमाल होता है। स्ट्रॉस की धारणा है कि मिथक को हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक उसकी सरचना को न समझें और यह संरचना भाषा है। मनुष्य के पूरे सोच को समझने के लिए स्ट्रॉस ने मिथक को अपने अध्ययन का विषय बनाया था। जाहिर है कि भाषा के रूप में उन्हें एक ऐसा मॉडल मिला जिसका इस्तेमाल उन्होंने मिथक ही नहीं, पूरे नृशास्त्र पर किया। मियक फैल रहा है, उसके

साथ-साथ भाषा का दायरा भी फैल रहा है। संचार के विभिन्न माध्यम तो इसके प्रमाण हैं ही, रोनाल्ड बार्थ्स और स्ट्रॉस का चिंतन भी बताता है कि भाषा हमारे सारे चिंतन पर छाती जा रही है।

संदर्भ

१ पाल वेलरी का कथन। 'द स्ट्रक्चरलिस्ट कन्ट्रोवर्सी' में टोडोरोव के अभिभाषण में उद्धृत। पृ० १२५

२ द सेलेक्टेड एसेज आन लैंग्वेज, माइथोलोजी एण्ड रिलीजन—भाग १, पृ० ५९३

३ वही, देखें पृष्ठ ६०१—'द फिलासफी आफ माइथोलाजी' शीर्षक व्याख्यान में।

४ पुराण शास्त्र एवं जन कथाएं—मैक्समूलर, अनुवादक रमेश तिवारी, पृष्ठ २

५ द सलेक्टेड एसेज आन लैंग्वेज, माइथोलाजी एण्ड रिलीजन—भाग-१ पृष्ठ ५९०

६ लैंग्वेज एण्ड मिथ:—अर्नस्ट कैसीटर—पृष्ठ ७

७ वही, पृष्ठ ८८

८ फिलासफी इन ए न्यू की—एस० के० लैंगर, पृष्ठ ९९

९ मेटाफर एण्ड मिथ इन साइंस एण्ड रिलीजन - अर्ल आर० मैककोरमैक, पृष्ठ १०२

१० जर्मन आइडियालोजी— मार्क्स एवं एंजेल्स, पृ० ६४

११ माइथोलोजीज—रोनाल्ड बार्थ्स, पृ० १०९

१२ एलिमेन्ट्स आफ सेमिओलाजी - रोनाल्ड बार्थ्स

१३ 'द कन्सेप्ट आफ स्ट्रक्चरलिज्म' में उतद्धृ—फिलिप पेटीट, पृ० ३३

१४ लैंग्वेज एण्ड मेटीरीयलिज्म—राजालीन्ड कोआर्ड एण्ड जॉन एलीज, पृष्ठ १३

१५ माइथोलाजी रोनाल्ड बार्थ्स, पृ० ११३

१६ वही, पृ० ११४

१७ वही, पृ० १२९

१८ मिथ - जी० एस० किर्क

१९ क्लॉड लेवी स्ट्रॉस एन इन्ट्रोडक्सन — ओक्टोविया पॉज — स्पेनिश से अनूदित

डा० सुब्रत लाहिड़ी

आधुनिक नाटकों का मिथकबोध

अगर नाटक समाज का दर्पण है, तो सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक विकास के साथ नाटक के विषय, कथ्य, शैली, रंगमंचीयता आदि में परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन काल से नाटकों का एक मुख्य आधार मिथक रहा है। ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त ऐसे मिथकीय नाटक लिखे जाते रहे हैं, जिनमें सामाजिक अंतर्वस्तु मिथक के स्वरूप में मिलती है। मिथक का एक प्रधान गुण है नाटकीयता। नाटकों को इससे ज्यादा फायदा पहुँचता रहा है। वर्त्तमान जीवन संदर्भों से जुड़ कर मिथक अपनी नई प्रासंगिकता अर्जित कर रहे हैं और इनके आधुनिक स्वरूप का विकास हो रहा है। ऐसा नहीं है कि मिथकीय नाटक पुरा कथ्य प्रस्तुत करते हैं, बल्कि ये आधुनिक जीवन के संकेतों को ही यथार्थवादी स्तर पर उभारते हैं। वर्तमान समाज की समस्याओं और इनसे जूझने के उपायों का चित्रण करके ही हिन्दी नाटक यथार्थवादी हो सकते हैं। किन्तु क्या माध्यम के रूप में आज पुराण और इतिहास के कथा प्रसंगों का कोई महत्व नहीं है? भारतेंदु युग में पौराणिक नाटक लिखे गये। प्रसाद युग में ऐतिहासिक नाटकों की भरमार रही। परिवर्त्तित युग में, आठवें दशक में भी मिथकीय नाटक बड़े पैमाने पर लिखे गये। अंततः उभरता यही है कि हिन्दी के आधुनिक नाटकों में मिथकों का प्रयोग काफी अधिक हुआ है।

सामाजिक परिवर्त्तन के साथ लेखक के मिथकबोध में परिवर्त्तनशीलता आती है। देश की राजनीतिक स्थिति में ब्रिटिश साम्राज्य के आगमन से १८५७ की क्रांति तक जातीय-सांस्कृतिक चेतना की एक सशक्त पृष्ठभूमि तैयार

हो गई थी। सिपाही विद्रोह से जातीय चेतना का जड़ पकड़ना, पाश्चात्य और पूर्वी संस्कृति के मध्य एक संघात उपस्थित होना इस बात की सूचना है कि अपनी संस्कृति के प्रति लोगों में अधिक आग्रह पैदा हो गया था और वे इसे अब नये आलोक में देखना-परखना चाहते थे। इस वजह से सामूहिक चेतना का उदय हुआ। आधुनिक मूल्यबोध विकसित होने लगा। भारतीय संस्कृति का अपने आधारभूत कलात्मक वृत्तों में लौटना और इन्हें आधुनिकता के संस्कार प्रदान करना स्वाभाविक भी था। यद्यपि भारतेंदु युग की हिन्दी कविता में भक्ति एवं रीतिकालीन परंपराओं का ही विकास अधिक हुआ, पर भारतेंदु के नाटकों ने हिन्दी जगत में आधुनिक चेतना का बीजारोपण किया। आधुनिक साहित्य की शुरुआत हमलोग भारतेंदु के काल से मानते हैं —इसके मुख्य आधार भारतेंदु के नाटक ही हैं। नाटकों के क्षेत्र में ही सर्वप्रथम मध्यकालीन परंपरा से मोहभंग हुआ। अस्थिर जनमानस के समक्ष आदर्शवादी नाटक सामने आये, मसलन 'सत्य हरिश्चन्द्र'। समकालीन दशा के प्रति व्याकुलताओं के कारण पौराणिक-ऐतिहासिक पात्र नाटककार के भाव-जगत के मुख्य अंग बन जाते हैं। भारतेंदु युग के विभिन्न पौराणिक नाटक पराधीनता की मानसिकता को तोड़ने का सफल उपक्रम करते हैं। 'अंधेर नगरी' का चौपट राजा एक तरह का आधुनिक मिथक ही है, जिसकी रंगमंचीयता का धरातल अभी भी बहुत ताजा है। उन्नीसवीं सदी में सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के अभ्युदय के लिए मिथकों को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाया गया। जब स्पष्ट कथन का माध्यम चुक जाता है, रचनाकार मिथक का आश्रय लेते हैं। साम्राज्यवाद की जंजीरों से जकड़े भारत के लिए मिथक एक प्रखर कला रूप इसीलिए बन गया।

साहित्य में नाटक एक ऐसा माध्यम है जो सीधे व्यापक जन संपर्क में रहता है। भारतीय जनमानस के प्रिय पौराणिक पात्रों को लौटा कर उन्हें नये कथ्य से जोड़ कर पेश करना आधुनिक नाटककारों का मुख्य उद्देश्य रहा है। यद्यपि इससे प्राचीन रूढ़िग्रस्त संस्कृति के प्रति भावुक श्रद्धाबोध भी कहीं-कहीं उमड़ गया है। किन्तु सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग में भारतेंदु युगीन नाटक-कारों तथा पारसी रंगमंच ने विभिन्न आयामों से अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने की चेष्टा की। अन्य भारतीय भाषाओं के नाट्य जगत में भी समान परिस्थिति थी। अलग-अलग आयामों के बीच सभी एक केन्द्र बिन्दु तक पहुँचने के लिए सचेष्ट थे। राष्ट्रवादी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए धर्माश्रित पौराणिक कथाओं का आश्रय लिया गया। धर्मप्रेरित नैतिकता बोध के माध्यम से ही तत्कालीन नाटककार लोगों को सामाजिक दायित्वबोध के निकट लाने

का प्रयास कर रहे थे और इसके लिए समाज के इतिहास का कलात्मक आकलन कर रहे थे। इन्हीं पुराणाश्रित कथाओं के माध्यम से मिथकीय चरित्रों को जनता के बीच उपस्थित किया गया। साहित्यिक नाटकों से भिन्न व्यावसायिक नाटकों की भी एक परम्परा है, जिसने पौराणिक चरित्रों का उपयोग सामन्ती धरातल पर किया। वस्तुतः किसी भी ऐतिहासिक-पौराणिक चरित्र के सर्जन का लक्ष्य केवल इतिहास एवं पुराण की पुनरावृत्ति नहीं होना चाहिए। इसके पीछे एक मूल्यदृष्टि और इसकी व्याख्या भी अनिवार्य है।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में सृजनात्मक कल्पना की उँचाई परिलक्षित होती है। उनकी कल्पना पर राष्ट्रीय संस्कृति का इतना गहरा दबाव था, कि 'स्कंदगुप्त' नाटक का इतिहास एक मिथक में ढल गया। उसका पुराना ऐतिहासिक रूप नयी संरचना से जगमगा उठा और देवसेना के सन्दर्भ में प्रेम का एक जबर्दस्त मिथक खड़ा हो गया, जिनकी आत्मनिष्ठता पर आपत्ति हो सकती है, पर स्वच्छन्दतावादी चेतना के आकलन की सफलता से किसे एतराज होगा। राष्ट्रीय बोध के साथ परिवार का एक नया बोध उनके नाटकों में मिलता है। इस क्रम में उनका इतिहास बोध आधुनिक जीवन से जुड़ कर चलता है और अपने सांस्कृतिक गुणों की रक्षा भी करता है। उन्होंने इतिहास से अपने नाटकीय पात्र इसलिए नहीं चुने कि उन्हें आधुनिक जीवन से भागना था बल्कि इसलिए चुने कि उन्हें मानवीय जीवन को एक नया अर्थ देना था। उन्होंने इतिहास को नहीं, वर्तमान को नया अर्थ प्रदान किया है। इतिहास उनके नाटकों का बाह्य कलेवर भर है।

स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक नाटक सामाजिक यथार्थ की ओर बढ़ रहे हैं। रंगमंच के दबाव से नाटक की मूल चेतना में सामाजिकता की प्रतिष्ठा हो जाती है, क्योंकि सजग नाटककार की रचनाधर्मिता का गहरा संबध उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता से होता है। इससे विच्छिन्न नाटक यथार्थवादी नहीं हो सकता। किन्तु आज के आधुनिक नाटकों को तकनीकी प्रगति अमूर्तन की ओर ले जा रही है, यह कोई शुभ लक्षण नहीं है। तकनीकी प्रगति का एक उपयोग यह हो सकता है कि यह कठिन नाटकों को भी सामान्य जनता से संबंध स्थापित करने के मामले में कितना उपयोगी है। पर आधुनिक रंगमंच की तकनीकी प्रगति यथार्थवादी नाटकों का भविष्य खत्म करने पर तुली हुई है और नाटकों को निर्देशक के हाथ की कठपुतली बना देने की साजिश कर रही है।

'अंधा युग' एवं 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे नाटकों ने मिथकों का अच्छा इस्तेमाल किया था और आधुनिक जीवन की विसंगतियां उभारी थीं। इनमें

इतिहासबोध और आधुनिकताबोध का गहरा समन्वय था। इनके मियक हमारे वर्त्तमान जीवन के बारे में कुछ अधिक बता जाते थे। मिथकों का नाटक में प्रयोग यथार्थ को भावुक बनाने के लिए नहीं होता, बल्कि इसे गहरे विश्वास से जोड़ने के लिए होता है। लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'नरसिंह कथा' पौराणिक कथा पर आधारित होते हुए भी धार्मिक नहीं है, क्योंकि इसके पात्र बदलते सामाजिक-राजनैतिक परिवेश को उभारते हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'बकरी' एक आधुनिक मिथक है, भारतेन्दु के चौपट राजा की तरह। यह समकालीन राजनैतिक विसंगतियों को बहुत बारीकी से उजागर करती है। आधुनिक नाटककारों ने मिथकों को अपने कथ्य के सार्वभौम ढांचे के रूप में स्वीकारा है और इसका कलात्मक शोषण किया है। एक सम्भावना पैदा हुई है कि आधुनिक नाटकों के लिए मिथकीय ढांचे अधिक उपयोगी हो सकते हैं और इनके माध्यम से यथार्थ की अभिव्यक्ति हो सकती है।

विष्णुकान्त शास्त्री

कबीर और तुलसी का आन्तरिक साम्य

कबीर और तुलसी का विरोध इतना अधिक उछाला गया है कि दोनों दो विरोधी खेमों के नायक प्रतीत होते हैं, एक ही धारा के वैविध्य के उन्नायक नहीं। कुछ क्षेत्रों में कबीर-तुलसी को सराहने-कोसने में जितना उत्साह दिखाया जाता है, उतना उनको समझने में भी दिखाया जाता तो, शायद ऐसा न होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर-तुलसी की सामाजिक दृष्टियाँ एक-दूसरे से कहीं-कहीं टकराती हैं, उनकी साधनिक दृष्टियों में भी थोड़ा अन्तर है, किन्तु यह अपेक्षाकृत रूप से बाह्य वैषम्य उन दोनों के उस आन्तरिक साम्य के समक्ष गौण है, जिसकी समन्वित चर्चा बहुत कम की गयी है।

कबीर के आधुनिक प्रशंसकों की दृष्टि में वे ऐसे क्रान्तिकारी थे, जिन्होंने दलित वर्ग के आक्रोश को व्यक्त करते हुए जाति-पांति, छुआछूत जैसी सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध जेहाद छेड़ा था, ईश्वर की साकार भावना, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, कर्मकांड जैसी धार्मिक मान्यताओं का खंडन किया था, हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त किया था, रहस्यवादी काव्यधारा का हिन्दी में प्रवर्तन किया था। कबीर की भक्ति साधना ऐसे लोगों के लिए बहुत कम महत्व रखती है, अत्युत्साही भौतिकवादियों की दृष्टि में तो वह उनका अन्तर्विरोध ही है। इसी तरह के कुछ विचारकों ने (जिनमें कबीर के कुछ प्रशंसक भी हैं) तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी करार देते हुए उन पर धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के अर्थात् ब्राह्मणशाही के समर्थक, स्त्री-शूद्र विरोधी, भाग्यवाद के प्रचारक सामन्तवादी आदि होने के मनमाने आरोप लगाये हैं। स्पष्टतः इन लोगों के लिए तुलसी की भक्ति का कोई विशेष मूल्य नहीं है। जिन

प्रगतिशील विचारकों ने तुलसीदास का समर्थन किया है, उनके लिए भी उनकी भक्ति उच्च कोटि का मानवतावाद या लोकवाद ही है। तुलसी की प्रशंसा भी उनके नैतिक बोध, लोकनायकत्व, पारिवारिक आदर्श, सामाजिक मंगल विधान, रामराज्य की कल्पना, उत्कृष्ट काव्य गुण आदि के लिए आधुनिक विचारक अधिक करते हैं। कुछ कट्टर सगुण-साकारवादियों की दृष्टि में कबीर की उक्ति 'दसरथसुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' का करारा जवाब देकर सगुण-साकार राम की प्रतिष्ठा करना ही तुलसी का सबसे बड़ा काम है। तुलसी की व्यापक भक्ति दृष्टि 'निर्गुण' को हृदय में स्थान देती थी, लगता है कि यह सत्य इन लोगों के लिए अप्रासंगिक है।

मैं यह तो मानता हूँ कि प्राचीन कवियों और उनकी कृतियों को आधुनिक दृष्टियों की कसौटी पर भी कसना चाहिए, इससे उनके नये पहलू उजागर होते हैं, किन्तु ऐसा करते समय उनकी मूलभूत निष्ठा को विस्मृत कर देना उचित नहीं है। ऐसा हुआ तो हम अन्तरंग की उपेक्षा कर बहिरंग को ही प्राधान्य दे देंगे। आखिर इस पर तो विचार करना ही चाहिए कि कबीर और तुलसी बुनियादी तौर पर क्या थे? क्या उनकी पहली पहचान समाज सुधारक, लोक-नायक आदि हो सकती है? सचाई यही है कि कबीर और तुलसी दोनों मूलतः और प्रथमतः भक्त थे, दोनों परम तत्त्व से अपना सम्बन्ध निष्काम प्रेम के द्वारा जोड़ना चाहते थे। दोनों की वास्तविक निकटता या दूरी इसी मुद्दे के ऊपर प्रकट किये गये उनके भावों-विचारों से तय की जा सकती है। मेरा नम्र निवेदन है कि इस क्षेत्र में दोनों में अस्सी प्रतिशत से भी अधिक साम्य है। जीवन निर्वाह सम्बन्धी दोनों के विचारों में भी आश्चर्यजनक रूप से समानता है। इस सचाई को बड़े विद्वानों ने चाहे आँखों से ओझल कर दिया हो, सामान्य हिन्दी जनता ने सहज ही स्वीकारा है। इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि हिन्दी बोलने-समझनेवाली साधारण जनता के हृदय के सबसे निकट दो ही कवि हैं—कबीर और तुलसी, जो उसकी बोलचाल से लेकर दृष्टिभंगी तक को प्रभावित करते हैं। सोचने की बात है कि दो नितान्त परस्पर विरोधी विचारों-भावों वाले कवियों को एक ही जनता, एक ही साथ, करीब-करीब एक जैसा प्यार कैसे कर सकती है! यह तथ्य ही दोनों की आधारभूत एकता का अखण्डनीय प्रमाण है। इसके बावजूद दोनों की सामाजिक-साधनिक दृष्टियों में जो आंशिक टकराव है, उसका कारण यह है कि भक्ति को स्वीकार करने से पूर्व दोनों की सामाजिक स्थिति और साधनिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। कबीर सद्यः धर्मान्तरित मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए थे और जाति-पाँति के हृदयहीन अन्याय के खुद शिकार थे। उनके कुल पर और उन पर भी नाथ-

सिद्धों की साधना का गहरा प्रभाव था। अतः उन्हें विरासत में ईश्वर के साकार रूप, अवतार, मूर्तिपूजा, वर्ण व्यवस्था, कर्मकांड आदि का उग्र विरोध प्राप्त हुआ था, उनके अक्खड़ स्वभाव और व्यावहारिक अनुभव ने जिसे और पैना, और आक्रामक बना दिया था। तुलसी श्रुति-स्मृति-पुराण की परम्परा को मानने वाले ब्राह्मण कुल में जनमे थे। अतः भक्ति के अविरोधी पारम्परिक तत्त्वों के प्रति सहनशील थे। हाँ, उनके जो तत्त्व भक्ति-विरोधी थे, उनका समर्थन उन्होंने नहीं किया है, जाति-पांति की बाधा को भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने भी कतई स्वीकार नहीं किया है। स्वभाव से भी शायद कबीर अधिक तेजस्वी और तुलसी अधिक सौम्य थे। जो हो, कबीर-तुलसी के भेदों की चर्चा काफी हो चुकी है, कुछ चर्चा उनमें विद्यमान अभेद की भी होनी चाहिए।

परम तत्त्व के परात्पर निर्गुण निराकार तथा सगुण निराकार विभावन कबीर और तुलसी दोनों को मान्य हैं। पहला विभावन तो तत्वतः अवाङ्मन सगोचर है, अतः उसे प्रेम का ही नहीं, ज्ञान का विषय भी बनाना कठिन है। इसीलिए उसका सकेत नेति-नेति के द्वारा, मौन के द्वारा किया जाता है। वह ज्ञान का विषय न होकर ज्ञानस्वरूप है, अतः उसका ज्ञान जिसको होता है, वह वही हो जाता है। कबीर के शब्दों में वह तत्त्व है :

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई ॥
सुनि असथूल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहीं पेखा ॥
बरन अबरन कथ्यो नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई ॥
आदि अंत ताहि नहीं मधे। कथ्यो न जाई आहि अकथे ॥

तथा

अविगत अपरंपार ब्रह्म ग्यान रूप सब ठांय।
बहु बिचार करि देखिया, कबीर, कोई न सारिख राम ॥

तुलसी भी द्विधाहीन शब्दों में इसका समर्थन करते हैं :

सोई सच्चिदानंद घन रामा। अज विज्ञान रूप गुन धामा ॥
व्यापक व्याधि अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥
अगुन, अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी, अनवद्य अजीता ॥
निर्मम, निराकार, निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सदोहा ॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर वासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥

तथा

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगन कहे।

कबीर को वह तत्त्व 'ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित' लगता है तो तुलसी भी उसे 'ज्ञान गिरा गोतीत' कहते हैं।

इस तत्त्व को प्रेम के आलम्बन के रूप में मानवग्राह्य बनाने के लिए अर्थात् मन, वाणी का विषय बनाने के लिए इस पर गुणों का आरोप करना पड़ता है। ये गुण न प्राकृतिक (अर्थात् सत्व, रज, तम परक) हैं, न लौकिक (अर्थात् सीमित एवं दोषस्पृष्ट)। ये तो दिव्य और असीम प्रेम, सौंदर्य, ऐश्वर्य, सामर्थ्य, क्षमा, करुणा, कृपा आदि हैं, जिनके कारण वह तत्त्व श्रेय के साथ-साथ प्रेय बनता है और उससे एक व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यह जरूरी नहीं है कि इसके लिए उस तत्त्व को सगुण के साथ-साथ साकार भी माना जाय। भारतीय भक्ति साधना साकार के प्रति ही हो सकती है, यह धारणा निराधार है। श्रीमद्भागवद्गीता के बारहवें अध्याय में और श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के कपिल-देवहूतिसंवाद में अव्यक्त उपासना, निराकार के प्रति भक्ति-भावना (जिसे व्यवहार में निर्गुण भक्ति कहा गया हैं।) की स्पष्ट स्वीकृति है। इस स्तर पर भी कबीर और तुलसी सहमत हैं। किन्तु इसके आगे जाकर उस तत्त्व को साकार मानने या उसके अवतार के रूप में प्रकट होने की बात कबीर को अस्वीकार्य और तुलसी को स्वीकार्य हैं। इस पहलू के औचित्य-अनौचित्य पर विचार किये बिना यह मान लेना काफी हैं कि कबीर और तुलसी की साधनिक दृष्टियों में यहाँ निश्चित भिन्नता है। कबीरदास के नाथ, सिद्ध, सूफी, इस्लामी संस्कार के लिए साकार रूप की धारणा संभव नहीं थी। उस परम तत्त्व को कभी उन्होंने योगियो के अनुसार ज्योति रूप में, नाद या शब्दों के रूप में, कभी बौद्धो के अनुसार शून्य रूप में और कभी सूफियों के अनुसार नूर रूप में भी वर्णित किया है, किन्तु प्रधानतः और पुन -पुनः वैष्णव सज्ञाओं और विशेषणों से ही उसे सम्बोधित किया है। यह वस्तुगत तथ्य भी उनके वास्तविक विश्वास को उजागर करने में सहायक है।

कबीर और तुलसी दोनों मानते हैं कि प्रभु राम में असख्य गुण हैं। कबीर यदि कहते हैं कि 'गोविन्द के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदे माहिं' तो तुलसी का कहना है 'समुझि-समुझिगुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।' दोनों राम को सर्वोपरि समर्थ मानते है। कबीर के अनुसार यदि राम की माया के 'पुत्र तिन भयऊ, ब्रह्मा विष्णु महेश नाम धरेऊ तो तुलसी के मत से भी राम 'विधि, हरि, संभु नचावनि हारे' हैं। राम की सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए दोनों ने आश्चर्यजनक रूप से एक ही शैली का अनुगमन किया है। यदि कबीर का दृढ़ निश्चय है कि :

जो जाचौं तो केवल रामं। आन देव सू नाहीं काम।
जाकें सूरिज कोटि करें परकास। कोटि महादेव गिरि कविलास॥
ब्रह्मा कोटिं वेंद उचारें। दुर्गा कोटि जाकें मरदन करें।

कोटि चन्द्रमा गहैं चिराक। सुर तेतीसूं जी मैं पाक॥
नौ ग्रह कोटि ठाड़े दरबार। धरम कोटि पौली प्रतिहार॥
कोटि कुमेरु जाके भरे भंडार। लछमी कोटि करे सिंगार॥
कोटि पाप मुनि व्योहरे। इन्द्र कोटि जाकी सेवा करें॥

तो तुलसीदास का भी निष्कर्ष यही है कि :

रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥
मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भवत्रास॥
सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
धनद कोटि सत सम धनदाना। माया कोटि प्रपंच निधाना॥

किन्तु राम के सामर्थ्य-महात्म्य का बोध मात्र भक्ति नहीं है, वह तो उस बोध के बाद उत्पन्न होनेवाला उनके प्रति अमृत स्वरूप परम प्रेम है। इसीलिए कबीर और तुलसी राम को केवल परब्रह्म, कर्ता, जगदीश आदि ही नहीं समझते, अपना परम प्रियतम भी मानते हैं। मिलन-सुख का अनुभव करते हुए यदि कबीर कह उठते हैं, 'बहुत दिनन थे में प्रीतम पाये। भाग बड़े घरि बैठे आये।' तो तुलसी की सुविचारित वाणी है, 'राम से प्रीतम की प्रीतिरहित जीव जाय जियत।' कैसे अपूर्व सुन्दर हैं ये प्रियतम। कबीर और तुलसी दोनों एक-सी बात कहते हैं, 'कंदर्प कोटि जाके लावन करे, तथा 'कंदर्प-अगणित-अमित-छबि, नवनील नीरज-सुन्दरं।' न केवल वे सुन्दर हैं, बल्कि परम स्नेही भी हैं। वे जितना प्यार जीवों को करते हैं, उतना कोई नहीं कर सकता और वह भी तब, जब जीव उनको प्यार नहीं करते, उनको नहीं भजते। कबीर की साखी है, 'कबीर हरि सबको भजे हरि को भजे न कोई।' कबीर अपने उस स्नेही से मिलने के लिये बेचैन है; 'कब देखों मेरे राम स्नेही। जा बिन दुख पावे मेरी देही।' तुलसीदास की भी पक्की धारणा है कि 'जानत प्राति-रीति रघुराई। नाते सब होत करि राखत, राम स्नेह-सगाई।' ठीक ही है, जो और सब नाते-रिश्तों को दूर कर केवल स्नेह का नाता रखता हो, वास्तव में वही प्राति की रीति जानता है एवं ऐसा राम के सिवाय और दूसरा कौन है ?

फिर कितने कृपालु हैं प्रभु। जो नितान्त असमर्थ हैं, वे भी उनकी कृपा से वंचित नहीं होते। कितने आश्वस्त है कबीर कि गर्भगत शिशु की रक्षा करनेवाला कृपालु प्रभु भला अपने भक्तों का प्रतिपालन क्यों नहीं करेगा, 'कृसन

कृपाल कबीर कहि, हम प्रतिपालन क्यों करे।' ऐसी ही है तुलसी की मान्यता, 'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है।' अतः यह स्वाभाविक ही था कि राम के गुणों पर मुग्ध कबीर और तुलसी दोनों राम को अपना इष्टदेव मान लेते। तुलसी ने तापस के रूप में अपना ही चित्रण करते हुए श्री राम के प्रति अपनी प्रेम विह्वलता को इस प्रकार अंकित किया है— 'सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेव पहिचानि। परेउ दंड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि।'

कबीर और तुलसी दोनों ने एक स्वर से घोषित किया है कि राम की भक्ति ही मानव जीवन का चरम साध्य है। कबीर के शब्दों में, 'जानरि राम भगति नहिं साधी। जो जनमत काहे न मूवो अपराधी।' सुन्दर से सुन्दर सुरूप से सुरूप व्यक्ति भी कबीर के लिए 'राम भगति बिन कुचिल करूप' था। कबीर के मतानुसार राम के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, अतः बड़े भाग्य से मिलनेवाले मानव शरीर की परम गति यही है कि राम भक्तों की सगति में रहा जाये, 'न कछु रे न कछु राम बिना। सरीर धरे की इहे परम गति साध संगति रहना।' इसी तरह तुलसीदास कहते हैं कि जीवन का परम लाभ राम के चरणो में 'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम'। उनका निर्देश है, दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम, बचन अरु ही ते'। राम-भक्ति रहित संसार के सारे सुख तुलसी के लिए निस्सार हैं, जो राम का न हुआ वह जीवन जल जाये, 'सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनों दिन द्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ जिये जग में तुम्हरों बिन ह्वै।'

इन दोनों भक्तों ने भक्ति को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, दर्शन या विधि-विधान से नहीं बांधा है। इन दोनो की रचनाओं में ऐसा कथन कहीं नहीं मिलता कि किसी विशेष प्रकार का छापा-तिलक लगा कर या किसी सम्प्रदाय में दीक्षित होकर ही राम को पाया जा सकता है। आश्चर्य की बात है कि दोनों ने अपने गुरुओ के प्रति परम भक्ति निवेदित करते हुए भी 'गुरु गोविन्द तो एक हैं' तथा 'वन्दौ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूपहरि' कहते हुए भी उनका नामोल्लेख नहीं किया है। दोनों प्रभु के असंख्य नामों से सर्वप्रमुख राम नाम को ही मानते थे, जो इन्हे अपने गुरु से प्राप्त हुआ—राम नाम के पटतरे देवे को कछु नाहिं। क्या ले गुरु संतोसिए, होस रही मन मांहि।' यदि कबीर की कृतज्ञ स्वीकारोक्ति है, तो तुलसी का कथन है, 'गुरुकह्यो राम भजन नीको, मोहिं लगत राज डगरो सा। यह राम नाम दोनों का परम आधार था। 'राम कहे भल होइगा नहिं तर, भला न होइ, तात तिलक तिहुँ लोक में राम नाम निज सार' यदि कबीर का विश्वास था तो तुलसी की मान्यता थी,

'अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहिं समुझि परो', 'राम नाम सब धरम में मैं जानत तुलसीदास।' तुलसी तो राम नाम को ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों स्वरूपों से बड़ा मानते थे।

भक्ति की आधारभूत विशेषताएँ भी दोनों की दृष्टि में एक-सी हैं। 'निर बैरी, निहकामता, साईं सेती नेह। विषया सो न्यारा रहे संतनि का अंग एह' तथा 'साईं सेती सांच चलि औरों सौं सुध भाइ। भावे लम्बे केस करि भावे घुरडि मुडाइ' कह कर कबीर ने जिस प्रकार आडम्बरहीन, निर्वैर, विषयविकाररहित राम के प्रति शुद्ध, निश्छल, निष्काम प्रेम को भक्ति माना है, तुलसी ने उसी प्रकार संसार के प्रति समता तथा 'सत्य वचन मानस विमल कपट रहित करतूति' के साथ 'रागरिस' को जीत कर नीति पथ पर चलते हुए राम से प्रीति करने को ही संतों के मतानुसार 'भगति की रीति' कहा है। भक्ति राम के प्रति निष्काम, अहेतुक प्रेम है; लौकिक विषयों की बात तो जाने ही दीजिए, मुक्ति या बैकुण्ठ की कामना भी भक्ति को मलिन करती है, कबीर-तुलसी दोनों का यही मत है। 'जब लगि भगति सकामता, तब लगि निष्फल सेव' या 'जब लग है बैकुण्ठ की आसा। तब लग नहीं हरि के चरन निवासा' यदि कबीर ने कहा है तो तुलसी की वाणी है, 'चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई।'

यदि निष्काम प्रेम उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता जाय, इसके लिये राम से कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। कबीर ने राम से दो मुख्य सम्बन्ध जोड़े थे, पहला सेवक-सेव्य का, दूसरा कान्ता-कान्त का: 'उस संम्रथ का दास हो, कदे न होइ अकाज' तथा 'मैं गुलाम मोहि बेचि गुसांई', जैसी उक्तियों में यदि उनका दास्य भाव झलका है, तो 'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया' और 'बाल्हा आव हमारे गेह रे' जैसी पंक्तियों में कान्ता भाव। तुलसीदास यह तो मानते थे कि प्रभु से अनेकानेक नाते हो सकते हैं, किन्तु अपने लिए उन्होंने 'सेवक-सेव्य' का नाता ही चुना था। 'तुलसी सर नाम गुलाम हैं राम को', 'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि' जैसी पंक्तियों से यह स्पष्ट है। दोनों इस पर एकमत हैं कि राम से नाता दृढ तभी होगा, जब इस शरीर के अन्यान्य नातों की आसक्ति त्याग दी जाये। 'प्राणी प्रीति न कीजिए इहि झूठे संसारो रे' तथा 'कबीर प्रीतड़ी तो तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत जो हँसि बोलौं और सो तो नील रंगाऊँ दंत' यदि कबीर के उद्गार हैं, तो तुलसी की घोषणा है, 'ना तो नेह नाथ सौं करि,

सब नातो नेह बहै हों।' तथा 'यहि जग में जहं लगि या तनु की प्रीति-प्रतीति-सगाई, ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि एक ठाई।'

बड़ा कठिन है शरीर के अहंकार या उसके सम्बन्धों की आसक्ति को तोड़ पाना। मैं-मेरा, तू-तेरा की भावना शरीर को केन्द्रित कर इतनी दृढ़ हो गयी है कि छुड़ाये नहीं छूटती। माया की सूक्ष्म दार्शनिक व्याख्याएं भले अलग-अलग हों या हार कर उसे अनिर्वचनीय कह दिया जाये, किन्तु व्यवहार में उसका सबसे प्रकट रूप इसी 'मैं मेरा, तू तेरा' में व्यक्त होता है। अतः कबीर और तुलसी दोनों ने इसी को विनाश का मूल अथवा माया कह दिया है। 'जब लग मैं-मैं मेरी करे, तब लग काज एक नहीं सरे' या 'मोर तोर में सबै बिगूता मोर, तोर महं जर जग सारा' तथा 'मेरी जिनि करै, मेरी मूल बिनास' यदि कबीर की मान्यता है, तो तुलसी कहते हैं, 'तुलसिदास में मोर गए बिनु जिद सुख कबहुं न पावे' तथा 'मैं अस मोर तोर ते माया, जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।' कबीर और तुलसी दोनों यह मानते हैं कि माया के कारण ही जीव अपने स्वरूप को भूल कर विषयासक्त हो दुःख पा रहा है। दोनों माया को राम की शक्ति, त्रिगुणात्मिका और सृष्टिकर्त्री मानते है। यह जरूर है कि तुलसी माया के विद्या और अविद्या दो भेद कर विद्या (सीता) के सहारे राम से जुड़ पाना संभव मानते हैं, जब कि कबीर ऐसा भेद नहीं करते, सीता की कल्याणमयी भूमिका को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए माया एक ही है और उसका सर्वथा परित्याग करना चाहते है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे विकारों को दोनों ने माया के प्रमुख अंगों के रूप में स्वीकार किया है और यह भी माना है कि मनुष्य का मन जब तक इन विकारों से कलुषित रहता है, तब तक वह सच्ची भक्ति नहीं कर पाता है। विषयग्रस्त मन के अनुसार आचरण करने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है, यह कबीर और तुलसी दोनों का मत है। 'काया देवल मन धजा, विषय लहरि फहराइ।- मन चाले देवल चले ताका सर्वस जाइ।' कबीर के इस कथन के अनुसार ही तुलसी की उक्ति है, 'विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुं पल एक। ताते सहिय विपति अति दास न जनमत जोनि अनेक।' कबीर यदि 'मैमता मन' को मार कर ज्ञान के अंकुश से वशीभूत करना चाहते हैं तो तुलसी भी अपने 'मूढ़ मन' को 'सिखावन' देते रहते हैं कि 'हरि पद विमुख' को कभी सुख नहीं मिलता। मानो विजय की साधना कबीर और तुलसी दोनों ने की है, किन्तु दोनों का अनुभव यही है कि माया से बंधा हुआ जीव ऐसा प्रायः नहीं कर पाता।

सवाल है जीव को कैसे मुक्ति मिले, इस माया के बन्धन से। समस्या और उसके संभावित समाधानों की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं : 'बहु बंधन से बांधिया एक बिचारा जीव। की बल छूटे आपने, किया छुड़ावे पीव।' अपने बल छूटने का अर्थ है कर्म, योग, ज्ञान या भक्ति आदि साधनों में से किसी एक का अवलम्बन कर स्वप्रयास से मुक्त होना। इनमें कर्म को कबीर और तुलसी दोनों गौण सहायक के रूप में ही स्वीकारते हैं। ऊपर दिखाया जा चुका है कि आचरण की पवित्रता तो दोनों के अनुसार 'संतन का अंग' या 'भगति की रीति' के अन्तर्गत ही है। कथनी-करनी की एकता पर दोनों ने समान रूप से बल दिया है। कबीर दास ने यदि कहा है कि 'जैसी मुखतें नीकसै, तैसी चाले चाल। पारब्रह्म नियरा रहे, पल में करे निहाल।' तुलसी ने भी इसकी पुष्टि की है, 'जो कछु कहिय, करिय, भवसागर तरिय वत्स पद जैसे।' कर्मफल भोग का सिद्धान्त भी दोनों को साधारण रूप से मान्य है, जैसा कि 'जो जस करिहैं सो तस पइहै राजा राम नियाई' (कबीर) तथा 'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता' (तुलसी) से स्पष्ट है। फिर भी दोनों कर्म का भरोसा नहीं करते, क्योंकि व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों स्तरों पर उन्हें जीवकृत कर्म अपर्याप्त लगते हैं। व्यवहार की दृष्टि से निरन्तर सत्कर्म (पुण्य) करते रहना बड़ा कठिन है, अनचाहे, अनजाने निष्कर्म (पाप) होते ही रहते हैं। 'कहता कहि गया, सुनता सुणि गया, करणी कठिन अपार' यदि कबीर का अनुभव है, तो तुलसी भी पाते हैं कि सुकृत (पुण्य) के नाखूनों से पाप के जंगल के वृक्ष-समूहों को काटना असंभव है। सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों को लगता है कि करनेवाला तो वास्तव में परमात्मा ही है, जीव क्या कर सकता है। यदि कबीर का विश्वास है, 'सोई सो सब होत है, बंदे ते कछु नाहिं' तो तुलसी की धारणा है कि 'मेरी न बने बनाए मेरी कोटि कलप लौं, राम रावरे बनाए बने पल पाउ मैं।'

योग के लिए कबीर के मन में गहरी श्रद्धा है। उनकी आरंभिक साधना में (भक्तिभावना में भी) योग का बहुत बड़ा दान है। कुंडलिनी योग तथा शब्द सुरति योग सम्बन्धी उनकी अनेकानेक उक्तियाँ इसके प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं। 'कहे कबीर जोगि औ जंगम, फीकी उनकी आशा। रामहि राम रटै ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा।' तथा 'हिरदे कपट (हरि) सूनहिं सांचौ, कहा भयो जो अनहद नाच्यो' जैसी उक्तियों के आधार पर यह संगत अनुमान किया जा सकता है कि भक्तिरहित यौगिक प्रक्रियाओं के प्रति उनकी आस्था नहीं रह गयी थी। 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' का हवाला देकर कुछ विद्वानों ने तुलसी को योग विरोधी बताना चाहा है।

वास्तव में तुलसीदास यहाँ उस अतिरेक का विरोध कर रहे हैं, जो भक्ति को नकारता था। राम-भक्ति और रामकथा के प्रदाता स्वयं शिव को महायोगी के रूप में तुलसी ने मानस में बार-बार ससम्मान चित्रित किया है, 'संकर सहज सरूपु सँभारा। लागि समाधि अखंड अपारा।' या 'हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।' आदि। ध्यान योग का अत्युच्च अंग है और भक्ति में भी उसका परम समादर है। तुलसीदास तो प्रभु के ध्यान को अपने लिए कल्पवृक्ष के समान मानते है, 'राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर'। तुलसीदास भक्ति-अविरोधी योग का सम्मान करते हैं, किन्तु स्वयं योगमार्गी नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है, 'जोग न बिराग जप जाग तप त्याग व्रत, तीरथ न धर्म जान वेद विधि किमि है'।

ज्ञान के प्रति कबीर और तुलसी दोनों आस्थावान् हैं, दोनों मानते है कि माया के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देने में ज्ञान समर्थ है। कबीर की अनुभूति है, 'संतौ भाई आई ग्यान की आंधी रे। भ्रम की टाटी सबै उड़ांणी माया रहै न बांधी।' मानव जीवन की सार्थकता के लिए ज्ञान विचार को अनिवार्य माननेवाले कबीर ने क्षोभपूर्वक लिखा है, 'जिहि कुलि पुत्र न ग्यान विचारी। वाकी विधवा काहे न भइ महतारी।' इसी तरह तुलसीदास की भी मान्यता है कि 'भव संभव खेद' को हरने में ज्ञान भी समर्थ है। वे स्वीकारते है कि जो ज्ञान मार्ग का निर्विघ्न निर्वाह कर लेता है, 'सो कैवल्य परम पद लहई,' लेकिन कबीर और तुलसी दोनों दृढ़तापूर्वक यह भी प्रतिपादित करते हैं कि भक्ति के बिना ज्ञान में भी पूर्ण सुरक्षा नहीं है। कबीर की साखियाँ है—

ग्यानी तौ नीडर भया, माने नाही संक।
इन्द्री केरे बसि पड़ा, भूंजे विखे निसंक॥
ग्यानी मूल गंवाइया, आपे भय करता।
तातें संसारी भला, मन में रहे डरता॥

इसी के समानान्तर तुलसी ने लिखा है—

जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

तथा- सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानी। करन धार बिनु जिमि जल जानू।

कर्म, योग, ज्ञान की तुलना में भक्ति अधिक सरल और सुरक्षित है, इसको मानते हुए भी कबीर और तुलसी दोनों यह भी स्वीकारते हैं कि अपने बूते पर मायाबद्ध जीव भक्ति भी नहीं कर सकता। तर्क के लिए कोई कह सकता है कि भक्ति का सार 'सुमिरन' करते रहने में भला क्या कठिनाई हो सकती है, किंतु कबीर जानते हैं कि पापिनी-माया ने हरि से 'हराम' करने के लिए लगा दी है,

'मुखि कंहि याली कुमति की, कहन न देई राम।' अतः उनका निष्कर्ष है, "कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम। सूली ऊपर नट विद्या, गिरे त नाहीं ठाम।" भक्ति के लिए तो आपा मिटाना पड़ता है, निष्काम होना पड़ता है और विरह ज्वाला से जलना पड़ता है, अतः तलवार की धार पर चलने में समर्थ कोई सूरमा ही भक्ति कर सकता है। कबीर के शब्दों में 'भगति दुहेली राम की नहिं कायर का काम। सीस उतारे हाथि सों (तब) लेसी हरि कानाम।' तुलसी-दास भी मानते थे कि 'सब सुख खानि भगति' इतनी दुर्लभ है, 'जो मुनि कोटि जतन नहीं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं।' उन्होंने भी कहा है, 'रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम, करनी अपार, जाने सोइ जेहि बनि आई।' इस कठोर सत्य के साक्षात्कार से अपने बल से माया के बंधन से छूटने का विकल्प कबीर और तुलसी दोनों को अपने लिए अर्थहीन लगता है।

इस स्थिति में एक ही संभावना शेष रह जाती है कि 'पीव' ही कृपा कर जीव को माया के बन्धन से मुक्त कर दे। कबीर और तुलसी दोनों ने प्रभु से इसके लिए विकल प्रार्थना की है। 'बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं मो बंधन छूटे' या 'कहे कबीर कारणंभय आगे, तुम्हारी कृपा बिना यह्न बिपति न भागे' यदि कबीर की बिनती है, तो तुलसी की विनय भी यही है—'तुलसिदास यह जीव मोह-रजु, जोइ बांध्यो सोइ छोरे' या 'तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे' या 'तुलसिदास हरि कृपा मिटे भ्रम, यह भरोस मन माहीं।'

प्रभु की कृपा किस पर, कब, क्यों, कैसे होगी, यह नहीं कहा जा सकता। वैसे संतो की तो धारणा है कि कृपा सब पर समान रूप से बरस रही है। अभागा जीव अपने ही अभिमान, सम्बल या छलकपट आदि के आवरण के कारण उससे वंचित रह जाता है। संतों का अनुभव है कि जीव अपने उपायों की व्यर्थता का अनुभव कर, हार कर, थक कर, दीन होकर, निश्छल भाव से सर्व-समर्पण कर प्रभु की शरण में जाता है, तब उनकी कृपा उसे समस्त बन्धनों से मुक्त कर अपना लेती है। भक्ति साधना की यह चरम परिणति कबीर और तुलसी दोनों में समान रूप से दृष्टिगोचर होती है।

तुलसीदास की दीनता तो विख्यात है ही, किन्तु अक्खड़, उग्र, आक्रामक माने जानेवाले कबीर की दीनता उन लोगों को विस्मयकारिणी लग सकती है, जो उन्हें केवल क्रान्तिकारी के रूप में देखना पसन्द करते हैं। सिद्धान्त निरूपित करते हुए कबीर कहते हैं, 'दीन गरीबी दीन को, दुंदर को अभिमान। दुंदुर दिल विष सूं भरी, दीन गरीबी राम।' अर्थात् विनम्र (दीन) को प्रभु ने गरीबी (दीनता) दी और द्वन्द्वरत (दुंदर) को अभिमान दिया, दुंदर के दिल में विष है, तो दीन के हृदय में है राम। जो स्वामी रहित (निगुसावां)

है, उसका कोई वास्तविक आश्रय (थाघी) नहीं है, वह बह जायेगा, उसी की रक्षा हो सकती है, जो दीन गरीबी के साथ बंदगी करता है, 'निगुसांवा बहि जाएगा, जाके थाघी नहिं कोइ। दीन गरीबी बंदगी करतां होइ सु होइ।' व्यवहार में कबीर अपने को प्रभु का कुत्ता (जिसका प्यार का नाम मोतिया—मोती है) मानते हुए कहते हैं कि मेरे गले में राम की रस्सी पड़ी हुई है, वे जिधर खींचते हैं, उधर ही जाता हूं, प्रेम से बुलाते हैं तो उनके पास जाता हू, दुरदुराते हैं तो हट जाता हूं, जैसे रखते हैं, वैसे रहता हूं, जो देते हैं सो खाता हूं :

कबीर कुत्ता राम का, मोतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाउं ॥
तो तो करे त बाहुँडो, दुर दुर करे तो जाउं ।
ज्यों हरि राखे त्यों रहों, जो देवे सो खाउं ॥

केवल प्रभु के निकट ही नहीं, प्रभु भक्तों के निकट भी कबीर अत्यन्त दीन हैं, उनके शिष्य हैं, दासानुदास हैं, उनके पांवों तले की घास हैं, 'कबीर चेरा सत का दासनि का परदास। कबीर ऐसा ह्वै रहा ज्यों पावां तलि घास।'

तुलसी भी विपथ का त्याग कर 'राम दुआरे दीन' होकर जा बैठे हैं। उन्हें तो लगता है, 'माधव, मो समान जग माहीं। सब विधि हीन, मलीन, दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं।' उनका दृढ़ विश्वास है, 'तुलसी तिलोक तिहूं काल तो से दीन को। राम नाम ही की गति जैसे जल मीन को।' राम-भक्तों के समक्ष तुलसी भी कबीर के समान ही विनत हैं। भक्त तो उनके लिए भगवान के समान ही हैं। धोखे से भी जिसके मुंह से राम नाम निकल जाता है तुलसी अपने चमड़े से उसकी जूती बनाने के लिए तैयार हैं, 'तुलसी जाके वदन तें धोखेउ निकसत राम, ताके पग की पगतरी, मेरे तनु को चाम।'

इसी दीनता ने उन दोनों को यह बोध दिया था कि अपने बल-बूते पर अपना भला करने की चेष्टा में ही बात बिगड़ती चली गयी है। अपनी अक्षमता की निष्कपट स्वीकृति है कबीर के इन शब्दों में—'ना कछु किया न करि सका, ना करने जोग सरीर' जिसकी और घनीभूत वेदना की प्रतिकृति-सी लगती है तुलसी की यह पंक्ति, 'कियो न कछु, करिबो न कछू; करिबो ना कछू मरिबोई रह्यो है।' यदि कबीर का अनुभव है कि राम की सहायता के बिना ऊपर उठने के लिए उन्होने जिस-जिस डाल पर पांव रखा (जिस-जिस साधन का अवलम्ब ग्रहण किया) वही-वही डाल झुक गयी (वे सारे साधन व्यर्थ हो गये)—'कबीर करनी क्या करे, जे राम न करे सहाइ। जिहि जिहि

डाली पग धरे, सोई नइ-नइ जाइ ।' तो तुलसी ने भी यही पाया है कि 'बाप आपने करत मेरी घनीं घटि गई ।' इसी स्थिति में जैसे कबीर कह उठे हैं 'कहै कबीर सुनहु रे संतो थकित भया मैं हारचा' और वैसे ही तुलसी ने गुहार लगायी है, 'हौं हार्यो करि जतन विविध विधि ।'

जिस तरह कबीर इस मर्म तक पहुँचे हैं कि जिस दिन और कोई सहारा, भरोसा नहीं रह जाता उसी दिन राम की सहायता मिलती है, 'जा दिन तेरे कोई नाहीं ता दिन राम स सहाई' उसी तरह तुलसीदास भी यह समझ गये हैं कि राम को छोड़ कर औरों की आशा, विश्वास या भरोसा जीव की जड़ता मात्र है और इसे दूर करने की प्रार्थना भी उन्होंने राम से की है, 'यह बिनती रघुवीर गुसाईं और आस विश्वास भरोसो हरो जीव जड़ताई ।'

जिस प्रकार निस्साधन होकर भव-भय से डरे हुए कबीर प्रभु की शरण में आये हैं, 'कहा करों, कैसे तिरों, भौ जल अति भारी । तुम्ह सरनागति केसवा राखि राखि मुरारी', या 'कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी । इत भैभीत डरौ जम दूतनि आये सरनि तुम्हारी', उसी प्रकार तुलसीदास ने भी उनकी शरण गही है, 'अब रघुनाथ सरने आयो जन भव भय-विकल डर्यो' या 'मूढ़ मारि हिय हारि के हिंत हेरि हहरि अब चरन-सरन तकि आयो ।' शरण ग्रहण करते समय दोनों ने इस बात पर बल दिया है कि प्रभु, अब तुम्हें छोड़ कर हमारा कुछ नहीं है, जो कुछ है सो तुम्हारा है और एक मात्र तुम हमारे हो । इसे ही सर्व समर्पण कहते हैं, जिसके बिना शरणागति नहीं सधती ।

अपने को पूर्णतः निःस्व कर प्रभु को समर्पित कर देने की कबीर की यह निश्छल सरल वाणी समूचे हिन्दी भक्ति साहित्य में बेजोड़ है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा ।।

इसी तरह मन, वचन, करम से राम के होकर, 'तुम ही बस मेरे प्रभु गुरु मातु पिते हौं' तथा 'जानकी जीवन की बलि जैहौं कहते हुए अपना सारा दायित्व तुलसी ने प्रभु को सौंप दिया है, 'यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं' ।

प्रभु से नाता जोड़ कर उनकी शरण लेने पर स्वभावतः कबीर और तुलसी दोनों यह आश्वासन चाहते है कि प्रभु ने उन्हे अपना लिया । प्रभु-विरह की तीव्र अनुभूति से छटपटाते उन दोनों भक्तों में प्रभु के साक्षात्कार का, उनकी लीला में अंश ग्रहण करने का चाव बढ़ता चला जाता है । आतुर होकर कबीर कह उठते हैं कि तुम्हारी शरण लेने पर भी तुमने किस प्रकार मुझे ग्रहण किया

कि मुझमें विरह की ज्वाला और भभक उठी है। धूप (सांसारिक दुःख-कष्टों) से झुलसा हुआ प्राणी वृक्ष (प्रभु) की छाया में शान्ति के लिए आता है, लेकिन यदि तरुवर से भी ज्वाला निकले तो कोई कहाँ जाये ? जलते हुए जंगल (संसार) से भाग कर जल (प्रेमाभक्ति) की शीतलता के इच्छुक को यदि जल में भी (प्रभु-विरह की) अग्नि से दग्ध होना पड़े, तब तो कोई दूसरा उपाय नहीं। हे तारण-तरण देव, मैं और किसी दूसरे को नहीं मानता; तुम्हरी शरण आया हूँ (तुम्हीं मुझे अपना कर कृतार्थ करो)। यह पूरा पद अत्यन्त मार्मिक है :

गोव्यदे तुम्हथे दरपों भारी।
सरणाई आयो, क्यूं गहिये, यहु कौन बात तुम्हारी॥ टेक॥
धूप दाझते छांह तकाई, मंति तरवर सचु पाऊं।
तरवर मांहै ज्वाला निकसे, तौ क्या लेह बुझाऊं॥
जे बन जले त जल कौ धावे, मत जल शीतल होई।
जल ही माही अग्नि जो निकसे, और न दूजा कोई॥
तारण तिरण, तिरण तू तारण और न दूजा जानूं।
कहै कबीर सरनाई आयो, आन देव नहीं मानूं॥

तुलसीदास ने भी, 'बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो' जैसी विनम्र प्रार्थना तथा 'सील सिंधु ढील तुलसी की बारे भई है' जैसे शिष्ट उलाहनों से बनता, न देख कर प्रभु के द्वार पर धरना देकर बन कर प्रभु से प्रकट नहीं तो मन में ही अपनाये जाने का बाल हठ किया है :

प्रन करि हौं हठि आजु तें रामद्वार परयो हौं।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निबरयो हौं।
दै दै धक्का जम भट थके; टारे न टरयो हौं।
उदर दुसह सांसति सही; बहु बार जनमि जग, नरक निदरि निकरयो हौं।
हौं मचला लै छांड़िहौं जेहि लागि अरयो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिए बलि, बिलंब न कीजिए जात गलानि गरयो हौं।
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भरयो हौं।
तो मन में अपनाइए तुलसिहिं कृपा करि; कलि बिलोकि हहरयो हौं।'

कबीर और तुलसी दोनों को प्रभु-विरह की मर्मन्तुद वेदना के कारण मृत्यु आसन्न लगती है, इसीलिए दोनों का आर्त आग्रह है कि प्रभु अब शीघ्र दर्शन दो। कबीर की विकल विरहिणी की कातर उक्ति है : 'बिरहिन ऊठे भी पड़े दरसन कारनि राम। 'मूवां पीछे देहुगे, सो दरसन किहि काम।' इसी तरह तुलसी की विरह विह्वल प्रार्थना है, 'कृपा सिंधु सुजान, रघुबर, प्रनत-आरति-हरन। दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन।'

यह ठीक है कि कान्ता भाव उपासक कबीर जहाँ अपने प्रियतम से "एक-मेक' होकर प्रेम क्रीड़ा करना चाहते हैं, वहाँ दास्य भाव के साधक तुलसी प्रभु की क्रीड़ा के उपकरण" सेवक बन कर ही सन्तुष्ट हैं। दोनों का अधिकार अलग-अलग है। कबीर की मान भरी बिनती है, 'बाल्हा आव हमारे गेह रे। तुम्ह बिन दुखिया देह रे। सबको कहे तुम्हारी नारी मो को इहै अन्देह रे। एक मेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसा नेह रे।' प्रभु-प्रिया का मनोराज्य है कबीर के शब्दों मे, 'वै दिन अब आवेंगे भाइ। जा कारनि हम देह धरी है मिलिबो अंगि लगाइ। हौं जानूँ जे हिलमिल खेलूं तन मन प्रान समाइ। या कामना करो परपूरन समरथ हो राम राइ।' मर्यादावादी तुलसीदास अपने जी की बात प्रभु को बताते हुए उनसे यही चाहते हैं, 'सो कीजै, जेहि भांति छांड़ि छल द्वार परो गुन गावों।'—यदि वे प्रभु की लीला के क्षुद्र सहचर-अनुचर बन सकें, तो वे कृतकृत्य हो जायेंगे। तुलसी जैसे विनम्र सेवक की लालसा यही हो सकती है, 'खेलिबेको खग, मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहि हौं। यहि नाते नरकहूँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहूँ दुख दहिहौं।'

धन्य भाग्य थे कबीर-तुलसी के, दोनों की कामना प्रभु ने पूर्ण की थी। कबीर के घर राजा राम पति के रूप में पधारे, अविनाशी पुरुष से विवाह के बाद कृतज्ञ और उत्फुल्ल कबीर ने इसका सारा श्रेय श्री राम को देते हुए कहा, 'हमहिं कहा, यह तुमहिं बड़ाई। कहे कबीर मैं कछु ना कीन्हा। सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा।' प्रियतम के मन में मिला देने के बाद सुख सागर को प्राप्त कर कबीर अमर हो गये, उनकी सीधी घोषणा है, 'हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं। हरि न मरें हम काहे कूं मरिहैं।' कहे कबीर मन मनहि मिलावा। अमर भये सुख सागर पाया।' प्रेमाद्वैत की स्थिति में पहुँच कर कबीर को लगता है 'अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि।'

तुलसी की प्रार्थना सुन कर उन्हें कर्म के कठिन बन्धन से 'आरत-अनाथ-नाथ कौसल-पाल कृपाल' ने छुड़ा कर अपना लिया था, 'सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीब निवाज।' उन्होंने गद्‌गद् स्वर में स्वीकारा कि यद्यपि तीनों लोकों और तीनों कालों में तुलसी के सदृश कोई कुटिल और मदमति खल-तिलक नहीं हुआ तथापि प्रभु ने करुणा के वशवर्ती हो, 'नाम को कानि पहि-चानि जन आपनो ग्रसत कलि व्याल राखो सरन सोऊ।' तुलसी की विनय पत्रिका पर प्रभु की स्वीकृतिसूचक सही पड़ी तो अनाथ तुलसी की सब भांति बात बन गयी, 'मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है।' श्री राम की शक्ति से शक्तिमान् होकर तुलसीदास ने कलिकाल तक को फटकार कर कह दिया कि मुझे तुमसे कुछ लेना-देना नहीं है, मैं राम का

सेवक हूँ, यह समझ कर ही मुझ पर ज़ोर-जबर्दस्ती करने की बात सोचना, परिणाम में तुम्हें ही पछताना होगा, मैं तुमसे नहीं डरूँगा: 'मोको न लेनो न देनो कछु कलि; भूलि न रावरी और चितै हौं। जानि के जोर करो परिनाम तुम्हें पछितैहौ पै मैं न भितै हौं।' जो प्रभु एक बार प्रणाम करने पर अपने भक्त को सब प्राणियों से अभय कर देते हैं, उन्हीं का सेवक कह सकता है, 'तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।'

केवल साधना के क्षेत्र में नहीं, जगत् व्यवहार के क्षेत्र में भी कबीर-तुलसी की दृष्टि बहुत मिलती-जुलती है। दोनों जगत् की बाहरी चमक दमक से प्रभावित नहीं होते। दोनों को लगता है कि राम को भूल कर इस जगत् के प्रति अनुरक्त होना अपने वास्तविक लक्ष्य से भटकना है। कबीर 'काजर केरी कोठड़ी तैसा यह संसार' मान कर सबको सचेत करते हैं कि इसमें प्रवेश कर वही निष्कलंक रह सकता है, जो राम का आश्रित हो: 'काजल केरी कोठरी काजल ही का कोट। बलिहारी ता दास की जो रहे राम की ओट।' तुलसीदास भी इस संसार को कपट-आगार मानते हैं और हरि के बल पर ही इस निस्सार संसार से आबद्ध न होने का भरोसा रखते हैं: 'मैं तोहिं अब जान्यो संसार। बाधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार। देखत ही कमनीय, कछु नाहिंन पुनि किए बिचार। ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ निकसत सार।'

ऐसी मान्यता का परिणाम यही हो सकता था कि कबीर-तुलसी भौतिक दृष्टि से सफलता पर नहीं, पारमार्थिक दृष्टि से मानव जीवन की चरितार्थता पर बल देते। मध्यकाल में भौतिक सफलता का चरमोत्कर्ष समृद्ध और शक्तिशाली राजा होना ही माना जाता था। कबीर-तुलसी दोनों ने भक्तिहीन राजा की तुलना में निःस्व भक्त के जीवन को श्रेष्ठ ठहराया है। कबीर की स्पष्टोक्ति है, 'अर्ब खर्ब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज। भक्ति महातम ना तुले ई सभ कौने काज।' और 'है गे वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ। ता सुख तें भिख्या भली हरि सुमिरत दिन जाइ।' तुलसीदास भी इसी मत के हैं, उनका प्रसिद्ध सवैया है—

> राज सुरेश पचासक को बिधि के कर को जो पटो लिखि पाए।
> पूत सपूत, पुनीत प्रिया, निज सुन्दरता रति को मद नाए॥
> संपति सिद्धि सबै तुलसी, मन की मनसा चितवैं चित लाए।
> जानकी जीवन जाने बिना जग ऐसेऊ जीव न जीव कहाए॥

यह भी लक्षितव्य है कि विषयासक्तों के सांसारिक जीवन को धिक्कारने का अर्थ यह नहीं है कि कबीर-तुलसी जग-जीवन को सर्वथा निराशापूर्ण और

दुःखमय मानते थे। इन दोनों ने इस बात पर बल दिया है कि मरने के बाद के स्वर्ग-वैकुंठ आदि के लोभ से नहीं, भक्तों का आनन्दमय जगजीवन भला लगने के कारण ये अपने जीवन को उसी प्रकार ढालना चाहते हैं। कबीर को इस जीवन का वही दिन श्रेष्ठ लगता है, जिस दिन उन्हें कोई सच्चा संत मिलता है, जिसका आलिंगन करने मात्र से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं : 'कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलहिं। अंक भरे भरि भेंटिए, पाप सरीरो जाहि।' राम का भक्त कबीर के मन को भाता है, क्योंकि वह आतुर नहीं होता, उसके मन में सत्य, सन्तोष और धैर्य होता है, उसे काम, क्रोध और तृष्णा नहीं जलाती, वह आनन्द से प्रफुल्लित हो गोविन्द का गुण गाता है, उसे परनिन्दा नहीं भाती, वह असत्य नहीं बोलता, वह काल की कल्पना को मिटा कर प्रभु के चरणों में चित्त लगाता है, दुविधा छोड़ कर वह सदा सम-दृष्टि और शीतल रहता है। कबीर का संत सम्बन्धी आदर्श इस पद में मूर्त हो उठा है—

राम भजे सो जाणिये, जाके आतुर नाहीं।
सम, संतोष लीये रहे, धीरज मन माहीं ॥टेक॥
जन को कामक्रोध व्यांपे नहीं, त्रिश्ना न जरावै।
प्रफुल्लित आनन्द में गोव्यंद गुण गावै॥
जन को पर निंद्या भावे नहीं, अरु असति न भावे।
काल कलपना मेटि करि, चरनूं चित राखे॥
जन सम द्रिष्टि शीतल सदा दुबिधा नहीं आने।
कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन माने॥

इन्हीं संतों की रहनी का अनुकरण करने के फलस्वरूप इसी दुःखदग्ध संसार में, इसी जगजीवन में कबीरदास को परमानन्दस्वरूप प्रभु मिले थे और उनका मन आनन्द से भर उठा था, 'कहे कबीर मनि भया आनंद। जग जीवन मिलियौ परमानंद।'

'संत मिलन सम सुख जग नाहीं' माननेवाले तुलसीदास ने भी डंके की चोट पर कहा था, कौन जाने कौन नरक जायेगा, कौन स्वर्ग, कौन वैकुंठ, मरने के बाद क्या होगा, इसे कौन सोचता है, मुझे तो राम के सेवकों का इसी जग का जीवन बहुत अच्छा लगता है, 'को जाने को जैहै जमपुर, को सुर-पुर परधाम; को तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को।' राम की भक्ति और संतों की संगति ने उनके भवत्रास को नष्ट कर उन्हें यह बताया था कि यह अविचारित रमणीय संसार वास्तव में बहुत भयंकर है, किन्तु समता, सन्तोष, दया और विवेक से यह व्यवहार में सुखकारी हो जाता है :

कुंठाएँ भर कर उसे निराश करना ही है। कबीर-तुलसी राम की कृपालुता का भरोसा देकर बीतीको बिसार कर आगे की सुधि लेने को कहते हैं, 'कबीर मूलि बिगड़ियां, (तू) ना करि भला चित्त। साहिब गरवा चाहिये नफर बिगाड़े नित्त।' अज्ञानवश दास से तो बात बिगड़ती ही है, पर गौरवशाली स्वामी उसे सुधार लेता है, अतः हताश मत हो। यही मत तुलसी का भी है, 'बिगरी जनम अनेक की, सुधरे अबही आजु होहि राम को, नाम जपु, तुलसी तजि कुसमाज।' यह विस्तारपूर्वक दिखाया जा सकता है कि कबीर और तुलसी दोनों ने यह आश्वासन दिया है कि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्कपट एवं अनन्य भाव से राम का भरोसा करनेवालों का जीवन काम-क्रोध आदि विकारों तथा संशय, निराशा आदि निषेधक वृत्तियों के उत्पीड़न से मुक्त हो आनन्दमय हो जायेगा।

कबीर और तुलसी दोनों ने अपने समय के समाज में व्याप्त विषमता, अनाचार, अत्याचार और पाखंड का विरोध किया था। यह जरूर है कि कबीर का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक एवं स्वर अधिक उग्र है। हिन्दू-मुसलमान दोनों समाजों की विकृतियों पर उन्होंने प्रहार किया था। जहाँ हिन्दुओं में व्याप्त छुआछूत, जातिभेद, वाममार्गी अतिचार आदि का उन्होंने खंडन किया था, वहीं मुसलमानों की हिंसा और हठवादिता की भर्त्सना की थी। तुलसीदास ने हिन्दू-मुसलमान का नाम नहीं लिया है। कबीर की ही तरह भक्ति का उनका सन्देश भी सार्वभौम है। इस क्षेत्र में उन्होंने भी जाति-पांति या छुआछूत को अस्वीकारा है, किन्तु समाज-संगठन की दृष्टि से वे वर्णाश्रम के उस उदार रूप का समर्थन करते हैं, जिसमें राम के प्रताप से विषमता नहीं रह गयी थी। गरीबों के प्रति कबीर-तुलसी दोनों की अकृत्रिम सहानुभूति थी। दोनों खुद गरीबी के शिकार थे। यदि कबीर ने पीड़ा के साथ कहा है कि 'निर्धन आदर कोई न देई' तो तुलसी का अनुभव है कि 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माही।' नारी के प्रति दोनों की उक्तियों को वास्तव में कामिनी या काम के प्रति मानना चाहिए। पुरुष साधक के मन में काम का उद्रेक नारी के द्वारा होने के कारण काम के प्रति दोनों का रोष नारी पर ही उतरा है। इस क्षेत्र में कबीर तुलसी से कहीं अधिक कटु हैं। कबीर की एक बड़ी सीमा यह है कि वे समाज का समन्वित आदर्श रूप नहीं उभार पाये हैं, मुक्तकों के रूप में कथित उनकी विधायक उक्तियां प्रातः व्यक्तिपरक हैं। तुलसी ने रामकथा के माध्यम से परिवार, समाज, राज्य की उज्ज्वल छवियाँ भी दी हैं। नारी के विविध रूपों को बड़ी सहृदयता और सहानुभूति के साथ अंकित किया है। राम राज्य की उनकी कल्पना भारतीय समाज का आदर्श है।

मेरा विश्वास है कि कबीरदास भी यदि आदर्श समाज का विस्तृत रूप अंकित करते, तो वह तुलसी के रामराज्य से मिलता-जुलता होता। कबीर भी ऐसा ही समाज चाहते थे, जिसमें कोई दरिद्र, दुखी, दीन, अबुध और लक्षणहीन न हो। सब सुन्दर, नीरोग, गुणज्ञ, ज्ञानी और कृतज्ञ हों, 'सर्वोपरि राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।'

कबीर और तुलसी भक्तिरूपी एक ही मूल की दो शाखाएँ हैं। दोनों में निश्चय ही अपनी-अपनी विशिष्टताएँ है, जिन्हें कोई चाहे तो भिन्नताएँ कह ले, पर उनके आधार पर उनके मूलभूत साम्य को नकारना गहरी भ्रान्ति को प्रचारित करना है। कबीर की वाणी ऐसे लोगों को सचेत कर रही है 'मूल गेह ते काम है, तैं मत मर्म भुलाए।'

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

कबीर वांङ्मय - खंड १ तथा खंड ३--सं० डा० जयदेव सिंह, डा० वासुदेव सिंह
कबीर ग्रन्थावली -सं० डा० माताप्रसाद गुप्त
कबीर बीजक—सं० डा० शुकदेव सिंह
कबीर-ग्रन्थावली—सं० डा० श्यामसुन्दर दास
रामचरितमानस—सं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
तुलसी के अन्य ग्रन्थ—तुलसी ग्रन्थावली (खंड २), काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

शंभुनाथ

मिथक और यथार्थवाद

भाषा के अस्तित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया में मिथक भी बने। भाषा सामाजिक ढांचे की उपज होती है, अतः आदिम अवस्था में जैसे भी मिथक बने, उनका राजनैतिकार्थिक विकास होता गया। ऐसे मिथक आरंभ से सामाजिक अभिव्यक्ति के आस्थाशील माध्यम थे और भाषिक संरचना के महत्वपूर्ण अंग भी। आदिम समाज की भाषा और मिथक को अलग करके इसलिए नहीं देखा जाता कि उस काल के सामाजिक यथार्थ का स्वरूप मिथकीय था। अपने जीवन की कठोर भौतिक परिस्थितियों से घिरे मनुष्यों ने क्षुधा और काम की जरूरतों को पूरा करने के मार्ग में अपने आसपास के संसार एवं इसकी प्रकृति को पहचानने—अपनी वैचारिक आस्था की रचना करने—की चेष्टाएँ की थीं। ऐसी चेष्टाएँ उन्होंने भाषा के माध्यम से की थीं, जिसके उपलब्ध स्वरूप को आज हमलोग मिथक कह कर विश्लेषित करते हैं। अतीत का विज्ञान ही हमारे सामने आज मिथक है। अपने सोच के सीमित साधनों के द्वारा मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन और विश्व की एक समग्र समझ पैदा की थी, विज्ञान और दर्शन के धरातलों पर इसे व्याख्यायित किया था तथा कलात्मक सृजन के धरातल पर अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति की थी। वह पुरानी समझ, व्याख्या और कलात्मक सृजन अब समकालीन वैज्ञानिक जीवन में अर्थहीन लगती है। आज की भाषा, ऐसा लगता है, अब मिथकों से मुक्त हो गई है। वह अधिकाधिक सीधे और तार्किक संकेतों वाली बनती जा रही है—कुछ हद तक गणित का रूपाकार अपना रही है। फिर समकालीन भाषिक संरचना मिथकों की विरोधी क्यों नहीं है? हमें इस पर विचार करना होगा कि आज का आदमी

अपने जीवन की आवेगपूर्ण इच्छाओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति क्या अपने जातीय मिथकों से बिल्कुल विच्छिन्न होकर कर सकता है। क्या भाषा अपने अतीत से विमुख होकर आधुनिकता की दिशा में कोई सार्थकता अर्जित कर सकती है ?

मिथक जातीय अतीत का सबसे बड़ा खजाना है। इसकी सार्थकता प्रमाणित करने के लिए मिथकशास्त्र के अन्तर्गत लम्बे काल से बहस चल रही है। पाँच शताब्दी पूर्व इक्सेनोफेंस ने होमर तथा हेसियड के काव्यों में मिथकीय चेतना का आध्यात्मिक पक्ष अस्वीकार दिया था। उसे मिथक इतिहास-निरपेक्ष और अबौद्धिक लगा था। होमर तथा अनेक ग्रीक कवियों ने लोगोस से भिन्न शब्द अथवा भाषा के अर्थ में मिथोस का व्यवहार किया था। पारिभाषिक रूप में यह कथावस्तु (प्लाट) की ओर संकेत करता था। सर्वप्रथम इयुहेमरस ने ४०० ई० पूर्व ग्रीक मिथकशास्त्र की नयी व्याख्या प्रस्तुत की थी तथा सिद्ध किया था कि देवता और कोई नहीं-मनुष्य ही थे, जिन्होंने मिथकीय काल अथवा प्रागैतिहासिक काल में अपने महत् कार्यों एवं उपलब्धियों के बल पर आत्मिक ऊंचाई हासिल की थी। मिथक को इतिहास, यथार्थ तथा मानवीय स्थिति से जोड़ने की एक अच्छी शुरुआत इस विचारक ने की थी। इसके बहुत बाद ग्यांबतिस्ता विको (१७२५) ने 'द न्यू साइंस' में मिथक के महत्व का नया निरूपण किया। उसका कहना था कि मिथक किसी विशेष काल की सामूहिक मानसिकता को प्रस्तुत करते हैं। यह मानसिकता काव्यात्मक होती है। मिथक को पूर्वकाल की काव्यभाषा का बचा हुआ हिस्सा मानते हुए विको ने इसे सांस्कृतिक विज्ञान घोषित किया और रोमांटिक काव्य आन्दोलन की जमीन तैयार की, जिसे आगे चल कर हर्डर, शेलिंग और शेली ने विकसित किया। फ्रेजर ने 'द गोल्डेन बाउ' में एक भिन्न पहलु को उजागर किया। इन सब के बाद समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, भाषावैज्ञानिक, नृतत्वशास्त्रीय तथा साहित्यिक दृष्टियों से मिथक की विवेचना ने काफी जोर पकड़ लिया और आज इसकी सर्वत्र चर्चा हो रही है। मिथक के बारे में बहुत सारे दृष्टिकोणों ने एकपक्षीय एवं भाववादी चिंतन के परिणामस्वरूप ढेर सारी भ्रांतियां भी खड़ी कीं। किन्तु अब साफ है कि 'इन्टरडिसिप्लिनरी स्टडी' के अन्तर्गत मिथक का विश्लेषण एक समग्र मानविकीय दृष्टिकोण से ही संभव है।

मिथक को सामाजिक कथा मानते हुए इसका अध्यात्मवादी विश्लेषण काफी अधिक हुआ। मिरेका एलायड ने इसे पवित्र यथार्थ माना तथा बतलाया कि इसका 'सृजन' से गहरा संबंध है, क्योंकि मिथकीय कथाएँ बतलाती हैं कि कुछ भी अस्तित्व में कैसे आया और मानवीय व्यवहार की एक पद्धति, एक

संस्था अथवा कोई कार्यप्रणाली कैसे स्थापित और सांस्कृतिक सूत्रों से विकसित हुई। हमारे सामाजिक आचरण में प्रथम उत्पत्ति के वे मिथक अक्सर दुहराये जाते हैं, जो रिचुअल्स बन जाते हैं। गृह प्रवेश के वक्त गृह प्रवेश की कथा दुहराई जाती है, जिससे यह सुखद हो। 'तैत्तरीय ब्राह्मण' में उल्लिखित है कि 'ईश्वर ने ऐसा किया, अतः मनुष्य भी करता है' (१५-९-४)। आद्यरूपीय समाज के मिथकीय जीवन पर टिप्पणी करते हुए मिरेका एलायड ने 'मिथ एंड रियलिटी' में लिखा कि कोई व्यक्ति मिथक इस अर्थ में जीता है कि वह प्राचीन घटनाओं के वशीभूत हो जाता है तथा वैसा ही अपने जीवन में दुहराता है। मिल्यिम मारशल अर्बन ने मिथक को आत्मप्रकाशात्मक बौद्धिकता से जोड़ा और इसका रिश्ता विज्ञान के साथ कायम करने की चेष्टा की। मिथक को यथार्थ की आन्तरिक ताकत बतलाते हुए उसने मिथक की सीमा को मनुष्य की आत्मशक्ति की सीम के रूप में परिभाषित किया। अर्नेस्ट कैसिरेर ने भी मिथक के आध्यात्मिक पक्ष को अधिक महत्व दिया।

अध्यात्म का स्थान आगे चल कर मनोविज्ञान ने ले लिया और देवताओं को मानवीय अचेतन के प्रतीकों के रूप में विश्लेषित किया गया। कार्ल गुस्ताव युंग ने मिथक को सामूहिक अवचेतन का मनोवैज्ञानिक यथार्थ कहा। इसके पूर्व फ्रायड ने ईडिपस ग्रंथि की व्याख्या मिथकीय स्तर पर की थी। ईडिपस ने अपने पिता की हत्या करके अपनी मां जोकास्ता से शादी रचा ली थी। फ्रायड के बाद स्वप्न और मिथक के अन्तर्संबंधों के विश्लेषण की होड़ लग गई। कहा गया कि स्वप्न में सांस्कृतिक प्रतीक और मिथक अभिव्यक्त होते है। ये कलात्मक भले न हों, पर गहन अर्थो वाले होते हैं। युग ने लिखा—'आदिम मानवों ने मिथकों का अन्वेषण नहीं किया, इनकी अनुभूति की। ये भौतिक प्रक्रिया में रचित रूपक हैं। इनमे एक बड़ा अर्थ संगुंफित रहता है।' उसने सामूहिक अवचेतन की समग्र अन्तर्वस्तु को आर्कटाइप्स कहा और मिथक को इन्हीं की अभिव्यक्ति माना। अचेतन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने धर्म और मिथक की नयी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। मिथक और फंतासी में अन्तर स्थापित किया। मिथक सामूहिक सांस्कृतिक अचेतन को समझने का माध्यम है, जबकि फंतासी व्यक्तिगत अवचेतन की अभिव्यक्ति है। पहले मिथक पर धर्म का बहुत आतंक था, अब मिथक की कुंजी मनोविज्ञान के हाथ में चली गई। मिथक और धर्मकथा में फर्क करना चाहिए, क्योंकि मिथक सिर्फ देवकथा नहीं है। यह एक जाति का सांस्कृतिक इतिहास है। पहले कला और धर्म में रिश्ता था, अत मियक और धर्म में अलगाव नहीं था, पर मिथक की, भाषा की वजह से, एक पृथक सत्ता थी। आधुनिक मियक का स्वाभाविक गुण है कि इसका सांप्रदायिकता

से कोई सरोकार नहीं रहता। इसी प्रकार मनोविज्ञान के स्तर पर इसे सिर्फ स्वप्न की संपत्ति मानना गलत है। मिथक पूरे समाज के मस्तिष्क की चीज है और इसे मानसिक ग्रंथियों की शक्ल में ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। मिथक के आद्यरूप का भी निरंतर सामाजिक विकास होता रहता है।

मनुष्य की आशा, आकांक्षा और संघर्षों की सृजनात्मक कल्पना के अतिरिक्त देवी-देवताओं का कोई दूसरा वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। पुरातत्त्व-अनुसधान की दृष्टि से देवकथा का आरम्भ पृथ्वी-स्थानीय देवी से हुआ। पृथ्वी और आसमान के संसर्ग से देवता का जन्म हुआ और इसकी पुराकथा का विकास हुआ। ऋग्वेद में इसकी उत्पत्ति अदिति, जल और पृथ्वी से बतलायी गई है। वैदिक मिथकशास्त्र का उदय प्रकृति के अतिमानवीयकरण से हुआ। वैदिक और अवेस्तन मंत्रों की अद्भुत समानताएं संकेत देती है कि एक समूचे वेल्ट में भाषा और समाज की प्रायः समरूप अवस्था थी। देवताओं की मिथकीय कथा मानवीय संकट को व्यक्त करने के साथ यह संकेत भी देती है कि एक युग के मनुष्य अपने जीवन की भौतिक परिस्थितियों से किस प्रकार टकराये और अपनी जाति के सामने जीवन के कुछ आदर्श उपस्थित कर सके। अतिरंजित चमत्कार और अतिकल्पनाओं को छाँट दें, तो ऐसे मिथक सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्थाओं के विकास की कहानी कहते प्रतीत होते हैं। राम, कृष्ण, शिव या निराकार ईश्वरों के माध्यम से सामाजिक अन्तर्विरोध प्रकट हुए हैं। ये देवता स्थिर नहीं रहे क्योंकि समाज स्थिर नहीं रहा। देवताओं के मिथकों के विकास से मानव जीवन की बदलती प्रणालियों, अर्थरचना और जातीय विश्वास का पता चलता है। इनकी संरचना में बाहरी और भीतरी टकराहटों का भी बोध होता है। ब्रह्म अथवा ईश्वर का रूप कभी स्थिर नहीं था और यह डायनमिक था, तो इससे सामाजिक अर्थरचना की गतिशीलता के ऐतिहासिक क्रम का भी ज्ञान होता है। किसी समय की अच्छाई और बुराई का संघर्ष ही मिथकीय काल के देव-दानव के युद्ध में और आज के वैज्ञानिक युग के वर्ग सघर्ष में बदल गया है। नये युग में देव-मिथकों का कलात्मक आधुनिकीकरण हुआ है या अवमिथकीयकरण।

कार्ल मार्क्स ने मिथक को श्रम से जोड़कर इसे मानव के अनवरत सृजन का रूप बतलाया था। उसे प्रमथ्यु का मिथक बहुत भाता था, क्योंकि इसमें सृजनशीलता थी। मिथक सामाजिक परिवर्त्तन के विरोधी होते हैं या समर्थक—यह इस पर निर्भर करता है कि इनमें सृजनशील तत्त्व कितनी मात्रा में हैं। समाज के सामंती-पूंजीवादी मिथकों से शोषित जनसमूह के सृजनशील मिथकों का द्वन्द्व चलता है और विश्वासों का टकराव होता है। वस्तुतः मिथक साध्य

नहीं, साधन हैं—सांस्कृतिक माध्यम। बर्गसां ने मिथक को निम्न बौद्धिक यथार्थ से जोड़ा था और मालिनोवस्की की समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति जंगली समाज के मिथकों और आचरणविधि के विश्लेषण क्रम में विकसित हुई थी। उसने मिथक को सामाजिक संस्थाओं का चार्टर कहा था। कोई भी मिथकीय वृत्तांत सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं से जुड़ा होता है। इसका कार्य होता है परम्परा के प्रति जागरूकता पैदा करना और अतीत को नये जीवन-मूल्यों के आलोक में पहचानना। इसीलिए मिथक को मानवजाति का दिवास्वप्न भी कहा गया।

मिथक की राजनैतिक आलोचना करते हुए जार्ज सोरेल ने इसे मानवीय विपत्ति के काल की भावात्मक उपज कहा। इसकी भूमिका स्पष्ट करते हुए उसने मार्क्स की सर्वहारा क्रांति एवं दुनिया के मजदूरों की आम हड़ताल तक को मिथक घोषित किया, क्योंकि ये अन्ततः मनुष्य के वैचारिक विश्वासों के ही राजनैतिक स्वरूप हैं। जनता में साहस और आत्मबलिदान की भावना मिथक से ही पैदा होती है, अन्यथा भारी विपत्ति के समय असंख्य लोग अपनी आहुति देने के लिए तैयार नहीं होते। मिथक किसी जाति की भविष्यवादी दृष्टि को मजबूत बनाते हैं और वर्त्तमान का व्यावहारिक बोध कराने में कुछ हद तक सहायक होते हैं। मिथक की एक बड़ी भूमिका किसी महत् कार्य के लिए जनता को दृढ़प्रतिज्ञ करने की है। ये मिथक अतीत की घटनाओं से जुड़े होते हैं, पर वर्त्तमान के सामूहिक राष्ट्रीय जीवन के सदर्भ में नई सार्थकता की खोज करते हैं। किसी अधिकेन्द्रित समाज में राजनैतिक मिथक ही जनजीवन के नये आचार बन जाते हैं। व्यापक राजनैतिक क्रांति होती है और परंपरागत-मिथक ससार का विघटन हो जाता है, तो जीवन में नये मिथक अपना स्थान बनाते हैं। नये समाज में भी मिथकों की जरूरत इसलिए पड़ती है कि सामूहिक जनजीवन अपनी क्रांतिकारी आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति इसी के माध्यम से करना चाहता है और नये भविष्य की ओर बढ़ता भी जाता है। उसका विश्वास उठ नहीं जाता, बल्कि रूपांतरित हो जाता है।

मिथक हमें बतलाते हैं कि इस दुनिया की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का कैसे विकास हुआ और लोकविश्वासों का रचनात्मक स्वरूप क्या है। आदम-ईव की कथा बतलाती है कि देवता ने सृष्टि को दो भागों में विभक्त करके किस प्रकार आदम और ईव को धरती पर भेज दिया। बेबीलोन के एक मिथक के अनुसार मरडुक ने तियामत नामक दैत्य को मार कर सृष्टि की रचना की। मनु और नोवाह से जुड़ी प्रलय कथा से सभी परिचित हैं। अथर्ववेद में प्रलय की विवेचना तथा पुराणों में चार युगों का सिद्धांत मिलता है। ये

चार युग धार्मिक समाज के हैं। इसके पहले जादू और बाद में विज्ञान का युग आता है। हमारे यहां प्रजापति ने सृष्टि की रचना की—धरती और इसके मनुष्यों के समाज को अवधारणात्मक स्वरूप दिया। आज का विज्ञान निश्चय ही मिथक के कथनों को खंडित करके नया तर्क देता है। किन्तु एक काल की सामाजिक हलचलों की पहचान कराने के कारण मिथकों को विज्ञान का ही एक हिस्सा मानना चाहिए।

सृजन के मिथकों का महत्व सबसे अधिक है। इनका पहला काम अलगाव और दूसरा काम द्वन्द्व को लेकर है। स्वर्ग से धरती, आकाश से पृथ्वी, देवता से मनुष्य का अलगाव हुआ। भाववादी भ्रांति से वास्तव के अलगाव की की प्रक्रिया शुरू हुई। आदिम वैज्ञानिकों ने सबसे पहले आग को पहचाना और अपने जीवन को सामाजिक रूप देना प्रारंभ किया। फिर इस समाज में विविध तरह की संस्थाएं बनने लगीं। सभ्यता की ओर बढ़ने के मार्ग में सामाजिक-राजनीतिक द्वन्द्व तीव्र हुए। हमलोग दुनिया भर की सभ्यताओं के इतिहास में राम-रावण तथा कौरव-पांडव के बीच हुए संग्राम की तरह और भी अनेक संग्रामों के मिथक पाते हैं।

भारतीय मिथकों का सामाजिकार्थिक विकास सृजनात्मक सांस्कृतिक द्वन्द्वो के माध्यम से हुआ, तथाकथित समझौतों अथवा सामासिक पद्धति से नहीं। हमारे देवता तक आपस में लड़ते रहे। वैदिक देवताओं में सत्ता के लिए आपसी झगड़े थे। इन्द्र, रुद्र, अग्नि, सूर्य—इनके बीच निरंतर सत्ता-संघर्ष हुए। इन्द्र का अपना विशेष प्रभाव अर्जित करना तथा वृत्रासुर नामक अनावृष्टि के राक्षस का वध करना अन्ततः यही प्रमाणित करता है कि कृषि-व्यवस्था सुदृढ़ हो चुकी थी। दूर के देशों से व्यवसाय भी बड़े परिमाण में होने लगे थे। पड़ोसी देशों में वरुण और मित्र के रूप में उरुण, मिथ्र, मेत्र मिलते हैं। बहुत तकलीफ सहकर स्वर्गलोक से अग्नि लाकर मनुष्यों में बाँटनेवाला भारतीय विद्रोही मातरिश्वन की तरह का ग्रीक मिथक प्रमथ्यु है। वैदिक देवताओं का संघर्ष राम और कृष्ण से हुआ। समाज-व्यवस्था की ऐतिहासिक प्रक्रिया में वैदिक देवता लोक-विश्वासों से प्रायः विलुप्त होते गये तथा इनका स्थान ग्रहण कर लिया विष्णु और शिव धाराओं के पौराणिक मिथकों ने। उच्च वर्ग की आकांक्षाओं को विष्णु और स्वर्णभूषणों से सजे इनके अवतारों ने प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दी तथा निम्न वर्ग की आकांक्षाओं को साधारणता से ओतप्रोत शिव-गणेश ने। मध्यकाल का भारतीय समाज परंपरागत मिथकों के साथ नये टोटम-टैबूज, स्थानीय देवताओं और कई तरह के रहस्यवादों से आक्रांत हो गया। मध्यकालीन व्यवस्था में शोषण, परतन्त्रता तथा अंधविश्वासों का सामंती चक्र स्थापित हुआ।

जिसने परिवर्त्तनकारी शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर दिया। बिना किसी आर्थिक चेतना के जातीय-सांस्कृतिक चेतना सुसंगठित नहीं रह सकती थी, फलत विदेशी साम्राज्यवादियों ने देश पर धीरे-धीरे कब्जा कर लिया। भारतीय संस्कृति तथा इसके मिथकों का मध्यकाल सर्वाधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि इसके सस्कार आधुनिक युग के समग्र राष्ट्रीय जीवन में अपने तमाम अंतर्विरोधों के साथ मौजूद हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल यह है कि मनुष्य और इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति के विकास को पहचानने के लिए मिथक के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप कैसे दिया जाय।

मिथक आधुनिक जीवन की व्यवहारपद्धति के अंग बने हुए हैं, क्योंकि उनका स्वरूप वैयक्तिक न होकर जातीय है। भाषा भी समाज की हालतों से निरपेक्ष नहीं होती। मिथकों का स्वरूप भाषा में उपलब्ध होता है। अत. सिर्फ इसलिए नहीं कि वैज्ञानिक युग का जीवन नये-पुराने मिथकों से पूर्वापेक्षा अधिक घिरता जा रहा है, भाषा की जड़ों को ठीक-ठीक समझने के लिए भी उन कारणों के दर्शन की जानकारी अनिवार्य है, जो मिथक और सामाजिक यथार्थ को भाषिक संरचना के किसी न किसी धरातल पर जोड़ देते हैं। भाषा की सृजनात्मक ताकत के रूप में मिथक का इस्तेमाल होता है, तो मिथक सामाजिक यथार्थ का विरोधी न होकर एक भाषिक रूप हो जाता है, मानवीय व्यवहार में जीवित रहता है और अन्ततः एक साहित्यिक रूप में सुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार यह भाषिक रूप (क) संरचनात्मक, (ख आद्य व्यवहार विषयक तथा (ग) साहित्यिक—तीन तरह का हो सकता है। भाषा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हुए अगर इसका संबंध बोलनेवालों के मनोविज्ञान, जन-व्यवहार और सामाजिक सौंदर्यात्मक अवधारणा से स्थापित किया जाय, तो मिथक के अध्ययन को एक व्यापक फलक प्राप्त हो जाता है। यह किसी सामान्य संकेत, धार्मिक कथावस्तु के नाटकीय रूप अथवा कोरे गप्प में अवरुद्ध नहीं हो पाता।

पहले मिथक का अध्ययन भाषा के विज्ञान, व्याकरण और काव्यशास्त्र के भीतर सीमित था। भाषिक संरचना के विकास के कारणजगत का कोई विश्लेषण न वैयाकरणों के पास था; न साहित्यिक आचार्यों के पास। भारत में भाषा को अपने आप में एक समग्र दर्शन का दर्जा न पाणिनी के काल में मिल सका, न रीतिकालीन आचार्यों के काल में और न रामचन्द्र शुक्ल के काल में। राजनैतिक आजादी के बाद थोड़ा-बहुत सोचा-समझा जाने लगा कि भाषा का एक दर्शन होता है, जो अपने राष्ट्रीय सामाजिक आधार पर खड़ा होकर विकसित होता है। इतिहास के बारे में

हमारा कोई दर्शन नहीं था. और यह अधिकतर वैसा ही लिखा जा रहा था, जैसा अंग्रेजी शासक वर्ग चाहता था। इस तरह जब हमारा देश राजनैतिक बेड़ियों से मुक्त होकर आज सांस्कृतिक-आर्थिक मुक्ति संघर्ष के लिए उद्वेलित हो रहा है तो समाज और इतिहास के साथ-साथ भाषा के दर्शन की खोज हो रही है। बौद्धिक जगत में अब भारतीय मिथकों की धार्मिक अंधविश्वासपूर्ण या साम्प्रदायिक विवेचना पीछे छुटती जा रही है। इसके स्थान पर वैदिक अथवा पौराणिक कथाओं के राजनैतिक-आर्थिक आधार को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने की आधुनिक भूख तीव्र हो रही है। देवी-देवताओं के मिथकों का समय-समय पर सामाजिक स्थान क्या था, इसे नये सिरे से स्पष्ट किया जा रहा है। भारतीय मनुष्य के इतिहास के बारे में हमलोग काफी अनजान थे। अब इस पर काफी सामग्रियाँ प्रकाश में आ रही हैं कि हमारी जाति का गठन किन सांस्कृतिक और आर्थिक तत्वों के मेल से हुआ, इसके राजनीतिक बदलाव के ऐतिहासिक मोड़ कौन-कौन से हैं, जातीय विश्वासों की सामाजिक धुरी क्या है और हमारी भाषा का विकास सामाजिक तंत्र में किन बदलाओं के परिणामस्वरूप हुआ।

ऋग्वेद में वाग्व्यापार को सृष्टि का पर्याय माना गया था और वाक् के ही विभिन्न स्तरों के रूप में द्युलोक, अंतरिक्ष और पृथ्वी की कल्पना की गई थी। पृथ्वी और आकाश के संसर्ग से देवताओं का जन्म माना गया। वैदिक देवता वस्तुतः भाषिक रूप ही थे। 'अग्नि' आग है और एक देवता भी। प्रकृति के अतिमानवीयकरण से वैदिक मिथकशास्त्र निर्मित हुआ। वैदिक मिथकों में तद्युगीन मनुष्यों का अनुभूत यथार्थ प्रकट हुआ था। उनकी अकांक्षाओं और संघर्षों का इतिहास प्रतिबिंबित हुआ था। ऊपर से कोई भी मिथक अर्थहीन होता है—एब्सर्ड, किन्तु जिस भाषा में मनुष्यों ने ऐतिहासिक रूप से अपनी सामाजिक आत्मा को अभिव्यक्त किया—अपने जीवन में मिलने वाली चुनौतियों का जवाब दिया, वह पूरी की पूरी संरचना-पद्धति अर्थहीन नहीं थी। अवेस्तन और वैदिक मंत्रों में बहुत-सी चीजों की समानता यह प्रमाणित करती है कि एक पूरे बेल्ट में एक-ही स्तर का मानवीय जीवन समान लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था और वह था कृषि-सभ्यता की स्थापना का।

मैक्समूलर ने मिथक को भाषा की रुग्णता अथवा आत्मछल मानते हुए सूरज और चन्द्रमा के मिथक के आधार पर वैदिक मिथकशास्त्र के भाषाशास्त्रीय विश्लेषण का प्रयास किया था। उसके अनुसार मूल आर्यभाषा, अन्य प्राचीन भाषाओं की भांति रुग्ण थी, किन्तु चित्रात्मक भी थी। इस भाषा में लोगों द्वारा सुबह को सुबह या वसन्त को वसन्त कहना असम्भव था। उन्हें जब भोर

के सूर्योदय की बात कहनी होती थी, वे यही कह पाते थे कि सूर्य उषा से प्रेमालिंगन कर रहा है। उनका कथन काव्यात्मक होता था। बाद में मैक्स-मूलर ने हर मिथक को सूर्य के उदय और अस्त—प्रकाश और अन्धकार के बीच द्वन्द्व के सिद्धान्त के अनुसार पारिभाषित करना शुरू किया। यही उसकी बहुत बड़ी सीमा थी। उसके सिद्धांत को इसलिए खारिज करना चाहिए कि उसके विश्लेषण में समाज के ऐतिहासिक विकास की अवधारणा का कोई स्थान नहीं था और वह मिथक के भाषिक रूप की विवेचना समाजनिरपेक्ष दृष्टि से करता था। निःसन्देह उसका चिन्तन साम्राज्यवादी दबाव से काफी हद तक मुक्त था, इसलिए एक बड़ी सांस्कृतिक सम्पदा को वह विश्व स्तर पर उजागर कर सका, पर उसके सामने यथार्थ हमेशा ओझल रहा और अधिक से अधिक वह आधुनिक संरचनावादियों के एक पूर्वपुरुष के रूप में ही मान्यता पा सका।

पूर्व वैदिककाल में मिथक, भाषा, धर्म एवं अर्थतत्व में अद्भुत एकरूपता थी। आदिम साम्यवादी सामाजिक दशा के प्रभाव से भी ऐसा हो सकता है। यह दशा खत्म होने लगी, तो उपरोक्त चारों चीजों के बीच फर्क उप-स्थित होने लगा। हम जानते हैं कि वैदिक भाषा काफी उन्नत थी और इसका एक वैज्ञानिक दर्शन भी था। इसके व्याकरण का स्वरूप जब आत्म-वादी होने लगा और पाणिनी के युग तक घनघोर रूप से अध्यात्मवादी हो गया, तो भौतिक जगत से इसका सम्बन्ध ढीला हो गया। भाषा परोक्ष अर्थ की साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति बन गई। छन्दस के परोक्षवादी तर्क से राजा में ईश्वर का अंश घुस गया। अर्थ की प्रत्यक्ष सत्ता पर सन्देह के कारण पतंजलि से नागेश तक को भाषा का दार्शनिक न कहकर परोक्ष सत्ता का अध्यात्मवादी दार्शनिक कहना चाहिए। जैमिनी उपनिषद में भाषा को 'मन की लहर' कहा गया था। भर्त्तहरि ने माना कि 'भौतिक घटनाक्रम के द्वारा ध्वनि-उत्पत्ति अवास्तविक या असत्य है, दूसरी ओर नाना विकल्पग्रस्त बाह्य अर्थ-वितान भी परमार्थिक दृष्टि से अवास्तविक और असत्य है।' इस तरह के विचार भाषा को सामाजिक यथार्थ से विमुख करने और सामन्ती सौन्दर्यबोध को बढावा देने में सहायक थे। फिर भी पाणिनी की एक भूमिका स्वीकारनी होगी कि व्याकरण के माध्यम से जातीय बिखराव को रोकने और राष्ट्रीयता की चेतना फैलाने में उसने एक अनुशासनात्मक भूमिका निभाई।

पूर्व में शब्द के सबसे भीतरी स्तर को 'स्फोट' के रूप में पारिभाषित किया गया, जो बुद्धि में अवस्थित है। स्फोट को अतीन्द्रिय काल्पनिक लोक से जोड़ दिया गया; ताकि भाषा का वस्तुवादी आधार लड़खड़ा जाये। आश्चर्य नहीं करना चाहिए, अगर भाषा को 'सामाजिक यथार्थ का गाइड'

कहने वाला एडवर्ड सेपिर सामंती हिन्दू बौद्धिकता के सिद्धांतकर्त्ता पाणिनी की प्रशंसा करता है। दूसरी ओर क्लाड लेवी स्ट्रास भाषा के सबसे भीतरी स्तर पर 'फोनीम' एवं संगीत के सबसे भीतरी स्तर पर 'टोनीम' की तरह मिथक के सबसे भीतरी स्तर पर 'माइथेम' देखती है। वह कहती है कि भाषा के स्तर पर अथही। ध्वनियां—फोनीम—एक सामाजिक प्रक्रिया में आशय से जुड़कर शब्द और फिर वाक्य में बदल जाती है। संगीत में ऐसा नहीं होता। यहां शब्द का कोई स्तर नहीं होता और टोनीम सीधे वाक्य में बदल जाती है। अठारहवीं शताब्दी के बाख, मोजार्ट, वेथोवेन, उन्नीसवीं शताब्दी के वेगनर, बीसवीं शताब्दी के कई पाश्चात्य और भारतीय संगीतज्ञों ने समाज में मिथक के कुछ कार्यों को संगीत के ढांचे में ही सम्पादित किया था। मिथक में मूलतः शब्द और वाक्य ही होते हैं अर्थात् हर मिथक अन्ततः एक भाषिक रूप है। भाषा के दो आधार-स्तम्भों में एक अगर संगीत है तो दूसरा मिथक। संगीत ध्वनिपक्ष पर बल देता है और मिथक इसके अर्थ-बोधात्मक पक्ष पर। ध्वनि के बिना अर्थ का अस्तित्व नहीं है। अतः हर अर्थ के मूल में ध्वनि है, जिसे भारतीय दर्शन में 'स्फोट' से पारिभाषित किया गया। मिथक में वाक्य से पहले कुछ ठोस शब्द मिलते हैं, इसलिए इसका अर्थस्तर संगीत के अर्थस्तर से भिन्न होना चाहिए। मिथक शब्दों से बंध जाने के कारण अपने समाज और इतिहास के भीतर ही पहचाने जाते हैं, जबकि संगीत के तात्पर्य का आस्वादन हर मुल्क के लोग बिना किसी बाधा के करते हैं।

भाषा वह खेत है, जहां मिथक उगता है। हरेक काल का समाज अपनी जरूरतों के अनुसार यह फसल तैयार करता है और इसकी नई किस्में पैदा करता है। चाहे वह आदिम समाज हो या औद्योगिक समाज। भाषा और मिथक का सम्बन्ध भाषा और पदार्थ की द्वन्द्वात्मकता के अनुसार बदलता रहता है। हर मिथक में यथार्थ और अतिकल्पना—दोनों का अस्तित्व रहता है। क्योंकि जिस सीमा पर जाकर भाषा का रिश्ता पदार्थ से बिलकुल विच्छिन्न हो जाता है, वहां मिथक भी रहस्यात्मक और अतिकाल्पनिक हो जाता है। मिथक एक सामाजिक-सांस्कृतिक उत्पादन है, इसलिए इसका संबन्ध पदार्थ से रहता है। पदार्थ की चेतना के विकास के साथ-साथ मिथक के स्वरूप मे भी बदलाव आता है। कोई भी मिथक अपने परवर्ती स्वरूप में वही नहीं रह जाता, जो पहले था। इस बदलाव में लोकविश्वासों के संरचनात्मक बदलाव का योगदान होता है। अतः एक ही मिथक में कई युगों के संस्कार, जीवन-मूल्य और घटनाएं जुड़ जाती हैं। ये उस मिथक की भाषिक संरचना को जटिल

बता देती हैं। पदार्थवादी और भाववादी दोनों ही शक्तियां इसे अपनी-अपनी तरफ खींचती हैं। अपने संस्कार प्रदान करती हैं। अपने गुण सौंपती हैं। इसमें सामाजिक विकास अथवा ह्रास के चिन्ह अंकित कर देती हैं। इसलिए हर मिथक के विविध रूपान्तरण मिलते हैं। एक ही मिथक होता है, जिसे लोग कई तरह से जीते हैं, अपने अनुभव जगत में स्थापित करते हैं और व्याख्यायित करते हैं। इसी प्रकार एक ही अनुभव को व्यक्त करने के लिए कई मिथकीय स्वरूप भी बन जाते है।

मानव जीवन की ऐतिहासिक सच्चाई के सम्मुख कोई जाति या इसकी भाषा खड़ी होती है, तब ऐसे मिथकों का निर्माण होता है, जो वस्तुतः जनता द्वारा भोगे हुए यथार्थ हैं। मानवीय जीवन के विकास के साथ इन भोगे हुए यथार्थों का मिथकीय स्वरूप निरन्तर बदलता रहा है। इनके साथ उस जाति का मनोविज्ञान, आचरण और सामाजिक-सौंदर्यात्मक अवधारणा भी परिवर्तित होती रही है। समाज के द्वन्द्वात्मक विकास के क्रम में उसमें नये-नये विश्वासों का उदय होता रहा है। इन सबमें, अर्थात जातीय मनोविज्ञान, जन आचरण, सामाजिक-सौंदर्यबोधात्मक अवधारणा और विश्वासों के भीतर अपनी जड़ें फैलाकर ही धर्मतंत्र, राजतंत्र, सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद ने अपनी सामाजिक-राजनैतिक भूमिका विकसित की। इनके मूल्य मिथकों में पनपते रहे और रूपान्तरित होते रहे। यही कारण है कि किसी जाति अथवा कुछ जातियों की सम्मिलित संस्कृति के इतिहास का सही-सही विश्लेषण करने के लिए मिथकों का वैज्ञानिक अध्ययन जरूरी है, अर्थात जातीय मनोविज्ञान, जनआचरण और सामाजिक विश्वासों की विकासशील संरचना का विश्लेषण-परक अध्ययन। इस अध्ययन में इतिहास की सामग्रियों के साथ मिथकों के आद्यव्यवहार विषयक एवं साहित्यिक रूप का महत्व कम नहीं है। काफी बिखराव और विरूपीकरण के बावजूद मिथकथाओं में इतिहास की वस्तु छिपी रहती है। ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बहुत से आयाम मिथकों की देन हैं। इतिहास-वस्तु की खोज जरूरी है, क्योंकि मिथकों से निःसन्देह कई विलुप्त युगों की जीवन पद्धति और संवेदनाओं को समझने में मदद मिलेगी। मिथकों के माध्यम से पता लगनेवाले वंशवृक्ष या इतिहास पर हम कितना भरोसा कर सकते हैं—यह सवाल उठ सकता है। परन्तु प्राचीन काल के लोग इतिहास से विमुख नहीं थे, इसका पता हमें मिथकों के वैज्ञानिक अध्ययन से ही चलता है।

पश्चिमी आलोचकों ने मिथक पर काफी काम किया है। थोड़े से भारतीय विद्वानों ने भी। किंतु इसके विषयक्षेत्र का सही रेखांकन नहीं हो पाने के कारण इसकी अन्तर्वस्तु की वास्तविक पहचान भी नहीं हो पायी है। धर्म,

आद्यरूप, संरचनावादी स्वरूप, भाषाशास्त्रीय स्वरूप, आदिम समाजों के मनोविज्ञान के भीतर ही मिथक को अलग-अलग परिसीमित कर दिया गया है। मिथक की समग्र भाषिक संरचना—मनस्तत्त्व, जनआचरण, सामाजिक सौंदर्यबोधात्मक अवधारणा अथवा मानवीय विश्वासों-के कलात्मक स्वरूप का अध्ययन यथार्थवाद के आलोक में नहीं किया गया। अब मिथक और पदार्थ के द्वन्द्वात्मक अंतर्संबंधों के विश्लेषण की मार्फत मिथक के वैज्ञानिक अध्ययन का एक नया क्षितिज अन्वेषित करने की जरूरत स्पष्ट हो गई है। मनुष्य और उसकी संस्कृति के विकास के अध्ययन में मिथक के प्रति यह आधुनिक दृष्टिकोण काफी चुनौतीभरा है।

मिथक के विश्लेषण में विज्ञान की क्षमताओं का उपयोग करते हुए क्लाड लेवी स्ट्रास ने उन बहुत-सी चीजों पर नये सिरे से विचार किया, जिन्हें अर्थहीन कह कर फेंक दिया गया था। उसने दो तरह के समाजों को उठाया। एक तरह का समाज वह है, जिसमें सारे मिथक संकलित स्वरूप में हैं। दूसरी तरह के समाज ऐसे हैं, जिनमें मिथक बिखरे हुए और बहुत बिगड़े स्वरूप में मिलते हैं। निश्चय ही जिस समाज में मिथकों का एक विशाल खजाना है और यह बिखरी अवस्था में नहीं है, उस समाज का सांस्कृतिक विकास ऐतिहासिक पद्धति से हुआ है। मिथक का बिखराव किसी समाज के जातीय स्वरूप के बिखराव का द्योतक होता है। ऐसे समाज का इतिहास भी छिन्न-भिन्न अवस्था में रहता है। स्ट्रास ने 'टोटेमिज्म' और 'द सेवेज माइंड' में दूसरे तरह के समाजों पर ज्यादा काम किया। उसमें पहली चिंता यह जगी कि अराजक और अर्थहीन प्रतीत होने वाली मिथकीय कहानी अपने स्वरूप में भी काफी अराजक और क्रमहीन होती है; अतः इसे सार्थक क्रम में कैसे ढाला जाय। संसार भर में विवाह की बहुत-सी रीतियां प्रचलित हैं, हर समुदाय के लिए अलग-अलग रीति है—यह सब एब्सर्ड नहीं तो और क्या है। आज विश्व में सभ्यता का समरूपात्मक विकास हो रहा है, फिर भी मनुष्यों का आंतरिक जीवन अलग-अलग एवं विविधतापूर्ण है। स्ट्रास समझ नहीं पाती कि बिना इस विविधता के मनुष्यजाति जिंदा कैसे रह सकती है। समकालीन प्रौद्योगिकी मानवीय सभ्यता में समरूपता लाने का भरसक प्रयास कर रही है। अधिक से अधिक घरों में चम्मच-प्लेट, रेडियो, प्लास्टिक के सामान, टेरेलिन, विद्युत से चलनेवाली आधुनिक उपभोग-सामग्रियां या टूथपेस्ट जैसी चीजें पहुंचाकर। फिर भी किन कारणों से लोगों के आंतरिक जीवन में फर्क और विविधता मिट नहीं रही—यह स्ट्रास इसलिए नहीं बता पाती कि वह सामाजिक विकास के नियमों को पहचानने

से इन्कार करती है। उसने मिथकों को भी इन नियमों से विच्छिन्न करके देखा और इस वजह से माना कि मिथक में कहीं अर्थ है तो इसके तत्वों में नहीं, बल्कि उस सरचनात्मक पद्धति में है, जिसके द्वारा पृथक-पृथक तत्व मिथक का रूपाकार ग्रहण करते हैं ('स्ट्रक्चरल एंथ्रोपालजी', पृष्ठ २१०)। मिथक की सरचना ही मिथक का अर्थ बतलाती है और विरोधाभासों को खोलती है।

मार्क्सवाद के विस्तार के नाम पर संरचनावादी आलोचकों ने मूलतः एक भिन्न तरह का रूपवादी चिन्तन प्रस्तुत किया। इन आलोचकों ने एफ० सासुरे से प्रेरणा ली, जिसका यह अवदान स्वीकार किया जा सकता है कि भाषा का कालातीत के स्थान पर कालबद्ध अध्ययन होना चाहिए। किन्तु उसका यह कहना सर्वथा गलत और पूंजीवादी समाजव्यवस्था की पक्षधरता का सबूत है कि भाषा अराजक संकेतों का ही एक ढांचा है। भाषा के संकेत उसी घड़ी अराजक बनते हैं, जब समाज में अराजकता और विचारहीनता की स्थिति मजबूत होती है, जो भाषा को अराजक बनाती है और सघर्षशील मनुष्यता की तरफ से इसका अवधारणापरक इस्तेमाल समर्थ तरीके से होने नहीं देती—इसके प्रतीकात्मक ऊँचाई पर पहुँचने में बाधा उपस्थित करती है। अराजक संकेतवादी भाषा-सिद्धांत से व्यर्थता के साहित्य को बल मिलता है। दूसरी ओर क्लाड लेवी स्ट्रास ने मिथक के सिर्फ साहित्यिक अर्थ की ही उपेक्षा नहीं की, बल्कि मिथक में कोई अर्थ ही नहीं माना। मिथक खास तरह से कहे गये शब्दों के गुच्छे भरहै—इस सिद्धांत से मिथक के विकासशील सामाजिक स्वरूप की पहचान पीछे छूट जाती है।

मिथक के सरचनात्मक विश्लेषण की सबसे बड़ी कमजोरी है कि इसकी संरचना को स्थिर रूप में देखा जाता है, इसका तालमेल सामाजिक यथार्थ के विकास से स्थापित नहीं किया जाता। सबसे पहले स्ट्रास मिथक के विभिन्न पाठांतरों से स्पष्ट समानताओं का चयन करने और विभिन्न कथनों का गुच्छा तैयार करने का निर्देश देते हैं। इन गुच्छों का संरचनात्मक विश्लेषण करने पर अवधारणात्मक योजना के अन्तर्गत 'विरुद्धों के युग्म' मिलते हैं, मसलन जीवन-मृत्यु, पुरुष-स्त्री, पितृसत्ता-मातृसत्ता, शांति-युद्ध इत्यादि। इस तरह के युग्म जगतोत्पत्ति, सामाजिक अथवा आर्थिक वस्तुओं किसी से भी सन्दर्भित रह सकते हैं। इन युग्मों के भीतर से अवधारणात्मक संयोजनाओं को रेखाचित्र के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है, फिर इनकी संरचना का अर्थ खोला जा सकता है। इस विश्लेषण-पद्धति की यांत्रिकता बहुत स्पष्ट है। मिथकीय घटनाओं के बन्डल को कुछ शब्दों अथवा वाक्यों में निर्धारित करके इसका संरचनावादी विश्लेषण

करना अन्ततः मस्तिष्क की पूँजी के रूप में मिथकों के एकपक्षीय मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन की खिड़की खोलता है। यह विश्लेषण पद्धति मिथक के सामान्य मूलभूत स्वरूप की तलाश के चक्कर में ऐतिहासिक आयाम खो देती है।

मनुष्य अपने मिथकों के बारे में क्या और कैसे सोचता है, अथवा विकासशील समाज इन्हें कैसे प्रभावित करता है—यह न बतला कर क्लाड लेवी स्ट्रास का संरचनावाद यह निरूपित करता है कि स्वयं मिथक मनुष्य में, बिना उसकी जानकारी के, कैसे काम करते हैं। मिथक को भाषा की एक खास तरह की संरचना माना भी जाय, तो इसका अपने आपमें कोई गुणात्मक मूल्य नहीं होता। विरुद्धों का युग्म राम-रावण का हो, दुर्गा-महिषासुर का अथवा कौरव-पांडवों का इनके कार्यों का विशिष्ट स्वरूप हो सकता है, जो सामान्य जीवन से भिन्न भी प्रतीत हो सकता है; किंतु इन युग्मों का अपना सामाजिक-राजनैतिक आधार होता है और इस आधार से जुड़ कर वे अपना अर्थ हासिल करते हैं। मिथक की संरचना का सामाजिक यथार्थ से निरपेक्ष कोई अर्थ नहीं होता। मानव जीवन की धारा में अन्तर्प्रवाहित होकर यह अपनी मूल्यपद्धति विकसित करती है। इस धारा में मिथकों के काफी हिस्से टूट कर खो जाते हैं और कई नये हिस्से जुड़ते हैं। अतः मिथक के बारे में दो बातें ध्यान में रखनी जरूरी हैं-(एक) ये अपने सामाजिक स्वरूप में विकासशील होते हैं; (दो) समाज की दोनों श्रेणियाँ इनका इस्तेमाल अपनी-अपनी तरह से करती हैं। इसलिए एक मिथक के कई अर्थ हो जाते हैं। कोई एक समूह किसी मिथक का दूसरे समूह द्वारा किया गया अर्थान्तर सुनकर उत्तेजित हो जाता है। मिथक की व्याख्याओं में अर्थों का यह द्वन्द्व अन्ततः सामाजिक मूल्यों के अन्तर्द्वन्द्व में परिवर्तित हो जाता है।

मिथक के भाषिक रूप का आद्य व्यवहारविषयक विश्लेषण जन आचरण के संदर्भ में होता है। फ्रेजर और मालिनोवस्की से क्लाइड क्लुखोन तक ने इस दिशा में काम किया है। उन्होंने बतलाया है कि मानव जीवन में परंपरागत धार्मिक विधि-निषेधों और आदिम विश्वासों की भूमिका क्या है। अगर संस्कारों का प्रभाव व्यवहार पर पड़ता है, तो मिथक का पर्व-त्यौहार, विवाह-जन्म-मृत्यु-संस्कार जैसी ढेरों सामाजिक संस्थाओं पर कब्जा बना रहता है। मिथकीय चेतना से अनुप्राणित आधुनिक मनुष्य अपने को इतिहास से तोड़ नहीं पाता। वह प्रौद्योगिकी से उत्पन्न कर्मकाण्ड की ओर बढ़ता है, पर अपनी चेतना पर राष्ट्रीय संस्कृति का दबाव हमेशा महसूस करता रहता है। वह सामान्यतया मिथक के भीतर कार्यरत परिवर्तनकारी विचारों का आकलन अपने व्यवहार

में नहीं कर पाता। रूढ़ियों से बंधे रहने में ही आत्मसुरक्षा का अहसास करता है। आधुनिक मनुष्य के व्यवहार में बहुत-से आदिम और मध्यकालीन रूप जिंदा हैं, बढ़ती हुई टेक्नोलाजी भी इन्हें मिटा नहीं पा रही, कहीं-कहीं नवीकरण अवश्य कर दे रही है। जनता के आद्यव्यवहारों की समग्र पद्धति का विश्लेषण करके ईश्वर और यन्त्र द्वारा सम्मिलित रूप से प्रस्तुत अन्तर्विरोधों का पता लगाया जा सकता है और सामाजिक चेतना के विकास के परिप्रेक्ष्य में इन अन्तर्विरोधों को ऐतिहासिक स्थिति का विवेचन भी हो सकता है। आज भी समाज के लोग विधियों, रीतियों, निषेधों को मानते हैं और जीवन में नाटकीय ढंग से दुहराते हैं, क्योंकि ये मिथकीय काल से चले आ रहे हैं। मानव मस्तिष्क में विज्ञान के साथ-साथ मिथक की सत्ता दीर्घकाल से स्थापित है। एक आधुनिक आलोचक रालँड बार्थ स 'माइथोलॉजिज' नामक पुस्तक में खेलकूद, फिल्म, राजपत्र, नारे, चुनाव, विज्ञापन और शहरी पत्रकारिता—इन सबमें मिथकीय तत्त्वों की उपस्थिति स्वीकार करता है। आद्यरूपीय समाज से औद्योगिक समाज तक की ऐतिहासिक यात्रा में मनुष्य अपने व्यवहार को मौलिक रूप से कितना वैज्ञानिक कर पाया है और यह कितना अभी भी मिथकीय है, इसका विश्लेषण जरूरी है। कुछ अन्य सवाल भी हैं। आधुनिक मनुष्य की आदिम और मध्यकालीन व्यवहारपद्धति जीवन के प्रगतिशील सिद्धांतों को रोकने में कैसी भूमिका निभा रही है? क्या आद्यव्यवहार पद्धति का कोई परिवर्तनकारी पक्ष भी है, जिसका संरक्षण जरूरी है? सिद्धांतों में जितनी तेजी से विकास होता है, जन व्यवहार में उतनी तीव्रता से बदलाव क्यों नहीं आता? क्या ऐसा मिथकीय चेतना की वजह से होता है? इन सवालों के जवाब हमें ढूंढने होंगे, क्योंकि आधुनिक विज्ञान समूचे मिथक का कदापि विरोधी नहीं होता—ऐसा होना इतिहास और राष्ट्रीय सस्कृति का विरोधी होना है।

साहित्य के क्षेत्र में मिथक को नये-नये ढंग से विश्लेषित किया गया है। पश्चिमी नव्य समीक्षा में मिथक का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रहा। इसे कथावस्तु अथवा काव्यात्मक आद्यबिंब के रूप में विश्लेषित किया गया अथवा साहित्यिक रूपों में मिथकीय गुण ढूंढा गया। रोमांटिक युग ने मिथकों का पुनरुद्धार कर दिया था, पर आधुनिकतावादियों ने मिथकों को नव-मानवतावाद के स्तर पर स्वीकार किया। नार्थ्र प फ्राइ ने मिथक को साहित्यिक स्वरूप के संरचनात्मक गठन के एक सिद्धांत के रूप में विश्लेषित करके इसका सम्बन्ध आद्यरूप से जोड़ा। पश्चिमी साहित्य जगत में इसका दो आधारों पर

विकास किया गया—मनोविश्लेषणात्मक और सौंदर्यबोधात्मक। रिचर्ड चेज का कहना है कि सृजनात्मक साहित्य में रुचि स्वभावतः मिथक में भी रुचि पैदा करती है। चेज ने मिथक को कभी रूपककथा और कभी काव्यबिंब के रूप में देखा। यह कल्पना की जमीन के रूप भी विश्लेषित हुआ।

हिन्दी के बहुत-से आधुनिक कवि-उपन्यासकार अपनी आत्मवादी दृष्टि के कारण विशुद्ध मनोविश्लेषणवादी हो जाते, अगर उन्होंने मिथकों का इस्तेमाल नहीं किया होता। मिथक की लोकभूमि ने उन्हें मानवतावादी बनाया। इन कवियों ने रूढियों को त्याग कर मिथक के व्यापक संकेतों को अवधारणात्मक स्तर तक पहुँचाने की चेष्टा की। इस समूची प्रक्रिया में परंपरा से प्रस्थान दो स्तरों पर झलका—(एक) सामान्य मिथकीय संकेत, (दो) समग्र मिथकीय कथा। पुराने मिथकशास्त्र के भीतर से नये मिथक बने। इनका पुनर्लाक्षणिकीकरण हुआ। एक साहित्यिक प्लाट के रूप में इनका कितना अधिक उपयोग हुआ, यह हम इसी तथ्य से समझ सकते हैं कि अभी हाल के मुक्तिबोध तक हिन्दी कविता की सशक्ततम अभिव्यक्तियां मिथकों के माध्यम से हुईं। उपन्यास और नाटक में भी कम प्रयोग नहीं हुए। प्राचीन कवि अपनी सृजनात्मक कल्पना के माध्यम से लम्बी जटिल कथाओं की रचना करते थे। आधुनिक लेखकों ने मिथकों में आधुनिक मूल्यारोपण करके उन्हें समकालीन जीवनधारा से नये स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न किया और अपने सार्थक अतीत के साथ एक मुक्त सरोकार बनाया।

उपर्युक्त वजहों से मिथक साहित्यिक आलोचना का एक प्रमुख आधार बन गया है। यह कहना गलत होगा कि आधुनिक यथार्थवादी साहित्य में मिथकों का प्रयोग कम हो गया है अथवा जनवादी कथ्य के लिए ये वस्तुतः फांसी के तख्त बन गये हैं। बल्कि अपने जातीय ढांचे के कारण ये क्रांतिकारी स्तर पर अधिकाधिक प्रासंगिक बनते जा रहे हैं। आधुनिक यथार्थवादी साहित्य के मिथक की संरचना में अतिनाटकीयता, घटनाओं की श्रृङ्खलाबद्धता एवं भाववादी संरूपण नहीं मिलता। लोकविश्वासों का आधुनिक स्तर राजनीतिक हो गया है। अतः मिथक भी अब धार्मिक चेतना के स्थान पर राजनीतिक चेतना पर आधारित हैं। इनमें परम्परागत रूढ़ियों का कोई स्थान नहीं है। मिथकों को मनोबिंबात्मक बनाने के स्थान पर इन्हें वस्तुजगत से जोड़ा जा रहा है, ताकि अवाम की पीड़ा और लड़ाई इनके जातीय-सांस्कृतिक स्वरूप में प्रकट हो सके। जीवन की आलोचना करने और अवाम को जनवादी अन्तर्वस्तु से परिचित कराने में ये जितने साधक हैं, उतनी ही इनकी

सार्थकता है । आधुनिकतावादियों ने विषयवस्तु का महत्व गिरा दिया था। यथार्थवादी लेखन में इसका महत्व फिर स्थापित हुआ है । इसके साथ सम-कालीन भाषिक संरचना में मिथकीय तत्वों का आधुनिक प्रयोग हो रहा है । इनकी जरूरत नये-नये रूपों में उभर कर आ रही है । फलस्वरूप अब आधुनिक जनता के मिथकों के सृजनात्मक विकास और विश्लेषण का वस्तुवादी धरातल भी फूट रहा है । मिथक और भाषा के बीच नये प्रकार का सम्बन्ध बन रहा है ।